

उद्योग और प्रगति ।

सुधारणा और प्रगति.



अनुवादक,
श्री सुरजमल जैन.



प्रकाशक,
श्री राजपूताना हिन्दी साहित्य-समाज
झाबरापाटन/गहर.



प्रथमावृत्तिः
१०००



१९७९ विक्रम.



मूल्य
सजिल्द ३।
सावी २।।

प्रिंटर—एम. एन. कुळकर्णी कर्नाटक प्रेस, ४३४ ठाकुरद्वार, मुंबई
प्रकाशक—वाणिज्यमूषण लालचंद सेठी, सेक्रेटरी, राजपुराना हिन्दी
साहित्य समा, झालरापाटन.

श्री.
विज्ञप्ति.

अपने देशी साहित्यकी अभिवृद्धि करनेके सद्बुद्देशसे पतितपावन श्रीमंत महाराजासाहब श्रीसयाजीराव गायकवाड सेनासासबेल समक्षेर महादुर, जी. सी. एस. आई., जी. सी. आई. ई. ने कृपा कर दो लाख रुपए की रकम सुरक्षित रखी है उसके ब्याजमेसे “श्री सयाजी साहित्यमाला” के रूपमें विविध विषय विभूषित ग्रन्थ तय्यार किए जाते हैं,

यह पुस्तक “सुधारणा व प्रगति” नामक मराठी पुस्तकका जो श्री सयाजी साहित्यमालाके १५ वें पुष्प रूपमें प्रकाशित हुई है हिन्दी अनुवाद है। जिसे हमारी आज्ञानुसार श्रीयुक्त सूरजमल जैनने किया है।

बिद्याधिकारी,
भापातर शाखा,
बडोदा.
१०. ६. २२.

मा. नि. मेहता.
मा. मा.

नन्दनाथ केदारनाथ दीक्षित,
बिद्याधिकारी,
बडोदा राज्य.

अनुवादकका वक्तव्य ।



हिन्दी साहित्य क्षेत्रमें एक ऐसा प्रथम अवतीर्ण हो रहा है जो विचारकों और विद्वानों के मनन करने योग्य है। यों तो आज कल हिन्दीमें अनेक ग्रंथ प्रकाशित हो रहे हैं पर उनमें ऐसे ग्रंथों की संख्या बहुत ही कम है जो अपना अस्तित्व और प्रभाव स्थायी रखने में समर्थ हों। मेरी समझसे यह ग्रन्थ अत्यन्त सख्यावाले ग्रन्थोंमेंसे एक होगा। यद्यपि यह ग्रन्थ अनुवादित है, परन्तु अपने गंभीर और भाषायी विचारोंके कारण सुखे आशा है कि हिन्दी साहित्यमें इसका स्थान और आदर उच्च प्रतिका ही होगा। इसके रचयिताने जिन विचारोंको अपनी प्रतिभा धारी बुद्धि द्वारा इसमें संकलित किया है, उनपर आज बहुत कुछ ऊहापोह होनेकी आवश्यकता है। क्योंकि जिस सुधार और उन्नतिके लिये आज संसारभरमें आवाज उठ रही है, मनुष्यसमाज जिसके लिये दौड़ लगा रही है और जिस पर सुधारकों, समाजसेवियों, देशभक्तों, धर्म-प्रचारकोंमें वादानुवाद और तू तू मैं मैं चल रही है, उसी विषयका इस ग्रन्थमें शास्त्रीय रीतिसे विशद ववेचन किया गया है। अतएव जो महाशय देश, धर्म समाज, जाति आदिकी उन्नतिके लिये प्रयत्न कर रहे हैं, अथवा विचार कर रहे हों वे यदि सबसे पहले इस ग्रन्थको पढ़कर अपनी दिक्षा निश्चित करेंगे तो मेरी समझसे उन्हें अपने कर्ममें बहुत कुछ यश प्राप्त होगा।

मूल ग्रन्थकार एक पाश्चात्य विद्वान् हैं। इनका विशेष परिचय 'विषय—परिचय' शीर्षक प्रारम्भिक वक्तव्यमें आगे दिया गया है। मूल ग्रन्थका अनुवाद मराठीमें हुआ है। अनुवादक है श्रीयुक्त दाजी नागेश आपटे बी ए. एल. एल. बी. बकील। आप बकोदा निवासी हैं। मराठी अनुवादको बकोदा महाराजकी अनुकरणीय उधारतासे स्थापित श्रीसयाजीसाहित्यमालाने प्रकाशित किया है। मराठीके अनुवादक महाशयने आगेके 'विषय-परिचय'में बतलाया है कि उन्होंने मूल ग्रन्थके भावोंमें कुछ भी परिवर्तन नहीं किया है। केवल प्रकरणोंमें कुछ अधिकता कर दी है और कुछ उनके संकलनमें परिवर्तन कर दिया है। अधिकता जो की है वह भी मूल ग्रन्थके भावोंको अधिक स्पष्ट और पुष्ट

करनेके लिये ही की गई है। अथपि मराठी ग्रन्थकार महाशयने विषय-परिचय में लिखा है कि 'कोशीयर (मूल ग्रन्थकार) अपनी विचारसरणीको पूर्ण मानता है तो भी कितनेही स्थानोंपर मतभेद हो सकता है।' साथमे जिन जिन बातोंमे मतभेद हो सकता है उनमेंसे कुछ बातोंका नाम मात्र उल्लेख भी आपने किया है, परन्तु वह मतभेद क्या है? अजुवादक महाशयका उन मतभेदसे सम्बन्ध रखनेवाली बातोंपर क्या मत है इसका कहीं भी उल्लेख नहीं है। अच्छा होता यदि पृथक् रूपसे वह मतभेद दे दिया जाता। क्योंकि उससे पाठकोंको विचार-करनेकी कुछ और अधिक सामग्री प्राप्त हो जाती।

प्रस्तुत पुस्तक उक्त मराठी अजुवादका अजुवाद है। अजुवाद कैसा हुआ है यह कहनेका मुझे अधिकार नहीं। हाँ मैं यह कह सकता हूँ कि ग्रंथका विषय जैसा कि पाठक स्वयंभी अनुभव करेंगे बहुत कठिन और गंभीर है। ऐसे कठिन विषयको प्रयत्न करने परभी मैं अधिक सरल न कर सका। अतः मायामें कुछ-कुछ कठिन शब्दोंका प्रयोग हो गया है। आशा है कि पाठकगण इसके लिये मुझे क्षमा करेंगे।

मैं अपने लिये यह गौरवकी बात समझता हूँ कि मेरे द्वारा एक ऐसे ग्रंथका अजुवाद हुआ जो विचारकों और विद्वानोंके आदर के योग्य है। और इसके लिए मैं श्रीमान प. गिरिधर शर्माजी नवरत्न शालरापाठनका कृतज्ञ हूँ जिन्होंने इस ग्रन्थका अजुवाद करनेका मुझे परामर्श दिया। साथ ही मैं श्री राजपूताना हिन्दी साहित्यसभा शालरापाठनका भी आभारी हूँ जो इस ग्रंथको प्रकाशित कर रही है।

मैं यहाँ यह बतला देना उचित समझता हूँ कि मराठी अजुवादके समान मेरा भी इस ग्रंथके कुछ विचारोंसे बहुत थोड़ा मत भेद है और उस मत भेदको मैं अपने इस वक्तव्यमे इसलिये प्रगट कर देना उचित समझता हूँ कि उससे पाठकोंको विचार करनेमें कुछ सहायता प्राप्त होगी।

(१) बर्षी शुक्ति—अयुक्तिसे यह सिद्ध किया गया है कि सृष्टिका कारण कोई अवश्य है। जिसे कोई सृष्टि, कोई प्रकृति और कोई अज्ञात शक्ति मानते हैं। ग्रंथकार इसका ईश्वरके नामसे उल्लेख करता है। हम सृष्टि या प्रकृति और ईश्वर सबको मानते हैं पर इन्हें आदि कारण नहीं मानते। आदिकारणसे प्रथमकारका यह प्रयोजन है कि सृष्टिके प्रारम्भमें कोई शक्ति थी जिसकी इच्छाके कारण सृष्टिका निर्माण हुआ। हमारा मत है कि तर्ककी दृष्टिसे यह मानना ठीक

नहीं। क्योंकि जब कोई वस्तु विनाकारणके उत्पन्न नहीं हो सकती यह सिद्धान्त मान लेते हो तब आदिकारणकी स्वतः उत्पन्न या अनादि मानना अपने सिद्धान्त और नियमका घात करना है। ससारमें सबसे बड़ी, सबसे अनुठी सबसे अधिक शक्तिवाली (जिसे प्रथमकार 'ईश्वर'के नामसे उल्लेख करता है) वस्तु अनादि हो सकती है तब उससे कम शक्ति रखनेवाली वस्तुओंको ही विनाकारणके उत्पन्न हुए माननेमें क्या हानि होती है? जिस रास्तेसे हाथी, मोटर, रेल, द्रूम आदि जा सकते हों उसपरसे एक डुबका पतला मनुष्य नहीं जा सकेगा उसके लिये वह रास्ता सरुका या छोटा पडेगा यह माना नहीं जा सकता।

(२) एक युक्तिमें ईश्वरको कारण माना या दूसरी युक्तिद्वारा यह सिद्ध किया गया है कि "कर्तृकारण, उपादान कारण और निमित्त कारण इन तीन कारणोंमेंसे ईश्वर सृष्टिको कर्तृकारण है। उपादान कारण तो वह इस लिये नहीं है कि सृष्टि जब और चैतन्यरूप दो भेदोंसे युक्त है। यदि ईश्वर उपादान कारण होता तो सम्पूर्ण सृष्टि चैतन्यही होती क्योंकि ईश्वर स्वयं चैतन्य है और उपादान कारण जैसा होता है वैसाही कार्य होता है। अतः ईश्वर उपादान कारण नहीं। और न निमित्तकारणही है। क्योंकि निमित्तकारण आवश्यक नहीं होता। बड़े बनानेके लिये मिट्टीकी आवश्यकता होती है और मिट्टी खानेके लिये गाड़ीकी। पर यदि गाड़ी न हो तो भी काम चल सकता है। दूसरे साधनोंसे भी मिट्टी इकट्ठी की जा सकती है। अतः ऐसा अनावश्यक कारण भी ईश्वर नहीं हो सकता। तब क्या हो सकता है? हो सकता है, कर्तृकारण। क्योंकि उसने अपनी इच्छामात्रसे सृष्टिकी रचना की है।" ईश्वरके सम्बन्धमें यह युक्ति भी अधिक महत्त्व नहीं रखती। पहले तो जब आदिकारणही ईश्वर नहीं माना जा सकता जैसा कि ऊपर सिद्धकर चुके हैं तो फिर वह कौनसा कारण है इसके ऊहापोहकी आवश्यकताही नहीं रहती। दूसरे कर्तृकारण कोई कारण नहीं है। इसकी विन्ती निमित्तकारणमें ही हो सकती है। जिस प्रकार क्या बनानेवाला कुम्हार उसकी इच्छाके सहितही निमित्त कारण माना जा सकता है उसी प्रकार ईश्वर भी अपनी सृष्टि बनानेकी इच्छाके सहित सृष्टिका निमित्त कारण माना जाना चाहिए। और ईश्वरके निमित्त कारण माननेसे बाधा आती है जिसे प्रथमकारण मान चुके हैं और जिसके भयसे उन्हें या उनके समान अन्य विद्वानोंको कर्तृकारण नामक एक तीसरे कारणकी सृष्टि करना पड़ी है। वास्तवमें कारण दोही हैं। उपादान और निमित्त। प्रथमकारणने यह सिद्ध कर दिया है कि

ईश्वर इन दोनोंमेंसे एक भी प्रकारका कारण नहीं हो सकता । इसके सम्बन्धमें उनकी युक्तियों इस प्रकार हैं —

यदि उसे निमित्तकारण मानलेंगे तो उसकी अपरिहार्य आवश्यकता न रहेगी । और उसके बिना भी काम चल सकेगा । घटा बनानेके लिये एकाध गाधीमें मिट्टी छानेसे उस गाधीकी चिन्ती निमित्त कारणमें हो सकती है परंतु गाधी नहीं हो तो भी काम चल सकता है । अतएव परमेश्वर इस प्रकारका कारण नहीं होसकता । यदि उपादान मानें तो मिट्टीके स्वभावानुरूपही घटा तैयार होता है उसी प्रकार परमेश्वरके शुभ समान ही सम्पूर्ण जगत् चैतन्य भव होना चाहिए । क्यों कि उपादान कारण जिस प्रकारका होता है उसी प्रकारकी वस्तु उससे बनती है । (पृ १६०-१६१)

अब इन दोनों कारणोंसे कार्य नहीं बला तब प्रयत्न और उनसे सहमत होनेवालोंके कर्तृकारणकी सृष्टि की । कर्तृकारणकी आवश्यकताके सम्बन्धमें आपका मत है कि 'जगतमें जड़ और चैतन्य दोनों प्रकारके पदार्थ होनेसे तथा उनके लिये किसी कर्ता विशेषकी आवश्यकता होनेसे कर्तृकारणकी जरूरत होती है । इसप्रकार कारण हूँदते हूँदते अंतिम कारणतक पहुँचना पड़ता है । और सबसे प्राचीन, सबके आदिस्वरूप एक दूसरे कारणकी अपेक्षा न रखनेवाले कारणकी चिन्तना करनेमें दूसरे एकाध नहीं कारणका मानना ठीक नहीं हो सकता । अतएव अतका कर्तृकारण परमेश्वर ही होना चाहिये, यह सिद्धान्त तर्कशास्त्रके अयुक्तसिद्धिके मार्गसे निकलता है ।' (१६१) इस युक्तिमें जो यह गृहीत किया गया है कि जगतके पदार्थोंके लिये किसी कर्ताकी आवश्यकता है सो इस प्रकारका सिद्धान्त गृहीत करना ही भूल है । क्योंकि पृथ, मनवेदि, जीवजन्तु आदि बिना किसी कर्ताके उत्पन्न हुए देते जाते हैं । अतएव यह कोई नियम नहीं कि जगतकी अदिख वस्तुओंके लिये कर्ताकी आवश्यकताही हो । और यदि यही बात है तो फिर जैसा कि ऊपर कह चुके हैं कर्ताके कर्ता की भी आवश्यकता मानना पड़ेगी और न्यायशास्त्रके अनुसार अनवस्थादोषका सामना भी करना होगा । क्योंकि नियम सबके लिये सामान होता है । वह यह नहीं देखता कि मेरा धामन किस पर बलाया जाय । चाहे ईश्वर हो चाहे तुच्छ कीट । सृष्टिका नियम सबके लिये समान है और सृष्टिकी स्थिरताके लिये उसका समान होनाही आवश्यक है ।

कर्तृकारणकी आवश्यकतामें घतलाया गया है कि कर्ताकी इच्छाके बिना किसी कार्यको मूर्त स्वरूप प्राप्त नहीं हो सकता। उदाहरण दिये गये हैं कि सतान जो उत्पन्न होती है उसमें माता पिता यद्यपि कारणरूप हैं पर लकड़के या लकड़ीही क्यों होती है। उत्तर केवल निमित्त आदि कारण मानलेनेसे नहीं प्राप्त हो सकता। इसके लिये मातापिताकी तीव्र इच्छारूप कर्तृकारण मानना पड़ेगा। दूसरा उदाहरण यह दिया गया है कि एक सुतार लकड़ीके टुकड़ेसे पेटी बनाता है। यद्यपि लकड़ी, लोहेके खीले आदिके द्वारा पेटी तो बन गयी, पर पेटीही क्यों बनी दूसरी वस्तु क्यों नहीं बनी इसका उत्तर क्या? इसका उत्तर वही उसकी इच्छा जो कि वस्तु बनानेमें कर्तृकारणरूप है। लेखकने इस युक्ति-प्रणालीसे यह सिद्ध किया है कि वस्तु निर्माणमें इच्छाशक्ति भी एक कारण है। और जब कि छोटी छोटी वस्तुओंके लिये इच्छाशक्तिकी आवश्यकता होती है तब सृष्टि जैसे महत्कार्यके लिये ईश्वरकी विशाल इच्छाशक्तिको कारण माने न बिना काम नहीं चल सकता। पर लेखक यह भूलता है कि मनुष्य प्राणी इच्छा कुछ करता है और कार्य कुछ निष्पन्न होता है। लकड़के लिये तीव्र इच्छा रखनेवाले मातापिताके यहाँ लकड़ियाँ पैदा होती हैं और कुर्सी बनानेकी इच्छा रखनेवालेको लालाचार होकर (परिस्थिति, दबाव, आवश्यकताके कारण) पेटी बनाना पबती है। इस प्रकारके उदाहरण एक दो नहीं असंख्य हैं। फिर मानवीय कृतियोंके उदाहरणसे अखिल सृष्टिके लिये नियम कैसे बनाये जा सकते हैं? इसके सिवाय एक प्रश्न यह भी उत्पन्न होता है कि 'जब कि आप कहते हैं कि असुकरकार्य होनेमें उसके कर्ताकी इच्छा प्रभाव है। तो हम पूछते हैं कि उस कर्तामें वही कार्य करनेकी क्यों हुई? दूसरा कार्य करनेकी क्यों नहीं हुई? इसका क्या कारण। उदाहरणार्थ एक सुतारने पेटी बनाई। आप कहते हैं कि सुतारके पाम जो सामिग्री थी उससे तो चारपाई भी बन सकती थी फिर पेटीरूप कार्य ही क्यों हुआ? इसका आपही उत्तर देते हैं कि उसमें कर्ताकी—सुतारकी—इच्छा प्रधान है। पर हम यह पूछते हैं कि उसमें पेटी बनाने ही की इच्छा क्यों हुई? चारपाई कुर्सी या अन्य वस्तु जो उस सामिग्रीसे बन सकती थी, बनानेकी इच्छा उसे क्यों नहीं हुई? यदि कहा जाय कि इच्छा करनेमें वह स्वामीन है तो फिर 'कारणके बिना कार्य नहीं होता' यह सिद्धान्त असत्य ठहरता है। अत इच्छारूपी कार्यके लिये कोई कारण अवश्य होना ही चाहिए। और जब इच्छा होनेमें भी कोई कारण है तो फिर इच्छाकोही वस्तु निर्माणका कर्तृकारण न मान कर उस कार-

णको मानना चाहिए जिससे इच्छा उत्पन्न हुई है। पर बात वहीं नहीं रहती उस इच्छा उत्पन्न करनेवाले कारणका भी कोई कारण होना चाहिए। इस प्रकार कारणकी परंपरा कभी नहीं टूटेगी और कर्तृकारणका गोरख भ्रष्टा कभी न सुलभ सकेगा। अतएव परमेश्वरको सृष्टिका कर्तृकारण मानना उचित नहीं है।

(३) प्रयत्नकारने परमेश्वरको सर्वव्यापी और प्राणियोंको अथवा जीवात्माको उसका अक्ष माना है। और इस सिद्धान्तको वह दर्शनशास्त्रका अन्तिम सिद्धान्त समझता है। पर हमारी सम्मतिसे परमेश्वर न तो सर्वव्यापी है और न जीवात्मा उसका अक्ष है। परमेश्वरके सर्वव्यापी होनेसे सृष्टिकी क्रिया अथवा गतिमें बाधा आवेगी। और उसे एक रूपमें मानना होगी। परंतु प्रत्यक्षमें यह देखा जाता है कि सृष्टिकी गति अनेक रूपसे और स्वतंत्रतापूर्वक होती है। एक तत्त्व एक ओर जाता है तो दूसरा तत्त्व दूसरी ओर और तीसरा तीसरी ओरका रास्ता नापता है। ऐसी अवस्थामें इन सब तत्त्वोंमें किसी एक पदार्थको व्याप्त मानना समझनीय नहीं दिखलाई पड़ता। इसी तरह परमात्माका जीवात्माको अक्ष मानना भी सयुक्तिक नहीं जँचता। यदि जीवात्मा परमात्माका अक्ष है तो उसे कर्मविक्रमोंके क्षणों और बन्धनोंसे बद्ध नहीं होना चाहिए। यह नहीं हो सकता कि पदार्थका एक अक्ष एक रूपमें हो और दूसरा दूसरे रूपमें। एक एक पदार्थ एकही रूपमें रहसकेगा। इसके सिवाय प्रयत्नकारके सिद्धान्तसे भी यह बात विरोधी दिखलाई पड़ती है। प्रयत्नकारने सृष्टारणका उद्देश्य पूर्ण वैय्यक्तिक—का-स्वातंत्र्य माना है। अब वैय्यक्तिक—स्वातंत्र्यही पूर्णतरकी सृष्टारण है तब परमात्माके रूपमें जीवात्मा रूप अक्षका बंधनोंकी नष्टकर समरस होजाना—वैय्यक्तिक स्वातंत्र्य नहीं कहलाया जासकता। वह तो वैय्यक्तिक—नाश है। वैय्यक्तिक—स्वातंत्र्य तो तभी होगा जबप्रत्येक जीवात्मा अपनी वैय्यक्तिकस्वाधीनता रखे हुए परमात्मा जैसे स्वरूपवाला हो सकेगी। अतएव जीवात्माकी परमात्माका अक्षमानना प्रयत्नकारके सिद्धान्तसे विरुद्ध है।

इस विवेचनसे यह तो सिद्ध हो गया कि हमारे मतसे ईश्वर है, सृष्टि है जीवात्मा है, लोक है और परलोक है परंतु ईश्वर और सृष्टि दोनों अनादि हैं। परमात्मा इनका कर्ता नहीं है और जीवात्मा परमात्माने स्वरूपैक्य है, परंतु जीवात्मा परमात्माका अक्ष नहीं है और न परमात्मा सर्वव्यापी है। और ऐसा माननेसे प्रयत्नकारने सृष्टारण और प्रगति सम्बन्धी उद्देश्य, प्रमाण, साम्य, मार्ग और सृष्टारणके नियामक तत्त्व तथा इन सबकी दृष्टिसे समाज-रचना, जनता-धर्म-

धर्म-साधन और राजकीय अनुशासनका जो वर्णन किया है उसमें कोई भाषा नहीं आती प्रस्तुत बलही प्राप्त होता है। क्योंकि परमात्माकी सृष्टिकर्ता न माननेसे प्रबंधकारने जो स्थान स्थान पर भौतिक शास्त्रवादियोंके इन प्रसोका कि सृष्टिके चमत्कार विज्ञानद्वारा हल होते जाते हैं और ज्यो ज्यो ये हल होते जाते हैं त्यों त्यों किसी अदृश्यशक्तिको उन सृष्टपदार्थोंका कर्ता मानने त्म विश्वास भीक्रम होता जाता है, उत्तर देनेका जो प्रयत्न किया है उस प्रयत्नकी आवश्यकताही नहीं रहेगी और सब सृष्ट पदार्थोंका अनादि निघनत्व तथा प्राकृतिक कर्तृत्व माननेसे काम चल जायगा। और फिर धर्मके नष्ट हो जानेका भी भय नहीं रहेगा। क्योंकि आज तो यह बात है कि यदि कालान्तरमें सम्पूर्ण सृष्टिके रहस्यका उद्घाटन हो गया फिर आदिकारणके माननेकी आवश्यकता ही नहीं रहेगी और आदिकारणका अगण्य नष्ट हो जानेपर प्रबंधकारके मतसे धर्मकी ऐसी कोई आवश्यकताही नहीं रहती। क्योंकि प्रबंधकार धर्मके उस आदिकारणको पहचाननेका ही एक जरिया समझता है। पर हमारी दृष्टिसे धर्म उस परमेश्वरको पहचाननेका साधन है जो जीवात्माका चरम लक्ष्य है। और भविष्यमें जिसके समान उसे होना है। अतएव आदिकारणके अगण्ये धर्मका पाया खोजला हो जाता है। तीसरे परमात्माका जीवात्माको अक्ष मान लेनेसे वैयक्तिक स्वातंत्र्यका घात होता है और उससे सुधारणके लक्षणमें भाषा आती है। इन सब दृष्टिबिंदुओंसे हमें यही ठीक ज्ञेयता है, जो ऊपर दिखलाया जा चुका है।

इनके सिवाय अन्य मतमेद बहुत छोटे और बहुत कम महत्त्वके हैं उनका उल्लेख करनेकी कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

* अन्तमें 'श्री सयाजी साहित्यमाला बडोदा'के संचालकोंका मैं आमारी हूं कि उन्होंने प्रबंधके अनुवाद करनेकी आज्ञा देनेकी उदारता प्रगट की है।

सूरजमल जैन,

(अनुवादक)

आवश्यक निवेदन ।



राजपूतानेकी इस एक मात्र हिन्दी साहित्य सभाको धीमान् शालावादनरेग की सरभतामे स्थापित हुये ६ वर्ष होगये । इसका प्रधान उद्देश्य है कि हिन्दीमें उच्च कोटिकी किन्तु आवश्यक पुस्तकें प्रकाशित कर स्वल्प मूल्यमे बेची जायें । इसी उद्देश्यको सामने रखकर अभीतक हमने जो पुस्तकें—प्रकाशित की हैं, उनकी प्रशंसा हम अपने मुँहसे नहीं करना चाहते । हिन्दी सभार स्वयम् उनकी उपयोगिता जानता है । अथ कमी है तो सिर्फ इसके प्रचार की । सभा चाहती है कि इसको कमसे कम ५०० स्थाई प्राहक मिल जावें । इसके लिये यह प्रयत्न भी कर रही है, और इसके इस प्रयत्नको राजपूताना निवासियोंको सफल बनाना चाहिये या, मगर धर्मकी बात है, अबतक इसे राजपूतानेके सिर्फ ४-५ स्थाई प्राहक मिले हैं । अफसोस ! इस समय तक सभामें स्थाई प्राहकोंकी संख्या ५० के लगभग है । इतने बड़े स्थाई प्राहकोंको लेकर हम कैसे आगे बढ़ सकते हैं, और कैसे “स्वल्प—साहित्य” का प्रचार कर सकते हैं ! अतएव हिन्दी रसिकोंसे हमारा साजुरीब निवेदन है कि वे ॥) प्रवेश फीके भेजकर इसके स्थाई प्राहक बन जावें । स्थाई प्राहकोंको पौने मूल्यमे पुस्तकें दी जाती हैं । अबसर अच्छा है । आपका घर उत्तमोत्तम पुस्तकोंसे सुशोभित होगा, और आप उनसे ज्ञान संपादन करके सुखी होंगे । हमें हिंदी प्रेमियोंसे आशा और दृढ विश्वास है कि उनके निरुद्ध हमारा यह नम्रनिवेदन कदापि काननकन्दन नहीं होगा । सभाका पूरा “पसं—” — मिलता है, आज ही काँट खिंचकर मगा लीजियेगा ।



विस्तृत अनुक्रमणिका.



प्रथम परिच्छेद—प्रमाण चिकित्सा ।

प्रकरण पहला—इतिहास ।

उपारणाके तत्त्व जाननेके प्रमाण की आवश्यकता—प्रमाण शब्दका अर्थ—इतिहास प्रमाण—इतिहासका उदाहरण इष्टिसे महत्त्व—गतकालका विहंगइष्टिसे अवलोकन—इतिहासवादके दो पक्ष—पहिला वर्णनात्मक, दूसरा विवेचनात्मक—दोनोंमेंही ज्येयकी सुननेकी सामर्थ्य नहीं है—ज्येय दो प्रकार के होते हैं, व्यक्तिके व समाजके—उत्कालीन परिस्थितिके ज्ञानकी आवश्यकता—नया विवेचनात्मक पक्ष परिस्थिति का पृथक्करण करके ऐतिहासिक सिद्धान्त स्थापित करता है—नहीं परिस्थितिके विशिष्टो वर्तमानकालका ज्ञान आवश्यक है—स्पेन्सरका उत्कान्तितत्त्व—इतिहासका मुख्य कार्य वर्तमानकालके सिद्धान्तोंके संबन्धमें उदाहरण उपस्थित करना है ।

प्रकरण दूसरा—आधिभौतिकशास्त्र ।

आधिभौतिक प्रमाणपक्ष—आक्षेपकथन—पंचभौतिक सृष्टि परका स्वासित्व ही सुधारणा है—इस विचारपद्धतिका इतिहास—टांड वेकन—मूयोदर्शनकी उपपत्ति—उत्कान्तिवाद—इस प्रमाणका परीक्षण—उससे मन, बुद्धिका खोज करने की अशक्यता—यह प्रमाण प्राणोंका उद्गम समझनेमें असमर्थ है—सर ओल्डिन्डर काजका मत—ल्युइसिग हुजेनेर—प्रकृतिके विषयमें एक नई कल्पना—ज्युटकी उपपत्ति—इस विषय पर आर्यविचारपरंपरा—सृष्टिकी घटना—परमाणु—आरंभवाद—परिणामवाद—विवर्तवाद—समारोप ।

प्रकरण तीसरा—अतिभौतिक प्रमाण ।

भौतिक प्रमाणकी परिमित शक्ति—अतिभौतिकका उद्गम—मानसशास्त्र—उसका शरीरशास्त्रसे संबन्ध—आधिशास्त्रका उद्गम—मस्तिष्ककी रचना—मानसशास्त्रकी कमी—उससे मनके कर्तृत्वकी दिशा समझमें नहीं आती—मन और मस्तिष्कका कार्यकारणसंबन्ध नहीं है—इससे नवीन उपपत्तिकी आवश्यकता

—कार्बिनल न्यूमन—तत्कालीन स्थिति—भौतिकशास्त्र व नमोद्वयका परस्पर
 द्वन्द्व—न्यूमनकी उपपत्ति— भौतिक जार्जोका—उसके मतसे सामर्थ्य—उसके
 'प्रमाण'—अत प्रमाण अथवा अत स्फूर्ति—उदाहरण—उसके प्रमाणका-
 परीक्षण—उसके प्रमाणके दो दोष—पहिला, छष्ट सिद्धान्तोंको केवल समावित
 बनाना व धार्मिक समझको पूर्ण निश्चित समझना भूल है—दूसरा, अत स्फूर्ति
 अर्थात् कुछ अनिर्वचनीय विकार है ऐसा मानना भूल है—सत्यप्रमाणकी
 आवश्यकता—

प्रकरण चौथा—सत्य—प्रमाण ।

सत्यप्रमाण अर्थात् मानवजातिके अन्त ऋणका सार्वद्वय आकलन—पूर्वके
 सब प्रमाणोंका मिलन—सुधारणाके विषयका अनेकविधरूप—उनके मिजा-
 नकी आवश्यकता—विद्युत प्रवाहकी उपमा—कॉटके मत व उसके दोष—
 कार्लोइलका मत व उस मतकी न्यूनताएँ—सर्वांगीन सत्कृतिकी कल्पनाके उदाहरण-
 कार्लोइल—गटे—बेकन—एमर्सन—कार्लोइल—भवभूति—निष्कर्ष ।

द्वितीय परिच्छेद—साध्यमीमांसा ।

प्रकरण पहिला—साध्यके लक्षण ।

व्यक्तिका उत्कर्ष व उसकी समानके बचनसे शुक्ति—सुधारणाका साध्य है—
 उदाहरण—छोटे बच्चे—शिया—रोमनकालकी कुटुम्ब व्यवस्था—गुलाम-
 गिरी—सामाजिक उन्नति—अनुशासन सम्बन्धी उन्नति—धार्मिक उन्नति—नैतिक
 उन्नति—तत्त्वज्ञान—निष्कर्ष ।

प्रकरण दूसरा—सुधारणाका मार्ग ।

व्यक्तिके स्वार्तन्त्र्यकी कल्पना—उसका अतिरिक्त—स्वतंत्रताका लक्षण—
 स्वतंत्रता स्वच्छंदता नहीं होती—व्यक्ति पर समाजका पबनेबाधा बचाव—
 व्यक्तिकी नीतिकल्पना—सामाजिक नीतिकल्पना—दोनोंका परस्पर संबन्ध—सिद्धा-
 चार—वमेकल्पना—व्यक्ति व समाज इन दोनोंका समतोल ही शाभावस्था
 है—सामाजिक नीतिकल्पनाओंके समूहसे नियंत्रण करते हुए व्यक्तिकी उन्नति
 करना ही सुधारणाका मार्ग है ।

प्रकरण तीसरा—नियामक तत्त्व ।

सुधारणाके मार्गकी कठिनाइयाँ—नियामक तत्त्व—उसके विषयमें दो
 मत—उपदेशवाद व परिस्थितिवाद—कार्लोइल व कॉट द्वारा किया हुआ पहिले

वादका प्रारम्भ—उनके मतका परीक्षण—परिस्थितिका महत्त्व व उसकी अनि-
वार्यता—उदाहरण—डॉर्ड मोल्केका मत—सिद्धान्त—परिस्थितिही नियामक
तत्त्व है ।

प्रकरण चौथा—परिस्थितिका समीकरण ।

परिस्थितिकी कठिनाइया दूर करनेका उपाय—समीकरण—सराजूका दृष्टान्त—
समतोलकी आवश्यकता—समीकरणकी प्रक्रिया—समीकरण समाजकी साम्या-
स्थिति है ।

तृतीय परिच्छेद—विषयविवेचन ।

प्रकरण पहिला—समाजरचना ।

सुधारणाके तत्त्वोंकी मानवी व्यवसायोंमें घटाते हुए परीक्षा—समाजरचना—
समाजशास्त्र—द्वय दोनोंका परस्पर संबंध—समाजशास्त्रकी विभक्ति—ऑगस्त-
कॉट—उसका ग्रन्थ 'Positive Philosophy'—(Humanity)
मानवसमाज अथवा जनताकी कल्पना—ईश्वरके स्थानमें जनताकी केंद्रद्वारा की
हुई स्थापना—केंद्रकी त्रैवर्गिक समाजरचना—पुरोहितवर्ग—व्यापारीवर्ग—
मजदूरवर्ग—हरएक वर्गको एक दूसरेसे अलग रखनेकी जरूरत—श्रिया—
केंद्रके मत पर विरुद्ध पक्षवालोंके दो आक्षेप—पहिला, केंद्र द्वारा मानी हुई
मानवजातिकी विषमता अस्वाभाविक व विघातक है । दूसरा, ऊपरकी समाज-
रचना समाज मान्य नहीं करेगा—ऊपरके दोनों आक्षेपोंके समाजशास्त्र द्वारा
दिये हुए उत्तर—काउट आर्थर व गोविन्दो—विषमता ही सृष्टिका बीज है—
मानवजातिका वर्गीकरण—भिन्न २ समाजोंके तत्त्वमेद—कोई भी दो समाजोंकी
संस्कृति सदा भिन्न रहती है—एक समाजमें सी जातिमेद कायम रहेगा—गिडि-
गुसका मत—हिन्दुस्थानका जातिमेद पद्धतिका परीक्षण—कर्ममेद कालसे उसका
अस्तित्व—उपनिषद्कालके उसके अस्तित्वके प्रदर्शक कुछ उद्धरण—सृष्टिकालके
प्रमाण—जातिमेदकी तत्कालीन स्थितिस्थापकता—डॉ. हॉगका मत—पाश्चात्य
समाजविभक्तिकोंके इस पद्धतिके विषयमें मत व उनका परीक्षण—पहिला मत, यह
पद्धति अर्थात् ब्राह्मणोंकी जुबाई—नेस्कील्डका मत, जातिवर्षोंके मेदसे उत्पन्न
हुई—इन्वेन्सनका मत—सेनाटका मत, जातिमेद यह उभरत समाजका स्वाभाविक
परिणाम है—इस मत पर आक्षेप—रिस्लेकी उपपत्ति—भारतवर्षकी विशिष्ट तात्त्विक
विचारपद्धति—निष्कर्ष ।

प्रकरण दूसरा—जनताधर्म ।

जगतके अत्यन्त फैलावका वर्गीकरण—धर्मशास्त्रका अर्थ—उसके भिन्न भिन्न विवेचकों द्वारा किये हुए लक्षण—इत्यानुएक कंट, धर्म अर्थात् नीतिशास्त्र—फिलिस्ते, धर्मका विषय ज्ञान है—इलायत मेकर, छष्टिके आद्य तन्त्रपर अवलंबित रहना ही धर्म है—हेगेल, पूर्ण, स्वातन्त्र्यको ही धर्म कहते हैं—ऑगस्ट कंट, धर्म अर्थात् समाजसेवा—फोवर बेरु, स्वच्छ को धर्म कहते हैं—धर्मके उक्त सब लक्षणोंके जन्म रहीं हुई आद्यतन्त्रकी कल्पना—उसका लक्षण—कंटकी भीमासा—मानसशास्त्रका एक नियम—मनुष्य, अश्वेय दृष्टचमस्कारोंका कर्तृत्व देवताकी कल्पनाको देता है—कंटके मत से इस नियममें मूल है—उसके मतानुसार धर्मकल्पनाकी उत्क्रान्ति—धार्मिक चतुष्पदी—कंटके मतका संवन व उसके दोष—पहिला, भूमिका भ्रम; स्थूल और सूक्ष्मकी भिन्न भूमिका, दूसरा, जनतामें ईश्वरसम्बन्धी गुणोंका अभाव—तीसरा, जनता, कोई एकात्मक वस्तु नहीं है—प्रत्यक्ष प्रमाणवादकी अयथार्थता—अज्ञासे मानी हुई अप्रत्यक्ष वस्तुओंकी कल्पनाके उदाहरण—अस्ति पक्षमें परमेश्वरकी सिद्धि—कारणवाद—कर्तृवाद—स्वरूपवाद—इन पादोंकी पारस्परिक पोषकता—ईश्वर सम्बन्धी तत्त्वज्ञोंकी कल्पना—भूमिनी—विष्णु-पुराण ।

प्रकरण तीसरा—धर्मसाधन ।

धर्मसम्बन्धी तीन भिन्न भिन्न उपपत्तियों—अज्ञावाद, मेकसम्बुद्धर—सुद्धि-वाद, काइवनिदइ—भाषनावाद, टिंडाल—उत्क्रांतिवाद—धर्मकल्पनाओंकी दो तरफोंका आधार रहता है—पहिला प्रतिविंब तत्त्व, मनुष्यकी ईश्वर-विषयक कल्पनाएँ तत्कालीन परिस्थितिकी निर्दर्शक होती हैं—प्रतिविंब तत्त्वके तीन भाग देवोंकी संख्या, स्वरूप और उपास्य उपासक सम्बन्ध—उदाहरण—धर्मकल्पनाओंके आधारभूत बूझें तत्त्व—समीकरण तत्त्व—उत्क्रांतिवाद और समीकरणका परस्पर संबंध—समीकरणके उदाहरण—तत्त्वज्ञान—क्रिस्तीधर्म हिंदुधर्म—नैद कालीन मौलिक ठाळसा, अविनाशी वस्तुके कल्पनाकी आधार-कता—तत्त्वज्ञानकी चार सीढियाँ—संकोचता—समीपता, माध्यसंप्रदाय—सक-पता, रामानुज—सायुष्यता,—संकराचार्य—सुद्धधर्मका ऊपर से दिखलाई पड़ने-वाला अपवादत्व—उसका निराकरण—हीनवान व महावान पंच—धर्मके

कार्य—मानवी बुद्धिका समाधान—मानवीय मनोभावनाओंका समाधान—
नैतिक नियमोंकी शाश्वता—कर्ममार्गकी और प्रवृत्ति—धर्मकार्यके सम्बन्ध
में कुछ संकाएँ और उनका उत्तर ।

प्रकरण चौथा—राजकीय अनुशासन ।

प्रास्ताविक—राजकारणका दूसरे शास्त्रोंसे सम्बन्ध—मनुष्यकी समाज-
प्रियता—समाजको राष्ट्रत्व प्राप्त होनेमें आवश्यक षड् गुण—पहिछा, लोक-
संख्या—दूसरा, निश्चित भूमि—तीसरा उसमें बसनेवाले लोगोंका सामान्य
हितमूलक ऐक्य—चौथा शक्ति और शास्तात्म्य भेद और उसके निम्न निम्न
प्रकार—पाँचवाँ, राष्ट्रकी प्राणित्वता—छठवाँ, राष्ट्रका नैतिक स्त्रील—राजकीय
अनुशासनकी कल्पनाका हिन्दुस्थानमें अवस्थान्तर—वेदकालीन राजाकी कल्पना
बलसामर्थ्यपर अवलंबित थी—उदाहरण—स्मृतिकालमें उद्भूत अनुशासनके
प्रश्न और उसकी योजना—प्रजापालन ही सर्वश्रेष्ठ राजधर्म है—प्रजाको उस
समय सार्वभौमिक अनुशासनमें अधिकार न रहनेका अनुमान—पाश्चात्य राजकीय
कल्पनाका इतिहास—ग्रीस और रोमके प्रजासत्ताक राज्य—इसके बादका मध्य-
युग—मेकिमाग्नेलीकी कल्पना, अनिर्बन्धित राजसत्ता—जीनबोर्दीकी उपपत्ति,
अभिजन सत्ता—मोक्षिस—राजकारण, प्रजाहितके अनुरोधसे करनेकी कल्प-
ना—होल्ज, राजकारण सम्बंधी प्रजाका कर्तृत्व और बिना धर्मके करारकी
कल्पना—डोक, सर्ववर्द्ध करारकी उपपत्ति—रूसी, राजाको प्रजाका नोकर
माननेकी कल्पना—मेनका लक्षण—निष्कर्ष ।

अभिजन सत्ताका स्वरूप व सबदृष्टिसे उसका स्वार्थ उद्देश—व्यक्ति और
संघकी नैतिक कल्पना सम्बंधी भेद—अभिजनसत्ताका समाज पर नैतिक और
सामाजिक स्थायी परिणाम—पहिछा, विषमताके तत्त्वका प्रसार—दूसरा, सार्व-
जनिक अज्ञान—तीसरा, आत्मिकी बुद्धि—इसकी लोकसत्तासे तुलना ।

लोकसत्ता—लोकसत्ताके सम्बन्धमें एक सूचना—इसके पूर्वकालीन इतिहासमें
मिलनेवाले रूप निर्वोच नहीं थे—उदाहरण—ग्रीसकी पद्धति—उसका दोष,
अल्प लोकसंख्या—रोमकी पद्धति—उसका दोष, गुलामीकी सत्ता—फ्रान्सकी
पद्धति उसका दोष, अधिकारोंका केन्द्रीकरण—लोकसत्ता पर राजकीय आक्षेप
—पहिछा, इसका पर्यवसान अत्याचारी राज्यपद्धतिके रूपमें होता है—उत्तर—
दूसरा, इस पद्धतिमें कुछ मनुष्यको बहुत अवकाश मिलता है—उत्तर तीसरा,
लोक सत्तामें पराक्रमी शास्ताके अभावसे राष्ट्र हीनस्थितिको प्राप्त होता है

उत्तर—चोपा, इसमें गुडे कोगोंकी बन आती है—लोकसत्ता पर अर्थशास्त्र सम्बन्धी आक्षेप—इस परदृष्टिसे कालांतरमें समाजमें संपत्तिकी विषम बँटनी होती है—उत्तर—लोकसत्ता पर नीतिशास्त्रकी दृष्टिसे दो आक्षेप—पहिला, इसमें बहुसंख्यक कोगोंका शुल्म होता है—उत्तर—दूसरा, समाजकी नीति दीनावस्थाको प्राप्त होती है—उत्तर—लोकसत्तापर सामाजिक दृष्टिसे दो आक्षेप—पहिला, इसमें विविधता नहीं होती—उत्तर—दूसरा, इसमें संस्कृति (Culture) नहीं होती—उत्तर—निष्कर्ष ।

चतुर्थ परिच्छेद—उपसंहार ।

प्रकरण पहिला—पूर्ववृत्त ।

संस्कृतिशास्त्रकी आवश्यकता की हुई विवेचकों द्वारा विभिन्ना और उसका परीक्षण—आगस्ट फैंट—इसका दोष, सुभ्रमवस्तुके शोषका अभाव—शिक्षाकी उपपत्ति—इसका दोष, इसने अपनी विभिन्नतामें तत्त्व विवेक नहीं किया—बकल—इसका दोष, इसने केवल आधिभौतिकको ही महत्त्व दिया—कार्ल—इसकी सीमासा—इसका वैगुण्य, इसने भौतिकशास्त्रको सर्वथा विचारा—हर्बर्ट स्पेन्सर—उत्क्रान्तिवाद—इसके दो दोष, इसकी विभिन्ना निरर्थक व्यापक हो गयी है—दुसरे, वह विभिन्ना केवल भूतदृष्टिको ही सम्बन्धमें है—हेगेलका सिद्धान्त—इस सिद्धान्तका वैगुण्य, इसने केवल विचारदृष्टिको ही प्राधान्य दिया है—संस्कृतिके सहाय विवेचनकी आवश्यकता—इस ग्रंथके द्वारा उन आवश्यकताकी पूर्तिका प्रयत्न ।

प्रकरण दूसरा—सुधारणाका अच्छल स्वरूप ।

सुधारणाके चार घटक अवयव—परिस्थिति, आधिभौतिकशास्त्र, धर्म और तत्त्वज्ञान—उनका स्वतंत्र स्वरूप वर्णन ।

प्रकरण तीसरा—सुधारणाका च्छल स्वरूप ।

अन्यप्रकरणमें बतलाये हुए चार घटकावयवोंकी परस्परमें एक दूसरे पर क्रिया प्रतिक्रिया—समानके अधिकृत भाग पर पहले तीन अवयवोंका परिणाम होता है और अधिकृत भाग पर चौथेका परिणाम होता है ।

प्रकरण चौथा—सिद्धावलोकन ।

इसमें तिन प्रश्नों और सुझावोंका क्रमशः वर्णन हुआ है उनका निर्देश और उनका संगति ।

ग्रंथकी संक्षिप्त अनुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ
अनुवादकका वक्तव्य	
विषय परिचय	१
प्रथम परिच्छेद—प्रमाणचिकित्सा ।	
प्रकरण पहिला—इतिहास	१
प्रकरण दूसरा—आधिभौतिक शास्त्र	२७
प्रकरण तीसरा—अतिभौतिक प्रमाण	४८
प्रकरण चौथा—सत्य—प्रमाण	६७
द्वितीय परिच्छेद—साध्यमीमांसा ।	
प्रकरण पहिला—सुधारणाका साध्य	७७
प्रकरण दूसरा—सुधारणाका मार्ग	८४
प्रकरण तीसरा—नियामक—तत्त्व.	९०
प्रकरण चौथा—परिस्थितिका समीकरण	१०२
तृतीय परिच्छेद—विषयविवेचन ।	
प्रकरण पहिला—समाजरचना	१०९
प्रकरण दूसरा—जनता धर्म	१४०
प्रकरण तीसरा—धर्म—साधन	१६५
प्रकरण चौथा—राजकीय—अनुशासन	१९४
चतुर्थ परिच्छेद—उपसंहार ।	
प्रकरण पहिला—पूर्ववृत्त	२५०
प्रकरण दूसरा—सुधारणाका अचल स्वरूप	
प्रकरण तीसरा—सुधारणाका चल स्वरूप	
प्रकरण चौथा—सिद्धावलोकन	

॥ श्री ॥

विषय परिचय ।



बाह्य विश्वके अस्तित्व और चेतन्यका मुख्य लक्षण गति है। इस गति शक्तिके कारण सम्पूर्ण विश्व निरंतर चल स्थितिमें रहता है। विश्व और गतिका संबंध अनेक होनेके कारण विश्वका चलन होना अपरिहार्य है। यह विश्व सजीव और निर्जीव, ऐसे दो प्रकारके पदार्थोंसे बना है। इन दोनोंमेंसे सजीव सृष्टि स्वप्रेरित और निर्जीव सृष्टि परप्रेरित—पर विकार्य होती है। सजीव सृष्टिमें मनुष्यप्राणीके सिवाय इतर प्राणी बुद्धिकी दृष्टिसे न्यून-अधिक प्रमाणमें हीनबल होते हैं। केवल मनुष्यप्राणीकी ही सुबुद्ध कोटिके जीवचारियोंमें गणना है। इस बुद्धिमत्ताके कारण इतर सृष्टिके समान मनुष्यप्राणीका भी अपरिहार्य गतिकी जड़से कुछ न कुछ हेतु रहताही है, उस हेतु तथा गतिके कार्यकारणभावसे कुछ सिद्धान्त निश्चित होते हैं, जिन सिद्धान्तोंपरसे व्यक्तिगत भावरणोंकी विधा ठहराई जाती है^१। प्रत्येक मनुष्यके प्रयत्न सुखमूलक होनेके कारण जिन कृत्योंसे सुख हो सकता है उन्हीं कृत्योंको करनेकी बुद्धि उक्त परंपराके द्वारा मनुष्यको होती है। और इसी छिये हेतुमूलक कृतिके द्वारा सुखकी अवस्थाके प्रति जानेकी पद्धतिको सुधारणा अथवा संस्कृति कहते हैं। अंगरेज अर्थकार बकलने भी अपने

१ * When we perform an action we perform it in consequence of some motive or motives That these motives are the results of certain antecedents, and that therefore if we are acquainted with the whole of those antecedents and with all the laws of their movements, we could with unerring certainty predict the whole of their immediate results

Buckle's History of Civilization.

‘ संस्कृतिके इतिहास ’ नामक ग्रंथमें यही चिकित्सा स्वीकार की है। सुदृढ मनुष्य समाजशील प्राणी है और इस कारण प्रत्येक व्यक्तिके प्रयत्नों पर समाजकी उत्तर व्यक्तियोंके प्रयत्नोंका असर हुए बिना नहीं रहता। और वह असर कभी सहायक रूप होता है और कभी बाधक रूप। ऐसी स्थितिमें यह प्रश्न उत्पन्न होते हैं कि सम्पूर्ण मनुष्योंकी कृतियोंका परस्परमें मेल किस प्रकार हो ? किस प्रकार उनका सामान्य हितमूलक ऐक्य हो ? और समाजके अंतिम सुखस्थिति तक पहुँचनेके लिये सामाजिक व्यक्तियोंकी कार्यपद्धति किस प्रकार हो ? इन प्रश्नोंके उत्तर देनेके लिये किये हुए भिन्न भिन्न प्रयत्नोंको ‘ संस्कृतिकी उपपत्ति ’ कहते हैं ।

व्यवहारमें कितनेही धार यह कहा जाता है कि “ अमुक समाज सुसंस्कृत है और अमुक असंस्कृत। आफ्रिकन लोगोंकी अपेक्षा एशियाटिक सुधरे हुए हैं और पुनियाकी कितनीही समाजोंकी अपेक्षा यूरोपकी कितनीही समाजों सुधरी हुई हैं। ” परंतु इस कथनमें जो अनेक तत्त्व भरे हुए हैं उनकी चर्चा करना भी बहुतोको नहीं है। और वे नहीं जानते कि सुधारणा क्या है ? उसका उद्देश्य क्या है ? उसकी प्रासंगिक मार्ग कौनसा है ? उन मार्गोंमें कौन कौनसी अड़चनें आनेकी समाधान है ? उन अड़चनोंका निराकरण किस प्रकार किया जासकता है ? और सुधारणाके तत्त्वोंके अनुसार व्यवहारमें किन्तु प्रकारका आचरण होना उचित है ।

इन सब प्रश्नोंका सवाक अभ्यास करनाही संस्कृतिशास्त्रका अभ्यास है। इस प्रकारका अभ्यास हुए बिना किसी भी समाजकी गतिस्थितिका सम्यग्-ज्ञान कभी नहीं हो सकता। और बिना इस प्रकारके ज्ञानके समाजको हृद्य साध्यकी शिक्षा भी नहीं दिखलाई पड़ती ।

एक महत्त्वपूर्ण अभ्यासमें समाजकी सम्पूर्ण ऐतिहासिक परिस्थितियोंका पुनर्करण करना पड़ता है और तत्कालीन परिस्थिति, पूर्वपरंपरा, समाजके ढरपनावेशिष्ट तथा स्वरूपका पुनर्-व्युत्पन्न विचारकर इन सबका परस्परमें साहचर्य मात्रसे किस प्रकार मेल हो सकेगा ? यह निश्चय करना पड़ता है ।

प्राग्नि और समाजका अवयव अवयवी समूह होनेके कारण उनका एक दूसरेसे नित्य मगध है। अतः प्रत्येक व्यक्तिको समाजकी उत्तर व्यक्तियोंसे होने योग्य संग्रहका विचार कर समाज रचनाके तत्त्व निश्चित करना पड़ते हैं और समाजके

सब व्यवहारों व व्यक्तिगत अधिकारोंका किसी व्यक्ति विशेष द्वारा अतिक्रमण न होने देनेके लिये राजनीतिका विचार करना पड़ता है। तथा सृष्टिके जिस भादि कारणसे व्यक्ति और समाज उत्पन्न हुई है उस भादि कारणसे इन दोनोंके रहे हुए संबंधको धर्मशास्त्र निश्चित करता है।

इन सब अंगोंका भिन्नभिन्न विचार करनेसे काम नहीं चलता। क्योंकि ये सब अंग एक दूसरेसे सपन्न है। और इस लिये इनके अंतरंगमें रहे हुए सुत्रोंका विचार अवश्य करना पड़ता है। जिस प्रकार 'सम और विपत्त प्रवाह-वाहक तारोंके जोड़नेसे विद्युत् जकि कार्यकारक हो सकती है उसी प्रकार संस्कृतिके अंगोंका परस्परमे मेल कर देनेवाले तत्त्वोंके द्वाराही संस्कृतिकी नीमांसा कार्यकर हो सकती है। इस लिये कुछ निश्चित तत्त्वोंपर वह नीमांसा करना आवश्यक होता है।

इस प्रकारकी संस्कृतिकी चिकित्सा यूरोपमे की गई है। और प्रत्येक तत्त्व-ज्ञाने अपने मतानुसार संस्कृतिके कुछ तत्त्व निश्चित कर अपना तन्मूलक सिद्धान्त निश्चित करनेका प्रयत्न किया है। किसीने आधिभौतिक शास्त्रोंकी प्रगतिको ही समाजका साध्य माना और किसीने केवल आध्यात्मिक तत्त्वका ही अवलंबन किया। किसीने उच्छ्रांतिवादका आश्रय लिया और किसीने नैतिक उन्नतिकोही श्रेष्ठ माना, परंतु इन सब दृष्टिकोणोंको एकत्रित कर समाजकी सर्वांगीण चिकित्सा करने और संस्कृतिका अन्यास करनेका जो काम पहिले किसीके द्वारा नहीं हुआ वह " जॉन वीपेंटी क्रोशियर " नामक इस प्रयत्नकारने करनेका प्रयत्न किया।

इस विद्वान्का जन्म कनाडा देशमें सन् १८४९ ई० में हुआ था। वह देश कृषि साम्राज्यके अंतर्गत है और वर्तमानमें वहाँकी शासनपद्धति लोक-सत्तात्मक है। परंतु जिस समय इस विद्वानका जन्म हुआ था उस समय कनाडादेशकी स्थिति ऐसी कुछ भयस्थित नहीं थी। ईंग्लैण्ड अगोरह वेधोंसे लोग जाकर वहाँ बसते थे और अपनी व्यवस्था करते थे। क्रोशियरकी गृहस्थिति भी अच्छी नहीं थी। वह धरका गरीब था। अतः उसे अधिक शिक्षाका लाभ न मिल सका। तो भी उसने पहिले कुछ वर्षों तक चार पांच बंदोंकी शिक्षा थूनिवर्सिटीमें प्राप्त करनेका अपूर्वा प्रयत्न किया और अंतमें जीवननिर्वाहके लिए किसी बंदोंकी शिक्षा आवश्यक समझ कर थूनिव-

सिंटीकी वैयकीय अन्तिम परीक्षा पास की। परंतु उसकी बुद्धिका मुकाब
 शुरूसेही तत्त्वविवेचनकी ओर था। वह दूसरे विषयोंके अभ्यासके साथ साथ
 समाजशास्त्रका भी ध्यान करता था। जब वह अन्तिम परीक्षामें पास होगया
 तब उसे अपने तत्त्वविचारोंके लिए कमाडादेश सङ्कचित प्रतीत होने लगा।
 अतः वह स्थलांतर करनेका निश्चय कर इंग्लैण्डको गया।

वहाँ जाने पर समाज-संस्कृतिकी चिकित्सा करनेवाले अनेक ग्रन्थोंका परि-
 शीलन किया। और कार्लाइल जैसे तत्त्वज्ञोंसे प्रत्यक्ष परिचय कर लिया।
 अतमें अपने मतानुसार संस्कृतिकी सर्वांगपरिपूर्ण मीमांसा " सुधारणा
 और प्रगति " नामक ग्रन्थमें कर उसे प्रकाशित किया।

इस ग्रन्थमें क्रोशियरने पहिलेही सुधारणके मूलतत्त्व जाननेकी पद्धति और
 साधनोंका विवेचन किया है। मिश्र मिश्र तत्त्वज्ञोंके मतानुसार भावे हुए
 इतिहास, आधिभौतिकशास्त्र, मानसशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र आदि सुधारणके
 प्रमाणोंका विग्रह कर क्रोशियरने यह सिद्ध किया है कि ये सब मिश्र मिश्र
 रूपसे प्रमाणबोधनके लिए अपूर्ण हैं। समाजके अनेक प्रकारके व्यवहार मान-
 वीय अन्तःकरणके सर्वांगीन व्यापारोंपर अवलंबित होनेसे उस अन्तःकरणका
 संपूर्ण जाकलन किये सिवाय सुधारणकी चिकित्सा नहीं की जा सकती। इस
 लिये पूर्वोक्त संपूर्ण प्रमाणोंको मानवीय अन्तःकरणके विभाग समझ कर उनका
 संग्रह करमाही संस्कृतिके नियमोंको जाननेका वास्तविक मार्ग है।

प्रमाणचिकित्सा करनेके वादका कार्य उन प्रमाणोंकी सहायतासे निकलने
 वाले तत्वोंका विवेचन करना है। सबसे मुख्य तत्व संस्कृतिका अन्तिम
 ध्येय है। जहाँ तक अन्तिम साध्यका स्वरूप माच्छम नहीं होता वहाँ तक
 मनुष्यका कार्य करना जंगलमें मार्ग खूले हुए पथिकके अटवनेके समान है।
 क्रोशियरने भी इसी पद्धतिको ज्ञानमें रखकर साध्यका विवेचन किया है।
 और सूक्ष्म अवलोकन तथा दीर्घ मनन करनेके पश्चात् अपनेसे पहिलेके समाज
 चिकित्सकों द्वारा निकाली हुई सुधारणकी उपपत्तियोंको संस्कृतिके ध्येयकी
 दृष्टिसे जो मुख्य विभागोंमें विभाजित किया है। और बतलाया है कि एक
 वर्गकी मान्यताके अनुसार समाजका अन्तिम ध्येय " सुव्यवस्था " है। समा-
 जपर आघात पश्चात्त फरनेवाली मिश्र मिश्र शक्तियोंका समीकरण
 (Equalization.) करके सुव्यवस्थाकी स्थिति प्राप्त करलेना ही साध्यकी

अवस्था है । और इसी अवस्था तक पहुँचनेके लिये समाजके प्रयत्न होने चाहिये ।

दूसरे वर्गका कहना है कि समाजका साध्य प्रगति (Progress) है । यदि सुव्यवस्थाको हीसाध्य माना जाय तो समाजके स्थिर होजानेसे उसके गतिरहित जलाशयके समान अस्वच्छ होजानेकी संभावना है । सम्पूर्ण पदार्थ गति-शील हैं । इस लिये अपनी अपनी गतिसे गमन करते समय उनका परस्परमें घर्षण बिना हुय नहीं रहता । और इस प्रकार परस्परमें घर्षण करते हुये आगे बढ़नेकी स्थितिमें पूर्ण शांतता और सुव्यवस्था होना शक्य अथवा दृष्ट नहीं है । इसलिये शरियतके बोधके समान सदा आगे बढ़नेका प्रयत्न करना और उसके आवश्यकता पड़ने पर सुव्यवस्थाका संग करनाही साध्यका लक्षण है ।

इन दोनों पक्षोंके कथनका विचार कर क्रोशियरने दूसरे मतका अवलमन किया है । क्रोशियर कहता है कि “ मेरे मतानुसार संस्कृतिकी उक्त दोनो उपपत्तियोंमेंसे प्रगतिवादियोंका पक्षही जगत्की रचना और मानवीय स्वभावसे अधिक मिलता है । संक्षेपमें यों कह सकते हैं कि व्यक्तिकी और पर्यायसे समाजकी प्रगति और इन दोनोंका उत्कर्ष सृष्टिका भी साध्य है ”

इस प्रकार साध्य निश्चित करके उसी साध्यको लक्ष्यमें रखते हुये क्रोशियरने समाजकी चिकित्सा करना प्रारम्भ की है । और समाज-रचना, राजकारण तथा धर्मसाधन आदि सम्पूर्ण मानवीय व्यवसायोंका उसने पृथक्करण किया है । यह अपने आत्मवृत्तांशमें लिखता है कि “ यह चिकित्सा करनेके लिये मुझे बहुत अनुकूल परिस्थिति प्राप्त हुई थी । मेरे जन्मदेशकी शाखानों, क्रीडा-क्षेत्रों, विद्यार्थी समूहों तथा अन्य स्थानोंमें मेरी योग्यता और मेरे गुणोंके अनुसार मेरी प्रतिष्ठा होती थी । मेरे देशकी इस स्वतंत्र समाज-रचनानेसे जब मैं अभिजनसत्तात्मक पद्धतिके मूलतत्त्वोंपर रची हुई इंग्लैंडकी समाजमें जाँहा कि व्यक्तिकी योग्यता कुछ और जन्मपरसे ठहराई जाती है, आया तब मुझे भाव्य हुआ कि समाजके कृत्रिम बंधन, व्यक्तिकी उन्नतिके मार्गमें किस प्रकार आड़े आते हैं । और मैं इसका तुलनात्मक रीतिसे व्यवहार कर सका । कनाडाकी अप्रतिपक्ष लोकसत्ताका अनुभव मुझे होनेसे इंग्लैंडके सरदारोंके अस्तित्वके कारण होनेवाले राजकीय कृत्रिम बंधनोंका

ज्ञान सुखे हो सका और मेरे देशमें इच्छानुसार पयोंके द्वारा ईश्वर सेवा करनेकी स्वतन्त्रता होनेके कारण इंग्लैण्डके राष्ट्र निर्दिष्ट धर्म (State Religion) की मैं तुलना कर सका । इस प्रकार यद्यपि इंग्लैण्डमें तत्त्वदृष्टिसे सभ्यताओंमें मेघ है परन्तु यह मेघ शुद्ध स्वरूपका नहीं है । अतः वहाँकी समाज-रचना इस भेदके अनुसार इतनी इदवद्ध नहीं थी कि व्यक्तियोंको उत्कर्षके लिये मौकाही न हो । और न राजकारण इतने उपमर्दकही थे जिससे मध्यम अथवा कमिष्ठ वर्गकी व्यक्तियों आधिकार संपन्न न हो सके । तथा राष्ट्रधर्म भी इतना दुराग्रही नहीं था जिसके कि कारण दूसरे पंथोंको अवसर नहो । इन कारणोंसे इंग्लैण्डमें सुखे अभिजनसत्ताक व्यवस्था, शुद्ध स्वरूप और दुराग्रह-प्रहरहित अवस्थामें देखनेको मिली । जिसके कारण उच्छृंखलितारहित व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और सङ्गठितसारहिता समाजनियन्त्रण, इन दोनोंके तात्त्विकभेदोंका मैं अच्छी तरह अवलोकन कर सका । ”

इस अवलोकनके द्वारा क्रोशियरने सत्कृतिका यह सिद्धान्त निश्चित किया कि जिस समाजमें व्यक्तिको अपना पूर्ण उत्कर्ष करनेका अवसर मिलता है वह समाज सर्वश्रेष्ठ और पूर्ण सुसंस्कृत है । यह सिद्धान्त निश्चित कर देने पर क्रोशियरने साध्य सिद्धिके मार्गका विवेचन किया है । क्रोशियरका मत है कि व्यक्तिके कार्यमें सामाजिक बंधनोका भावे आला इष्ट नहीं है, पर समाजकी कल्पनाओका मनुष्य पर परिणाम होना अवश्यभाषी होनेके कारण मनुष्यके स्वाभाविक स्वार्थपूर्ण आवरणों पर समाजकी श्रेष्ठ नैतिक कल्पनाओका दबाव रहना आवश्यक है ताकि व्यक्ति धोष्य मार्गकाही अवलम्बन कर सके ।

इस मार्गकी गतिका नियमन करनेवाला तत्त्व वह वर्तमान परिस्थितिको मानता है । मनुष्य और समाज परिस्थितिसे सदा बद्ध हैं । आकांक्षापूर्व कितनीही श्रेष्ठ हुईं तो भी वे परिस्थितिसे नियन्त्रित रहतीही हैं । और इन दोनोंके धीचका अंतर दूर करनेका मार्ग निकाले बिना प्रगति नहीं होती । यह मार्ग समीकरण है । परिस्थितिका सुधार करनेके लिये दुर्बलोंको कृत्रिम उपायों द्वारा सफल करना समीकरण है । इस प्रकार समीकरणसे परिस्थिति बलक जानी है और समाजकी भौतिक कल्पनाओके प्रभावके भीचे व्यक्ति पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करती है । यही सत्कृतिकी प्रक्रिया है, यह क्रोशियरने भीमार्गद्वारा निश्चित किया है ।

इसी भीमांसाके अनुसार मानवीय व्यवसायके समावरचना, राजकारण और धर्मसाधन रूप तीन उपांगोंका क्रोक्षियरने विवेचन किया है । और यह निष्कर्ष निकाला है कि समावरचनाकी दृष्टिसे व्यक्ति स्वतन्त्र होनेके लिये जातिभेद नहीं होना चाहिये, राजकीय क्षेत्रमें पूर्ण उत्कर्ष होनेके लिये लोकसत्तात्मक पद्धतिके अनुसार पूर्ण अधिकार मिलना चाहिये और धर्मसाधनमें श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त करनेके लिये धार्मिक स्वातंत्र्य होना चाहिये ।

क्रोक्षियरने अपने निकाले हुए सिद्धान्तकी पुष्टिके लिये जिस विचारपद्धतिका अनुसरण किया है उस पर जो सकनेवाले आक्षेपोंका वह स्थान स्थान पर निरसन भी करता गया है और इस अनुवादमें भी वह ज्योंका त्यों रखा गया है । क्रोक्षियर अपनी विचारसरणीको पूर्ण मानता है तो भी कितनेही स्थानोंपर मतभेद हो सकता है ।

जातिभेद इष्ट है या नहीं ? मनुष्यके प्रत्येक कार्यकी अदम्य क्रोक्षियरका माना हुआ कर्तृकारणवाद (Law of Wills and Causes) है या नहीं ? धर्म क्रोक्षियरके मतानुसार केवल मानवीय समाधानकी ही औपधि है या प्राच्यमत्तानुसार शाश्वत, त्रिकालाबाधित और सत्यमय है ? आधि-भौतिक शास्त्रोंके द्वारा सुष्टि रहस्यका उद्घाटन होनेपर भी केवल आध्यात्मिक शक्तिसंपन्न सिद्धकोटिके भ्याकि जगत्के शाश्वत सत्य जाननेमें समर्थ हैं या नहीं ? तथा राजकीय क्षेत्रमें लोकसत्तात्मक पद्धति ही श्रेष्ठ है अथवा दूसरी कोई पद्धति इत्यादि अनेक प्रश्नोंके संबंधमें मतभेद हो सकता है ।

परन्तु अनुवादकोंका यही कार्य है कि प्रयक्तार्थोंके तत्त्वोंका और विचार-सरणीका यथासूत प्रकाशन करे । इसी लिये स्वतंत्र विवेचन करनेका उसे अधिकार नहीं । अतएव क्रोक्षियरके सिद्धान्त और उसकी विचारप्रणाली इस अनुवादमें सम्पूर्णतया रक्षित रखी गई है ।

इसमें केवल ऐसे ठो अधिकार जो मूल ग्रंथकारके विचारोंके परिपोषक है और अधिक बढ़ाये गये हैं, क्रोक्षियरने आधिभौतिक शास्त्रको परिमित माना है और इस लिये इसके सम्बन्धमें उसमें अधिक विवेचन नहीं किया है । हिन्दुस्थानमें पाहिछेसेही आधि-भौतिक अथवा अन्ध वस्तुओंका महत्त्व अपेक्षणीय माना है । इस दृष्टिसे आधि-भौतिक शास्त्रकी परिमितता सिद्ध करनेकी इतनी आवश्यकता नहीं है तो भी वर्तमानके आधिभारोंके कारण भारतवासी अपने

उक्त सिद्धान्तसे विचकित न हों इस लिये पाश्चात्य विद्वानोंके विचारकी सहायतासे आधि-भौतिक शास्त्रोंकी अपूर्णता पहिले नवे अधिकारमें सिद्ध की गई है। दूसरे अधिक जोड़े हुए अधिकारमें राजकारणसंबंधी पाश्चात्य कल्पनाओंकी संक्षिप्त प्रस्तावना दी गई है। पाश्चात्य देशोंमें तो आजकल राजनीति प्रत्येक राष्ट्रिकीके हाथका सिक्कीना बन रही है और इस लिये उसकी स्थूल कल्पनाओंका वहाँके लोगोंको बड़ा परिचय होता है। परन्तु भारतमें इसका अभाव है। अतः इस आनेके द्वारा उसे समझाया गया है।

विषयके सुखम उपपाठके लिये और तर्कशास्त्रकी दृष्टिसे उसकी सुसंगति वैज्ञानिके लिये कुछ प्रकारोंको स्पष्टातर अवश्य किया है। परन्तु उनके निवेदनमें बिलकुल अंतर नहीं किया गया है।

आशा है कि इस परिचयसे पाठकोको आगेके विषयको समझनेमें बहुत सुभीता होगी।



सुधारणा और प्र

क-२००६

प्रथम-परिच्छेद ।



प्रमाण-चिकित्सा ।



प्रकरण पहिला.

इतिहास.

यह जाननेके पहिले कि सुधारणाके तत्व कौन कौनसे हैं ? और उन तत्वों पर किसी राष्ट्र, देश अथवा समाजकी सुधारणा किस प्रकार की जाय ? यह विचारना उचित है कि उन तत्वोंके जाननेके साधन कौन कौनसे हैं ? वैद्यक शास्त्रमें औपधिकी योजनाके पहिले निदान करनेकी आज्ञा दी गई है । यदि रोगके निदानमें भूल हो गई—जिन कारणोंसे रोगकी उत्पत्ति हुई है उन कारणोंसे भिन्न कोई दूसरे कारणोंसे यदि रोगका सम्बन्ध जोड़ दिया गया—तो औपधिके प्रयोगमें भी भूल होगी और उसका फल भी कुछ नहीं होगा ! इसी उदाहरणके अनुसार पहिले सुधारणाके तत्व जाननेके मार्ग अथवा प्रमाण कौन कौनसे हैं इसका विषय होना उचित प्रतीत होता है । न्यायशास्त्रमें प्रमाण शब्दका अर्थ “ प्रमाणाः करण-प्रमाणम् ” किया गया है । अर्थात् प्रमा अथवा किसी भी वस्तुके सत्य ज्ञानके साधनको प्रमाण कहते हैं । और इसीलिए सुधारणाका सत्य ज्ञान होनेके साधन कौन कौनसे हैं ? इसका विचार करना आवश्यक दिखलाई पड़ता है । इन साधनोंके प्रतिपादक और

पुरस्कर्ता भिन्न भिन्न विषयोंको सुधारणाके तत्वोंके प्रमाण मानते आ रहे हैं । उनके मतानुसार वे भिन्न भिन्न विषयही सुधारणाके तत्वोंका सत्यज्ञान करानेमें कारण हैं । इनमें मुख्य विषय ' इतिहास ' है । मानव सस्कृतिके प्रारम्भ कालमें सृष्टीकी छोटी बड़ी घटनाओंका कर्ता ईश्वर माना जाता था और वास्तवमें अथवा प्रेरक रूपसे यह बात है भी ठीक । इस विषयका विशेष ऊहापोह ईश्वरका अस्तित्व सिद्ध करते समय किया जायगा । जब तक मनुष्य समाजको अपनी कर्तव्यशक्तिकी पूर्ण रूपना नहीं थी और भौतिक शास्त्रमें भी जब तक प्रगति नहीं हुई थी तब तक मनुष्य समाजकी यह रूपना थी कि प्रत्येक व्यावहारिक बात परमेश्वर ही स्थूल रूपसे करता है । और यह मनुष्यका स्वाभाविक मनोचर्म है कि वह अपने ज्ञानसे अतीत बातका जनक अदृश्य ब्यक्तिको ही समझता है । ऐसे पूर्व समयमें इतिहास शास्त्रको स्थान नहीं मिल सकता । मनुष्य मात्रमें स्वतंत्र इच्छाशक्ति है । इस शक्तिके बलपरं मनुष्य, समाजमें जो कार्य करता है और उस कार्यका समाज पर जो इष्टानिष्ट परिणाम होता है उस परिणामका प्रमदाः वर्णन करने और उससे नित्योपयोगके व्यावहारिक सिद्धान्त निकालनेका काम इतिहास शास्त्रका है । परन्तु जहाँ मनुष्यके कार्योंको ही स्थान न हो वहाँ इतिहासको स्थान कैसे प्राप्त हो सकता है ? परन्तु जब यह स्थिति बदली और यह अनुभव में आया कि समाज, कर्तृत्वशक्तिसमूह अनेक मनुष्योंका समुदाय है और ऐसे समुदायरूप समाजका भी एक सामुदायिक भाग है तब इतिहासका जन्म हुआ । और जब मानवजातिकी महासागरमें विचारध्वान्तिकी भिन्न २ प्रचंड लहरोंके साथ २ रत्नसत्ता और अधिकारी सत्ता गेहूँके भूँसेके समान इश्वरसे उबर भरकने लगी तब उन लहरोंका आदि कारण और उनकी गतिके नियम निश्चय करनेवाले इतिहास शास्त्रका महत्त्व ध्यानमें आया और यह माना जाने लगा कि यह शास्त्र ज्ञानका निधि है । तबानुसृत कालको सूर्यके समान स्पष्ट करनेवाली और भविष्यकी अहम्न सृष्टि पर भी प्रकाश डालनेवाली ज्योति है । जिस प्रकार भूस्तर शास्त्रवेत्ता पृथ्वीमेंसे निम्नले हुए अस्थिपंजरोके द्वारा मनुष्य समाजकी उत्पत्तिकी साफल्यकी कथियां जोड़ सकते हैं, उसी प्रकार इतिहास भी सूतकालके गर्भमें रटी हुई घटनाओंकी परिस्थितिके द्वारा विचारध्वान्तिकी कथियां जोड़ सकता है । इतिहासके सम्बन्धमें विद्वानोंने उक्त सिद्धान्त बाध रखा है । अनन्त

प्रथम-परिच्छेद ।

कालकी घटनाओंसे यदि कोई अनुमान न निकालकर उन्हें केवल ' भरेवि-
यन नाइट्स ' की कहानियोंके समान मनोरंजनात्मक समझे तो उन्हें जानने
से मनुष्य समाजका भडा छान भी क्या हो सकता है ?। मनुष्य जातिके छिपे
रहस्यको प्रकट करनेमें मनुष्य ही मुख्य कारण है । " The proper
study of mankind is man । " महाभारतमें भी यही सार निकाला
गया है कि " इतिहासोत्तमाठस्मान्जानन्ते क्वचि बुद्धय, " अर्थात् उत्तम इति-
हाससे कविवृद्धि उत्पन्न होते हैं । Meaning of History के लेखिका
है कि सुधारणके तत्वोका ज्ञान, उन तत्वोंके पूर्वकाळीन परिणामों पर अवल-
म्बित है । और यह परिणाम इतिहासके द्वारा ही जाने जा सकते हैं । " एक
ग्रंथमें लिखा है कि " इतिहास परमेश्वरीय इच्छा जाननेका एक साधन है ।
इतिहास ही एक मात्र शिक्षक है जो 'अगतर्म होवेवाली' अज्ञान घटनाओंका
आकलन कर उसपरसे यह सिखलाता है कि यह ईश्वरकी अमुक इच्छाके
उल्लंघनका फल है और इस घटनाओंसे बचनेके लिये ईश्वरकी अमुक इच्छाके
अनुसार चलना उचित है । † एक दूसरा प्रयत्नकार कहता है ' इतिहास
मनुष्य समाजका वैद्यक शास्त्र है । मनुष्य समाजकी स्थितिकी, विकारकी
और रोगपरिहारकी चिकित्सा केवल इसी एक शास्त्रसे होती है । ‡ इन उद्ग-
ताओंपरसे यह सिद्ध होता है कि एक पक्षका यह कहना है कि मानव समाज
अथवा राष्ट्रीय सुधारणके तत्व निश्चित करनेका इतिहास ही एक मात्र
साधन है ।

यह कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता कि उपाहरणकी दृष्टिसे इतिहास
एक अमूल्य शास्त्र है । परन्तु यह विचारणीय है कि ऐतिहासिकोका
यह-कथन ठीक है या नहीं कि सुधारणके तत्व निश्चित करनेका साधन एक
मात्र इतिहासही है । पहिले पहिल देखने पर शास्त्रमें वर्णित पदार्थ अवा-
चित दिखता है परन्तु थोड़ा विचार करनेपर उसके दोष भी दिखलाई देने

* by Frederic Harrison Chapt. I.

† Hegels Philosophy of Bohn's Library Edition.
Introduction

‡ Schlegel's Philosophy of History part 1, Bohn's
S'andard Library Edition.

कगते हैं। पूर्वतिहास, शिक्षा और मनके संस्कार मनुष्यके भावी जीवनका मार्ग निश्चित करनेमें सहायक होते हैं। परन्तु यह कहना भ्रमपूर्ण है कि केवल इन्हीं बातोंपरसे उसके जीवनका भविष्य निश्चयत कहा जा सकता है। इस प्रकारकी विचारसरणीका परिणाम यह होता है कि इतिहासकी परीक्षा करनेवाले अपने २ मतानुसार जिन २ विविध बातों पर समाजकी अथवा राष्ट्रकी इमारत खड़ी हुई समझते हैं उन बातोंको अवास्तविक महत्त्व देने लगते हैं। जैसे कि मानो कुछ लोगोंने उन इतिहासके द्वारा यह सिद्धान्त निकाला कि किसी देशकी वायु ही उस देशके धीरेसगठनमें कारणभूत है। तो फिर वे इसी तरह पर सपूर्ण जगत्की क्रान्तिकी जड़ जमाने लगते हैं। सारांश यह कि जिस प्रकार अन्नमय आकाशकी और एक समयमें देखनेवाले लोगोंकी वे अन्न उनकी कल्पनानुसार भिन्न २ प्रकारके दिखलाई पड़ते हैं उसी प्रकार इतिहास देखनेवालोंको भी उनकी कल्पनाके अनुसार ही वह दिखलाई देता है। मनुष्यका ज्ञान मर्यादित है, उसमें भी न्यूनाधिकता है। ऐसी दृष्टामें आकुंचित बुद्धिके द्वारा अपनी कल्पनाके आधारसे कंचे हुए सिद्धान्तों पर जगत्के कर्तृत्वकी इमारत खड़ी हुई मानना भ्रममूलक है। प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता कार्लाइलने भी ऐसे ज्ञानके आधार पर संपूर्ण इमारत खड़ी करनेवालोंको बुद्धिमान कारीगर न कहकर अल्पज्ञानी मजदूर ही कहा है। परन्तु यह यह दोष अल्पबुद्धिके लोगोंको ही देता है। इतिहासशास्त्रको नहीं। वह भी यही मानता है कि "वर्तमान और भविष्य कालका ज्ञान होनेका मुख्य मार्ग एक मूलकालका अवलोकन ही है" *। अतः यहाँ यह विचार करना उचित होता कि उदाहरण रूपसे अथवा उस परसे निकलनेवाले व्यावहारिक सिद्धान्त रूपसे केवल मात्र इतिहासही सत्य ज्ञान करानेके अधिकारका पात्र है या नहीं।

उपर इन दिनोंमें इतिहाससोधनके कार्यमें अत्यन्त परिश्रम किये जानेके कारण वह गतकालीन घटनाओंको सीनोमेटोग्राफके चित्रोंके समान जगत्के आगे भूतिमान रूपसे उपस्थित करनेमें समर्थ हो गया है। और उसके (इतिहासके) द्वारा न केवल स्थूल घटनाही किन्तु समय समय सम्बन्धी, समाजकी रचन सहज पद्धति, परिस्थिति, आधारविचार, धार्मिक कल्पना,

* Carlyle's " Past and present "

प्रथम-परिच्छेद ।

राजकीय संस्था आदिके चित्र भी मनुष्यके भागे खड़े हो जाते हैं । इतिहासके कारण मृतकालके बने अंधकारमे पहिलेही पौराण्य साम्राज्यके चित्र दृष्टिगत होते हैं । उसमें वैश्वकालीन भारतीय योद्धा अपनी श्रेष्ठ संस्कृति और पराक्रमके जोर पर संपूर्ण आर्यावर्तमे अपना साम्राज्य स्थापित करते विशालार्थ पढ़ते हैं । फिर उस साम्राज्यका विस्तार होता है और अशोक तथा चन्द्रगुप्तके एकछत्री राज्यशासनके कारण भारतमे एक राष्ट्रीयताका सुवर्णमय इक्ष्म दृष्टिगोचर होता है । इतनेही मे आर्यावर्तके आर्य लोगोंके ईरान देशमें बसे हुए आर्य पंडों द्वारा स्थापित राज्य एक प्रचंड अजगरके समान अपने आसपासके छोटे छोटे राष्ट्रोंको निगल जाता है और फिर धीरे धीरे पश्चिमकी ओर सरक कर ग्रीककी नूतन संस्कृतिको हड़प करनेके लिये अपना मुंह खोलता है । इतने ही मे ग्रीस बचका कर जाग जाता है और अपने हाथकी तलवारका उस अजगरपर धोरसे प्रहार कर उसे कुछ कालके लिए तड़फते हुए हटनेको लाचार करता है । इस विजयसे प्रफुल्लित ग्रीस एक कमलके समान अपना साम्राज्यसौंदर्य क्रम क्रमसे जगत्में फैलाता है । और फिर वैभवविकी अस्तगामी किरणोंके द्वारा किंचिद् छलाह पाता है । इतने ही मे उस कमलको जड़से उखाड़ कर मेसिडोन अपना स्तिर ऊंचा उठाता है । और संपूर्ण ग्रीक देशपर अधिकार कर सिकन्दर बावशाहके रूपमें यदुवानल-आगिके समान फैलाता है । और आसपासके सब राष्ट्रोंको जलाता हुआ पश्चिमसे पूर्वतक समुद्रसे घिरी हुई भूमिको आक्रमित कर लेता है । फिर आगिके गुणधर्मालुसार इन सबको जला देने पर “ अतुणे पतितो दग्धि स्वयमेवोपशान्त्यति ” वृषराहित भूमिमें पड़ी हुई आग्नि अपने आप क्षमन हो जाती है, कि उसके अनुसार वह भी ठंडा पड़ जाता है और स्मृष्टानकी आगिके समान दिखने लगता है । इतने हीमें इस उन्धस्त प्रदेशमें रोम साम्राज्यका एव धीरे धीरे दूमने लगता है और अपने निहृण चाकोके द्वारा मिथे बिले रुढ़ता हुआ बाकी बचे हुए गाल, कार्थेज, ईरान आदिको अपने चाकोसे जंचकर अपने साथ साथ चूलमें खींचता है और अपने विजयको दिखलाता हुआ अनिद्वंद्व संचार करने लगता है । परन्तु पेट्रिक ऐथर्थ कितना भी अधिक हुआ तो भी “अंतवसु फल तेषाम्” के अनुसार वह नाशवान् है । अतः यह रथचक्र भी कुछ शताब्दियों बाद ठीका होने लगा और उस साम्राज्यके गुलाम लोग असह्य अस्थाचारोंके कारण विद्रोह करने लगे ।

राजसत्ता अनिवार्य होगई और राजा अपनेको निर्धार-सुर्वीरत्वम्" मानकर विषयभोगमें तल्लीन होगये । जिन लोगोंके हाथमें सेना थी वे राजा और प्रजा किसीको कुछ न गिनने लगे और केवल मनोरंजनके लिए उनके कीड़ाभवनमें अंतराय भरहल्यार्थुं की जाने लगी । तथा घुप्काल, रोग आदि आपदाएं संपूर्ण साम्राज्यको प्राप्त पहुँचाने लगीं । वस जिस प्रकार पृथ्वीपरकी गर्मीको शान्त करनेके लिये एकदम आकाश में बादल जम जाते हैं और फिर बिजलीकी कड़कटाहटके साथ पानी धरसने लगता है । उसी प्रकार अंतराय जगकी जर्मन लोग सब तरफसे जर्मन साम्राज्यमें घुसते हैं और साम्राज्यके कोठको मष्ट कर, किसीकी परवाह न करते हुए देसा लूटान लडा करते हैं कि उस जल मलयमें रोम साम्राज्य पूर्णरूपसे डूब जाता है । फिर जिस प्रकार अल वह जानेपर जमीन सूख जाती है और कहीं २ पानीके छोटे २ जलाशय बन जाते हैं उसी प्रकार यूरोपके दृष्ट भागपर छोटे २ सस्वार बड़े २ साम्राज्योंका अनुकरण कर सेवकसमूहसहित, जगह व जगह राज्य करते हुए जलमवाहमें वहनेवाले दो वर्तनोंके समान आपसमें टकराते हैं । इधर पूर्वकी ओर मुगल साम्राज्यका उदय होता है और महम्मदकी सारसुक्त चन्द्रपताकाके आश्रयमें हस्तिनापुरमें मयूर सिंहासन अर्पित होता है । कुछ समय तक यह मुगल साम्राज्य मदीनमन्न हस्तीके समान अपने हुए उठते सब पर महार करता हुआ नाचता है, कि इतनेमें राजपूत और महाराष्ट्र की बाजसिंह इस हस्तीका गंडस्थल विदारण करते हैं । और यह जमीन पर गिर पडता है । फिर महाराष्ट्र उदय होता है । और सपूर्ण हिन्दुस्तान ' महाराष्ट्र ' की सार्वक संज्ञासे युक्त होना ही चाहता है कि उसमें फूट पड जाती है और धीरे धीरे अगरेज सरकारका उदय होकर असोकके समय का एक राष्ट्रीयताका सुन्दरत्व इस कालमें अनुभवमें आने लगता है ।

इस प्रकार सारांश रूपसे ज्ञातकासे केकर आज तकका धर्म, इतिहासका चित्रपट हमें दिखलाता है । इस परसे यह प्रस होता है कि इस चित्रपटसे वर्तमान काल अथवा भविष्य कालके सम्बन्धमें क्या बोध हो सकता है ? और जैसा कि माना जाता है सञ्जुसार यह इतिहास सत्यज्ञानके ज्ञापनके रूपसे भविष्यके लिये कहाँ तक मार्गदर्शक हो सकता है ? ।

मूलकाल अथवा इतिहासके प्रकाशके बिना वर्तमान कालका प्रवेश कसले कम ज्ञानरश्मिकी अपेक्षासे तो गिरतर अंधकार ही में रहेगा । राजसत्ता,

धर्मसत्ता, बलसत्ता आदि जगत्की संस्थाएँ, यदि आकाशमें निरन्तर प्रकाशित होनेवाले चन्द्र, सूर्य, तारे आदिके समान काल और स्थानके मेद बिना दिखलाई पड़ें तो उनकी स्थितिके सम्बन्धमें भूतकालके ज्ञानके अभावके कारण कुछ भी बोध न हो सकेगा । जिस प्रकार पूर्व ज्ञानके अभावके कारण चन्द्रका भिन्न भिन्न नक्षत्रपुंजोंमें अलग अलग बह माछूम होगा उसी प्रकार वर्तमानकी उक्त संस्थाओंका स्थित्यंतर भी गोरख बंदेके समान अज्ञेयही रहेगा और कुछ समय-बाद जब कि वर्तमान काल भूतकाल बन जायगा उस स्थित्यंतरकी स्पृति भी नष्ट होकर मनुष्यकी बुद्धि फिर ज्यों की त्यों कोरी रह जायगी ।

उक्त सब बातोंका परस्पर सम्बन्ध दिखाने, इनकी संगति बिठा देने और प्रत्येक वस्तुके बाह्य दर्शनमें फँसने न देनेका साधन इतिहास है । इसके सिवाय यह जाननेका दूसरा मार्ग नहीं है कि वर्तमान प्रचलित संस्थाएँ तात्स्थायत्वमें हैं या वृद्धावस्थाको पहुँच चुकी हैं । जैसे कि हिन्दू धर्मको ही छोड़िए । इसके गत इतिहासके सिवाय यह कैसे माछूम हो सकता है कि यह असद् ज्ञान, छोट-अम आदि रोगोंसे ग्रस्त है अथवा इसकी वृद्धि हो रही है । इसी तरह यूरोप कदमें जो राजसत्ता आज उन्नतामरादि चिन्होंसे विभूषित दिखलाई देती है वह एक बड़सूख वृद्धके समान है अथवा फ्रांस देशकी राजकार्तिके पहिलेकी राजसत्तासरीखी ज्वालाशुद्धी पर्वत परके एक पौधेकी तरह आंतरिक ज्वालाप्रवाहसे छिन्नविच्छिन्न होनेके करीब है, यह बिना इतिहासके नहीं जाना जा सकता । तथा बिना इतिहासज्ञानके यह भी कैसे जाना जा सकता है कि संपत्तिके जोर पर प्रबल होनेवाली अभिजनसत्ता (aristocracy) गरीबोंके पैसैसे पल पुसकर दिन पर दिन अधिक मत्त हो रही है । अथवा मजदूर वर्गकी विरानीचोकी टोचोंके कारण अन्नरं होगई है । और अंतमें पशुवल सत्ता की जय होगी, अथवा उसके विरुद्ध रहनेवाली नैतिक सत्ताकी ? ।

इन सब उदाहरणोंसे यह सिद्ध होता है कि इन प्रभोंका उधर देनेमें इतिहासकी सहायता होती है । अरथमें रास्ता दिखालाई पढ़ने पर उसके पीछे पीछे जाकर जिस तरह मनुष्य उस मार्गका उगम स्थान खोज सकता है उसी प्रकार वर्तमान कालके सत्तारूपी मार्गसे इतिहासकी पद्धति द्वारा उन संस्थाओंकी पूर्वस्थिति विहित की जा सकती है । जगत्के नियमन करनेवाले

कायदोको इतिहास अक्षत यत्नकाता है और उन कायदोकी साधारणतया पुनरावृत्ति करने योग्य ज्ञान भी वह अपनेको देता है । जिस तरह आकाशमें प्रत्येक ग्रह अपने चतुर्ल मार्गमें भ्रमण करता है उसी तरह जगत्की धर्म, राजसत्ता, लौकिक शिक्षा आदि सत्थाएँ किस किस चतुर्ल मार्गमें भ्रमण करती हैं और उन चतुर्ल मार्गोंकी कक्षा कितनी दीर्घ है तथा उनकी गति किन् प्रकारकी है ? आदिका ज्ञान इतिहासके द्वारा ही अपनेको होता है ।

यहाँतक एक पक्ष लेकर इतिहासकी उपयोगिता सिद्ध की गई परन्तु उसकी दूसरी याजूकी भी परीक्षा करनी चाहिये । वह याजू यह है कि क्या इतिहास, जसतः मार्गदर्शक होने पर भी सुधारणाने सपूर्ण मूलतत्त्व बतला सकता है ? यदि इतिहास वर्तमानकालके कारणोंको दिखा सकता है तो क्या वह उनका विग्रह भी करके दिखा सकता है ? और जिस तरह यह वर्तमानकालका कार्य-कारण सम्यन्ध बिल्ला सकता है उसी तरह क्या वह भावी कार्य सम्यन्ध भी दिखा सकता है ? साराश अपनेको यह देखना है कि रोग उत्पन्न होनेके कारण मालूम हो जाने पर भी रोगके पूर्वतिहास परसे ही उसके घटने या बढनेका बोध हो सकता है या नहीं । परन्तु जिस तरह किसी मनुष्यकी पूर्वस्थितिकी परीक्षासे यह निश्चित हो जाने पर कि मानसिक अम, चिन्ता अथवा बल क्षयसे उसे क्षय रोग हुआ है, केवल इसी ज्ञानके भरोसे यह नहीं कहा जा सकता कि चालू हृदयमें शीत अथवा उष्ण स्थित्यंतर कर देनेसे, पश्चात्पश्यके फरकसे अथवा अनुकूल प्रतिफल औपधिकी योजनासे उसका रोग घटेगा या बढेगा । इन बातोंको जाननेके लिये वर्तमान कालके आकलनकी आवश्यकता है, बिना वर्तमान कालके आकलनके चिकित्सा निरूपयोगी है । उसी तरह समाजमें प्रचलित संस्थाएँ किसी कारणसे उत्पन्न क्यों हुई हो ? परन्तु वे उत्पन्न हुई हैं, यह सिद्धान्त मान कर उनकी भावी स्थिति जाननेकी यदि आवश्यकता है तो उसे जाननेके लिये इतिहासके समान ही वर्तमान कालके पूर्ण ज्ञानकी भी जरूरत है । उदाहरणार्थ गुलामीके बिपैके पौत्रके छिपे भिन्न भिन्न भूमियाँ उनके स्वभावके अनुसार अनुकूल या मतिकूल होती हैं । इसलिये जब तक उन भूमियोंके स्वभावका ज्ञान न हो जाय तब तक यह केसे कहा जा सकता है कि अशुभ देशमें गुलामीकी प्रथा सरकी कर सकेगी या नहीं । इसी तरह जगत्के सब धर्मोंके मूलतत्त्व प्रायः एक समान हैं । और वे नीतिके मजबूत पाये पर उठाये हुए हैं । इसी धर्म

यदि यह सिद्धलाता है कि अपने पड़ोसी पर अपनेही समान प्रेम किया जाय तो आर्यधर्म पड़ोसियोंको छूटनेकी शिक्षा नहीं देता । वह भी यही सिखाता है । महम्मदी धर्म यदि परस्त्रीसे आछिस रहनेकी आज्ञा देता ह तो चौद धर्म व्यभिचार करना नहीं सिखलाता । उसकी भी यही आज्ञा ह । ऐसी दृष्टानें भी धर्मप्रसारके कार्यके लिये भिन्न भिन्न देश और भिन्न भिन्न काल भिन्न भिन्न प्रकारसे अनुकूल अथवा प्रतिकूल होते हैं । संकराचारके समयमें हिन्दू धर्मको अपने प्रचारका जो अवसर मिला वह महाभारतके समयमें नहीं मिला अथवा बाबरको अपने समयमें राज्य स्थापन करनेका जो सुभीता मिला वह अशोकके समयमें उसे मिल नहीं सकता था । सारांश कि धार्मिक तत्त्वोंके एकसमान और स्थायी होनेपर भी जबकि उनके उद्गम अस्तमें ऊपर कहे अनुसार अंतर वर्तमान कालकी परिस्थितिके कारण होता है तो इस परसे यह निष्कर्ष निकलता है कि वर्तमान परिस्थितिके ज्ञानके सिवाय केवल इतिहासके प्रमेय व्यर्थ हैं ।

इस विवेचन परसे यह प्राप्त ध्यानमें आवेगी कि रात कालके वर्णनकी दृष्टिसे इतिहास, वर्तमान स्थितिपर ज्ञानकिरण नहीं डाल सकता है । यह ज्ञान तो प्रकृत संस्था और उसके अनुरोधसे ही हुई मनुष्य स्वभावकी परीक्षासे ही प्राप्त हो सकता है । इस परीक्षात्मक ज्ञानको ही राजनीति शास्त्र (Politics) कहते हैं । यहाँ ' राजनीति ' शब्दका राजा और प्रजाके परस्पर व्यवहारके नियमोंका पृष्ठीकरण, यह संकुचित अर्थ नहीं समझना चाहिये किन्तु राजा, प्रजा और राष्ट्रका परस्पर सम्बंध जिस संस्थाके द्वारा निश्चित होता है उस संस्थाके संपूर्ण ज्ञानका द्योतक यह शब्द है । किसी राष्ट्रकी प्रजाके प्रति राजाके व्यवहारको बतलानेवाले शास्त्रको तो व्यावहारिक राजनीति शास्त्र (Practical Politics) कहते हैं । इसका दूसरा नाम राजधर्मशास्त्र भी है । इस संकुचित अर्थवाले शास्त्रके और संपूर्ण मानवीय संस्थाका ज्ञान करानेवाले अत्यंत विस्तृत समाजशास्त्र (Sociology) के मध्यवर्ती शास्त्रको राजनीति शास्त्र (Politics) कहते हैं ।

उक्तान्ति जैसे पकाव सूक्ष्मत्वके अनुरोधसे सम्पूर्ण समाजका गतिस्थितिका बोध करानेवाला समाज शास्त्र स्वभावतः इतना स्पष्ट होता है कि उससे व्यावहारिक सूक्ष्म नियम निश्चित नहीं किये जा सकते । इसी प्रकार केवल

विशिष्ट परिस्थितिसंबंधी व्यावहारिक निषर्णोंसे मित्र मित्र रूपोंमें स्थायी रीतिसे रहनवाकी किसी संस्थाके मूलतत्त्वोंका निश्चय नहीं हो सकता। ये नियम स्वभावतः अनुभव द्वारा निश्चित किये हुए और उपपत्ति राहत होते हैं।

इन सब शास्त्रोंका परस्पर सम्बन्ध समझनेके लिये वैद्यक शास्त्रका उदाहरण उत्तम होगा। वैद्यक शास्त्रके साधारणतया तीन भाग होते हैं। मनुष्य शरीरके मित्र २ भागोंका वर्णन, अस्ति, स्नायु, मज्जा, नाडी आदि का परिज्ञान और औषधियोंके साधारण गुणधर्मका जिसमें विवेचन होता है उसे शरीरानुज्ञानशास्त्र अथवा औषधि-विज्ञान शास्त्र कहते हैं। वैद्यक शास्त्र का यह भाग समाजशास्त्रके समान स्पष्ट है। केवल इसी भागके ज्ञान रोगके कारण उनका निदान और उनकी चिकित्सा नहीं माहूम हो सकती उसके लिये निदान और चिकित्साशास्त्र सीखना चाहिये। यह वैद्यक शास्त्र दूसरा भाग है जो राजनीतिशास्त्र (Politics) के समान है। वैद्यक शास्त्रका एक तीसरा भाग और है। जिसके द्वारा वैद्यक शास्त्रकी उपपत्ति आदिका ज्ञान न होते भी सुस्ते वगैरहका ज्ञान होता है। और उसके द्वारा रोग अच्छे भी हो जाते हैं। इस भागकी सुखना व्यावहारिक राजनीति शास्त्रसे की जा सकती है। इस उदाहरणसे यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज शास्त्र अधिक व्यापक रूपसे उपयोगमें आता है अर्थात् मित्र मित्र समाज साधारणतया जिन सवोंपर चल रहे हैं उनका औपपत्तिक ज्ञान ही शास्त्रके द्वारा होता है परन्तु उसके फलविशेषमें होनेवाले परिणामोंके जाननेके लिये सुस्पष्ट राजनीतिशास्त्र ही की आवश्यकता होती है औ व्यावहारिक राजनीतिशास्त्र तो बहुत ही अधूरा है।

यहाँपर यह आक्षेप किया जा सकता है कि जब इतिहास समाजके निरमोषा ज्ञान करा सकता है तो उस मनुष्यप्राणि, जो कि समाजका एक अह, की श्रुतियोंका ज्ञान वह क्यों न करा सकेगा ? यह कहना किसी अंधांडीक भी है। क्योंकि जिसप्रकार मनुष्य अपनी कृतिसे परंपरागत समाजव्यवस्था पर परिणाम कर सकता है उसी प्रकार समाज भी मनुष्यकी कृति योंका नियामक होता है। मनुष्य जिस समाजमें होता है उस समाजके व्यवहारके बाहिरका कार्य उस मनुष्यकी क्षमतासे नहीं हो सकता। ये दत्ता होते हुए भी एक आक्षेप यहाँकामें डीक नहीं कहा जा सकता। क्यों

समाज, मनुष्यजातिका बहुत स्थूल विभाग है । उसमें विकार बहुत जल्द नहीं हो सकते और इसलिये उसके विकारोंकी पद्धति भी क्षीप्र-तया निश्चित की जा सकती है । परन्तु मनुष्य, प्राणीसमाजका एक बहुत छोटा भाग होनेके कारण वह सहजमें विकृत हो सकता है । और इस कारण उसकी कृतिमें भी अगम्य अंतर पड़ सकता है । यह बात एक स्पष्ट उदाहरणके द्वारा समझी जा सकती है । जैसे कि हिन्दू समाज साधारण-तया स्वभावसे ही परधर्मसहिष्णु है और इसलिये बलात्कारपूर्वक किसी अन्य धर्मानुयायिको हिन्दू बनानेकी कल्पनाके वह विरुद्ध है । ऐसी वृत्तियोंमें यह समाज अपना स्वभाव छोड़ एकदम तत्कवार हाथमें लेकर दूसरोंको हिन्दू बनावेगा यह बहुतही दुःसाध्य है । इतिहास भी यही बतला-वेगा कि हिन्दू समाजके द्वारा बलात्कारपूर्वक धर्मप्रचारका कार्य नहीं हो सकता । परन्तु यह बहुत शक्य है कि एकाधा हिन्दू धर्मानुयायि, यह समझ कर कि यदि दूसरे धर्मधारियोंको हिन्दू नहीं बनाया जायगा तो हिन्दू धर्म रसातलको चला जायगा, समय आने पर परधर्मियोंको बलात्कारसे हिन्दू बनावे । इस परसे यह सिद्ध होता है कि केवल इतिहाससे जिस प्रकार समा-जकी कृतिका निश्चित ज्ञान हो सकता है उस प्रकार व्यक्तियोंकी कृतिका ज्ञान नहीं हो सकता । महावीर, बुद्ध, महम्मद, क्रिस्ट, ह्यूज आदिके पहिले यह कहना बहुत कठिन था कि वे अमुक मार्गसे धर्मस्थापना करेंगे । इसी तरह यह भी नहीं कहा जा सकता कि अगले किसी भी भागमें उत्पन्न होनेवाला महापुरुष अमुक रूपसेही अवतीर्ण होगा । कभी कभी एकही कारणके भिन्न परिस्थितिमें भिन्न भिन्न परिणाम होते दिसलाई पड़ते हैं । जैसे कि यदि किसी राष्ट्रमें कोई मनुष्य शांतिके समयमें भी बलके मरोसे पुर्धारणके कार्य करने लगे तो उसका परिणाम बिल्कुल उल्टा होगा, दुर्बल और अनाथ पिस जायेंगे । परन्तु जब सिरमोर-बलवानका प्रतिकार करनेकी आवश्यकता होगी तब उसी बलकी सहायता लेना पड़ेगी । यूरोपमें मध्यकालीन युगमें धारैरिक बलके तत्व पर अपने संघ बनाकर सरदार लोगोंने इच्छुकके राजाओंको प्रजास्वातन्त्र्यकी सनद देनेके लिये छाया कर दिया था । सारांश जिस प्रकार बचनाग नामक यन्त्रस्यति प्राणघातक होते पर भी निम्नी रोगविशेषके लिये लाभदायक होती है उसी प्रकार मानवीय कृतियोंके परिणाम भी समयानुसार भिन्न भिन्न होते हैं । अतएव वर्तमान परि-

स्थितिके ज्ञानके बिना परिणाम निश्चित न हो सकनेके कारण इतिहासके कौर सिद्धान्तोका, होना न होना बराबरही है ।

इस विवेचनपरसे यह बात ध्यानमें आती है कि वर्णनात्मक इतिहास अथवा रात घटनाओंका पृष्ठीकरणरूप इतिहास, वर्तमान स्थिति अथवा भविष्य स्थितिमें किस प्रकार व्यवहार किया जाय ? यह बतलानेमें असमर्थ है । इसके लिये इतिहासके साथ साथ राजनीतिशास्त्री भी आवश्यकता है । अब इस पर भी विचार करना उचित है कि किसी व्यक्तिविशेषको नित्यके व्यवहारोंमें इतिहाससे कितनी सहायता मिल सकती है ।

सरवेत्ता कार्लाइलने कहा है कि मनुष्यके जीवनमें अत्यंत महत्त्वकी बात उसके भ्रमका चुनाव है । अपनेको बीवसी बात अन्तमें मास करना है इसका निर्णय किये बिना मनुष्य आगे कदम ही नहीं बढ़ा सकता । जर्मन कवि गटे कहता है कि "जीवन केवल विचारमय ही नहीं होना चाहिये किन्तु कृति पूर्ण होना चाहिये ।" इसी प्रकार मैथ्यू व जर्नाल्डने भी लिखा है कि "कमसे कम जीवनका पौन भाग कर्तव्यपूर्ण होना चाहिये ।" ऐसी दृष्टांमें यह विचार करने पर कि भ्रमका चुनाव करनेमें इतिहास कहाँतक सहायक हो सकता है, यह माफूस होगा कि इतिहास जिस प्रकार यह नहीं बतला सकता कि किस मार्गसे जाना उचित है, उसी प्रकार यह यह भी नहीं बतला सकता कि अमुक मार्गसे ही जाना नयो उचित है ? और अमुकसे जाना नयो उचित नहीं है ? । इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्तिका धीर शमीर चरित्र पढ़नेसे मनुष्यके मन पर एक प्रकारका उत्तेजक परिणाम होता है । उस व्यक्तिका महान परिश्रम, उसकी सहिष्णुता, सफ्टके समयमें स्थिर अतःकरण रचने योग्य धैर्य, अपजयमें उद्दिष्टता न जाने देकर जयप्राप्तिके समयमें हर्षातिरेक न होने देने योग्य मनःप्रभुत्व आदि बातें उस व्यक्तिके चरित्र पढ़नेवालेके मनमें रसजलायद्वट पदा कर उठीं हैं और उन्हें अनुकरण करनेमें सहायता देती हैं । हेनरियोल्ने अपने पिताके द्वारा रोमन साम्राज्यके विरुद्ध लड़नेवाले मार्जोने थोरोकी धीरि सुनकर केवल सात वर्षकी अवस्थामे अपने देशके लिये रोमन साम्राज्यसे लड़नेकी प्रतिज्ञा की । महाराजा क्षिवाजीको महाभारतके कथाओंमे आगेके पराक्रमोंकी स्फूर्ति उत्पन्न हुई । इसी तरह अनेक अतरेव

बोद्धाओंमें भी एक अंगरेज कविके कहे अनुसार * रामसत्ता भयवा धर्म सत्ताके अत्याचारोंको धम्रमुष्टिसे नष्ट करनेवालोंके हम वंशज हैं और इस लिये हम भी उनके अनुसार व्यवहार करेंगे, इस उदात्त भावनापूर्वक स्वार्थत्यागकी मेरणा अनेक बार हुई है। यह सब ठीक है परंतु दुर्दैवसे इस प्रकारके इतिहास प्रसिद्ध व्यक्ति सदाही सद्गुणोंके भावर्षा नहीं होते। पराक्रम, वैय, शौर्य, आदि गुण जिस प्रकार सत्कार्यके पोषक है उसी प्रकार असत्कार्यके भी पोषक हैं। ऐसी दृष्टांमें इन गुणोंके कारण इतिहासप्रसिद्ध व्यक्तियोंके गुणोंपर कुठ्व हो जानेसे उन गुणोंके समान उनकी दुष्ट महत्वाकांक्षाका भी परिणाम पाठकोंके मन पर होनेका भय रहता है। यूरोपकी जनसमाज जिस संस्थापकके नामसे प्रसिद्ध है उस यीशु क्रिस्तको, संपूर्ण यूरोपको पादाक्रान्त कर अपनी महत्वाकांक्षाके रथके नीचे सब प्रकारके स्वातंत्र्यको चूर डालनेवाले नेपोलियन बोनापार्टसे भी आधा सम्मान नहीं देता। इसका कारण कोई गूढ नहीं है। प्रत्यक्ष है। यीशु क्रिस्तका संतचरित्र बुद्धिगम्य है। परंतु नेपोलियनके हृत्कोंका तेज, मनोविकारोंको उद्दीपन करता है। मिकन्दर बादशाहके पराक्रमसे ही नेपोलियनमें स्फूर्ति उत्पन्न हुई। न्यूलियस सीजरका खून करनेवाले उदार परन्तु अपमार्गाभाभी सुसठके उदाहरणने फ्रान्सकी राज्य-श्रान्तिके समयमें शार्कट काँठके समान लीको राज्यश्रान्तिके एक पुरस्कर्ताका खून करनेको प्रवृत्त किया। इसी तरह महम्मद पैगम्बरके धर्मस्थापनाके कृत्कोंका विपर्यास कर औरंगजेब सरीखे धर्म्मोन्मत्त बादशाहने सम्पूर्ण प्रजा पर शुभ्र कर बादशाहके अनेक शत्रु उत्पन्न कर लिये और अन्तमें उसे नष्ट करनेकी औरंगजेबको बुद्धि हुई।

इससे सिद्ध होता है कि जीवनका साध्य निश्चय करनेमें इतिहासकी योग्य सहायता नहीं मिलती और इसी प्रकार साध्यकी कार्य-कारणचिकित्साकी भी इतिहास सहायता नहीं कर सकता। नीतिसाक्षकी जो यह कार्यकारणपरंपरा नहरी हुई है कि सद्गुणोंका परिणाम शुभ होता है और असद्गुणों भयवा दुष्कृत्योंका परिणाम अशुभ, वह परंपरा इतिहासमें कभी २ उच्छे मुच्छे रूपमें

* We are the son's of that Sires that
Defied crowned and mitred tyranny.

.....So will we

दिसलाई देती है। अर्थात् इतिहासके उदाहरणोंमें दुर्गुणोंकी जय होती है और सरगुण मिट्टीमें मिछ जाते हैं। अगत्के सत्युक्तोंकी श्रेणीमें अग्रस्थान प्राप्त करनेवाले महाराणा प्रतापको अंतमें अंगलमें मरना पडा। और जीवित मनुष्यकी खाक खींचकर मनोविनोद करनेवाले महम्मद गजनवी राज भोगते हुए मरा। श्रीशु क्राइस्टको क्रूस पर लटक कर अगत्को अन्तिम संदेश पहुंचाना पडा और जिस समय संपूर्ण रोम शहरमें आग लगी हुई थी उस आगीके कारण रोमे और बिचबिलानेवाले मनुष्योंके स्वर्गपर अपनी बंशी बजानेवाला रोमका बादशाह नीरो, अनेक बार प्राणघातक पदचक्रोंसे घब गया। यह उदाहरण दिसलाते हैं कि इतिहास नीतिशास्त्रके तत्त्वोंकी साक्षी पूर्ण रूपसे नहीं दे सकता। इस जन्ममें किसे हुए पापोंका भयकर फल इस जन्ममें नहीं तो भविष्य जन्ममें पापी पुरुषोंको अल्प मिछेगा और साधु-पुरुषोंको क्षाम्ति व सुखकी प्राप्ति होगी, यह सिखानेवाले तत्वज्ञानके अभावमें तथा कौनसी परिस्थिति दुर्गुणोंकी पोषक और सद्गुणोंकी बाधक है, इस वर्तमान-कालके ज्ञानके अभावमें केवल इतिहासकी शिक्षा, उक्त गुणको सुखदानमें विद्वुल निरूपयोगी है। अमेरिकाकी स्वतंत्रताके जन्मदाता जार्ज वाशिंगटनकी वास्तुवाक्यानी एक बात कही जाती है कि वाशिंगटनने अपने पिताके घराने का उनका अत्यंत चहाता हाड एक दिन कुफ्हाडीसे काट डाला। जब उनके पिताने देखा और क्रोधित होकर पूछा कि " यह किसने काटा " ? तो वाशिंगटनने बिना किसी प्रकारकी चंचलताके शान्तिसे कह दिया कि यह मैंने काटा है। जार्जकी इस सत्यप्रियतासे उसके पिता बहुत प्रसन्न हुए और बहुत प्रशंसाकी। इतिहासकी यह बात बिलकुल सत्य है। परन्तु इसी प्रकारकी सत्यप्रियताके कारण किसनेही बालकोंकी पीठ छड़ीकी मारसे छार भी होगई होगी। सस्कृतमें एक यह श्लोक है कि " समुद्रमयनाहंमे हरिकंदमीम् हरो विपम् " अर्थात् समुद्रमयनसे हरिको छद्मी प्राप्त हुई और हर- शरको हलाहल मिछा। मूट्टिमें नित्य प्रति जाने-वाले गुंमे प्रसंगीके समय केवल इतिहास, कार्य कारण भाव स्पष्ट करनेमें अंशदा है यह सिद्ध होता है। जर्मन तात्ववेत्ता हेगेलने भी इसी प्रकारके उद्धार निराले है। यह कहता है कि " जिस समय अपने श्रुतकालका विचार करते हैं उस समय अपनी आँसोंके आगे वर्तमानकाल भी सदा रहता है। मनुष्यको अनेक उदाहरणों परसे जो नीतिके सिद्धान्त सुझते हैं वे वर्तमान

वातों परसे ही सूझते हैं। और उनके कारण भूतजलके अस्थिरतामे एक प्रकारकी नवीन प्राणप्रतिष्ठा ही जाती है * । कई बार कुछ ऐतिहासिक सिद्धान्तोंके उदाहरणोंके रूपसे राष्ट्र, राजा अथवा मुसलमानोंके चरित्र हमारे आगे रचे जाते हैं परन्तु उन उदाहरणों पर यदि सूझम विचार किया जाय तो मासूम होगा कि उन चरित्रोंमे ऐसे कुछ विशेष प्रसंग थे और ऐसी कोई विशेष परिस्थिति थी कि उन सबके मिलनेसे वह उदाहरणस्वरूप व्यक्ति प्रगट हो सकी । किसी भी कालकी परिस्थितिमे कोई एकाग्र सिद्धान्त, मार्गदर्शकका काम करनेमें अक्षर होता है । भूतकालमें ऐसी कोई घटना नहीं मिल सकती जिसकी कि हृद्यह नकल वर्तमानकालकी घटनाओंम दुई हो । " इमी प्रकारका कथन श्लेजेल नामक तत्त्ववेत्ताने भी किया है । वह अपने " इतिहासकी तत्त्वमीमांसा " नामक ग्रंथके मारम्भमें ही लिखता है कि " इतिहास और वर्तमान कालका परस्परसंबंध कभी न छूट सकेगा ।

* " When we have to deal with the past, a present rises into being before our mind Didactic reflections, though in their nature decidedly abstract, are truly and indefeasably of the present, and quicken the annals of the dead past with the life of today Rulers, statesmen and nations are wont to be emphatically commended to the teachings, which History offers But each period is involved in such particular circumstances, exhibits a condition of things so strictly idiosyncratic, that its conduct must be regulated by conditions connected with itself and itself alone Amidst the pressure of general events a single general principle gives no help. It is useless to revert to exactly similar facts and circumstances in the past "

Hegel's Philosophy of History, Introduction.

इतिहास वर्तमान कालपर संपूर्णतया अवलंबित है” “ गणितशास्त्रका धीमगणित एक भेद है। इस गणितके उदाहरणमें कुछ भाग ऐसे होते हैं जिनकी संज्ञा ज्ञात होती है और कुछ भाग अज्ञात होते हैं। जिन्हें उदाहरण हल करते समय क्ष, य, इत्यादि संज्ञाओंसे संबोधित करते हैं। इन दोनों ज्ञात व अज्ञात भागोंसे धीम गणितके उदाहरण हल किये जाते हैं। अंतमें जब उदाहरण हल हो जाते हैं तब उस अज्ञात भागकी भी व्यावहारिक संख्या माहूम हो जाती है। उसी प्रकार आयुष्य भी वह चाहे एक ब्यक्तिकी हो अथवा समाजकी हो—धीम गणितके समान है। इतिहासके द्वारा सिखाये हुए सिद्धान्त, उस का ज्ञात भाग है और वर्तमानकालकी परिस्थिति, उस ब्यक्तिकी व समाजकी मनोरथना आदि बातें, पूर्ण विचार होने तक अज्ञात भागमें गर्भित होती हैं। और जब इन दोनोंके द्वारा आयुष्यकी गणित हल हो जाती है तब दोनोंका वास्तविक मूल्य माहूम होजाता है। मनुष्यका स्वभाव चपटे काच के समान पकागी नहीं है। परन्तु वह अनेक पहलूदार कोंचके शरकरे समान है जिसमें अनेक रंग दिखाई पड़ते हैं। उन रंगोंमेंसे ऐतिहासिक शिक्षाके संस्कारोंका भी एक रंग है। जार्नेस्टबार्कर नामक ग्रंथकारने भी अपने ग्रंथ “ स्पेन्सरके समयसे आद्यतककी राजकीय विचार-प्रगति ” में इसी प्रकारके उद्गार प्रगट किये हैं। वह लिखता है कि “ मनुष्य स्वभाव, किसी जगहरी कोठडीमें कौड़ी हुई पकान्ती ब्यक्तिके समान नहीं है। किन्तु उसका वर्तमान परिस्थिति, सृष्टिब्यवहार, सामाजिक बंधन, कापकेकी श्रमका, ऐतिहासिक शिक्षा और पूर्वकाकीन संस्थाओंसे बड़ सम्बन्ध है। ”*

इस प्रकार किये हुए सूक्ष्म विचारों परसे यह सिद्ध होता है कि केवल मूलकालकी विवरणी होनेकी दृष्टिसे इतिहास विज्ञेपतया उपयोगी नहीं है इतिहासके पुरस्कर्ताओंका एक और पक्ष है। इस पक्षका कहना है कि केवल मूलकालकी घटनाओंका क्रमका विवरण रखनेवाली ऐतिहासिक पद्धति

“ History cannot be separated from the present but entirely depends on reality

Hegel's Philosophy of
History, Lecture I.

× Earnest Barker's Political Thought from Spence
to-day. Chant. I

व्यवहारमें सहायता न मिल सकनेकी बात ठीक भी हो तो भी तब भीमांसक इतिहास लिखा हुआ इतिहास उक्त मुक्ति अवश्य पूर्ण कर सकता है । इस प्रकारकी पद्धतिसे कित्ते हुए इतिहासमें प्रत्येक समयकी परिस्थितिका विश्लेषण कर वह परिस्थिति नैतिक सिद्धांतकी पोषक थी अथवा मारक और उसका परिणाम अच्छा या बुरा क्यों और किस तरह हुआ इत्यादि बातोंकी चिकित्सा की जाती है । अर्थात् वर्तमानकालमें जो २ भिन्न भिन्न परिणाम होसकते हैं, उनका विश्लेषण व उनके भिन्नगुण परिणाम यदि समभाग सम्मुख रखा जा सके तो फिर इतिहास लिखनेकी इस पद्धतिमें दोष कहाँ रह सकता है ? गिबन, झूम, प्रोट, ग्रीन, मेकार्ल, कार्लाइल वगैरह लेखकोंने इसी पद्धतिसे इतिहास लिखा है । इतिहाससाक्षवेत्ताओंने इतिहासलेखनके साधारणतः तीन भेद किये हैं । पहिला वर्णनात्मक (Descriptive), दूसरा विवेचनात्मक (Reflective) और तीसरा भीमांस-त्मक (Philosophical) । इनमेंसे वर्णनात्मक इतिहासमें ऊपर लिखे हुए दोष हो सकते हैं; परन्तु दूसरे और तीसरे प्रकारके इतिहासोंमें उन दोषोंकी स्थान नहीं मिल सकता । अतएव इतिहासके उक्त दोनो भेद साधारणतः तब समझनेके योग्य माने जा सकते हैं । संस्कृत साहित्यमें पंचतंत्र नामक एक छोटासा ग्रंथ है । इस ग्रंथमें छोटी-से काव्यमय कहानियों दी गई हैं । और उन कहानियोंके अंतमें उनसे निकलनेवाली शिक्षार्थ दी गई हैं । इस ग्रंथके बननेकी कथा इसी ग्रंथकी प्रस्तावनामें इस प्रकार लिखी है कि एक राजाके मूर्ख लड़कोंमें किसी भी शास्त्रके पढ़नेसे चतुरता नहीं जाती थी । तब इस ग्रंथके रचयिता विष्णु नामाने वे लड़के राजासे माग लिये । और फिर उन्हें इस पंचतंत्र ग्रंथके द्वारा व्यावहारिक ज्ञानकी शिक्षा देकर उन्हें पूर्ण चतुर बना दिया । इसी प्रकार वर्तमान परिस्थितिके गोरख भद्रेको सुखसाधनेवाला इतिहासरूपी शिक्षक पाठकोंको कैसे चतुर बनाना सकेगा । प्रसिद्ध अमेरिकी तत्त्वज्ञानी एमर्सन साहबने इतिहासके एक स्वरूपका चित्र खींचा है कि + “ अब इतिहास, एक बूढ़े अमात्यकी वही भाव नहीं रहेगा किन्तु

+ History no longer shall be a dull book It shall walk incarnate in every just and wise man It shall be the Priest of Panthen it will truly express our central and wide-related nature,

Emerson's "Essay on History."

वह एक बीवित धर्मगुरुके समान मनुष्यजातिको उपदेश देता हुआ भ्रमण करेगा । और ऐसी वृत्तमें इस असीम और बड़े भारी जगत्का रहस्य अवश्य खुलेगा ” इस प्रकार यदि इतिहासके स्वरूपमें परिवर्तन हुआ तो फिर जगत्के रहस्यका स्फोट हुआ ही समझना चाहिये ।

ऐतिहासिकोका यह कथन देखने में तो डीक भाव्य होता है । परन्तु इसका उत्तर हमीमें सूक्ष्म विचार करनेपर मिल जाता है । इस पद्धतिके इतिहासपुरस्कर्ता, पूर्वकालीन परिस्थितिका विश्लेषण कर और उसे इत्यपमें जमाकर इतिहासके प्रमेय सिद्धलाना उचित समझते हैं । परन्तु पूर्वकालीन परिस्थितिका विश्लेषण किस प्रकार किया जा सकता है, इसका विचार करनेसे यह स्पष्टतया समझमें आजायगा कि इस कार्यके लिये भी वर्तमानकालके ज्ञानकी ही अत्यत आवश्यकता है । सामाजिक परिस्थिति, धार्मिक कल्पना और राजकीय संस्था, प्रायः नित्य बदल करती हैं । और ऐसी वृत्ता में वर्तमान कालके लोगोंका इन बातोंको समझनेके लिये एकदम उच्छल कर गतकालमें चलें जाना शक्य नहीं है । किन्तु वर्तमान घटनाओंकी करीब करीब समान उपमाओं परमें वे जानी जासकती हैं । मनुष्यके ज्ञानकी जो प्रगति होती है, वह सग परिचित यन्त्रोंकी सहायतासे अज्ञात, धानोंके आकलन करनेकी और ही होती है । जब छोटे छोटे बालकोंको जगत्की उन्मुक्तता ज्ञान कराया जाता है तब भी इसी पद्धतिके द्वारा कराया जाता है । पान्थिक मित्र न वेग्ये हुए छत्रकेको मिट्टीके सिंके द्वारा उसके अन्तरोका ज्ञान करते हैं । और फिर किसी सर्कलमें या अजायब घरमें उस बालकको पढ़ाते वही न वेग्ये हुए पान्थिक मित्रका ज्ञान पढ़िखे के महीके मित्रके द्वारा करा देने हैं । अथभूति कथिके उत्तर रामचरित नामक नाटकमें श्री एक दृशी प्रकारका मनेदार वर्णन है । जब कि अश्वमेध यज्ञका गोडा फिरता फिरता धार्मिक अर्थिके आश्रममें आया तब अति उमारासे पट्टन बंजुर हुआ । क्योंकि उमारेने उमके पालके घोडा पामक पट्टु बना नहीं था । उन उमारेमें से उम कुमार अव्य बंजुरवेरित उमारोको उम घोड़ेका कर्ता भूनामे लगे । उन उमारोने आश्रममें गकर गाय, शक गरीरु गिन पशुओंको दगा था और गिन यातांमे उनका परिश्रम हो गया था उमारीं धानोकी मदापगामे उन उमारोने उम गमथ दक घांटेका घर्षण किया था । अथाजनाउके अनुमान और उपमानकी पद्धतिमें भी दृशी सारका

अवलंबन किया गया है। नित्य सम्बंधमें रहनेवाले रसोई घरके ज्ञानसे पर्वतके घूमको देण कर अज्ञात वन्दिता निष्कर्ष निकालना और उत्तर राम-चरितकी उक्त कथाके अनुसार परिचित वस्तुओंपरसे बोद्धेका उपमान करना, इन दोनों उदाहरणोंसे यह सिद्ध होता है कि ज्ञानका ओष ज्ञात वस्तुओंसे अज्ञात वस्तुओंकी ओर जाता है। इसी तरह इतिहासके तत्व भी यही बतलाते हैं कि वर्तमानकालहीसे भूतकालकी ओर ज्ञानका ओष जाता है। क्योंकि वर्तमानकाल ज्ञात वस्तु है और भूतकाल अज्ञात है। और इस परसे यह निष्कर्ष निकलता है कि शस्त्रीनासक इतिहासशास्त्रके पुरस्कर्ताओंके मतानुसार वर्तमानकालके ज्ञानके सिवाय केवल इतिहाससे सृष्टिका गोरख बंधा नहीं सुलझाया जा सकता। यह तो वर्तमान परिस्थितिके ज्ञान पर ही अवलंबित रहता है। वही पर एक ओ उदाहरण वेनेसे इस विवेचन पर अधिक प्रकाश पढ़नेकी संभावना है। 'अतः उन पर विचार करना उचित है। प्राचीनकालमें रोम साम्राज्यमें सम्मिलित कुटुम्बकी पद्धति थी। कुटुम्बके मूलपुरुषकी सत्ता संपूर्ण कुटुम्ब पर चढ़ी थी। और पुत्र, लड़की, बहू आदि सबको शामिल रहना पड़ता था। लड़के, लड़कियोंको मूलपुरुष रहने तक किसी भी प्रकारकी भूतव्रता नहीं होती थी। वे जो उन कमाते थे वह सब सम्मिलित कुटुम्बका समझा जाता था और कुटुम्बका सुकिया उन्हें जो देता उसी पर उन्हें अपना निजी स्वर्च चलाया पड़ता था। इस प्रकारकी पद्धतिमें हानि और लाभ दोनों थे। आबकल पाश्चात्य पद्धतिके अनुसार प्रत्येक वय प्राप्त व्यक्तिके जो स्वार्तम्य प्राप्त है वह रोमन कुटुम्बमें नहीं था। वही कुटुम्बके सुकिया व्यक्तिके कुटुम्बके लोगोंको धारीरिक शिक्षा देनेका भी अधिकार रहता था परन्तु इनके साथ साथ संकटसमयमें सहायता, रोगीकी सुखूपा और परस्पर प्रवृत्त करनेके साथ भी उनमें अधिक होते थे। वर्तमानमें पाश्चात्य राष्ट्रोंमें इस पद्धतिका अवशेष बंध भी देखनेको नहीं मिलता। फिर भूतकालकी इस स्थितिकां अर्थार्थ ज्ञान किस प्रकार हो सकता है? और उसके द्वारा होने-वाका हानि लाभ भी कैसे जाना जा सकता है? इसका एकही उपाय है वह यह कि यहाँ यह पद्धति प्रचलित हो यहाँकी परस्थितिकी तुलनासे यह ज्ञान प्राप्त यह किया जाय।-इस दृष्टिसे देखने पर विदित होगा कि हिन्दुस्तानके हिन्दू कुटुम्बोंमें रोमन साम्राज्यकी उक्त पद्धतिसे बहुत कुछ अंशोंमें मिलती सुकती पद्धति प्रचलित है। 'बहुत कुछ अंशोंमें' कहनेका

तात्पर्य यह है कि इन दोनोंमें कुछ अंतर भी है । कायदेकी दृष्टिसे हिन्दू कुटुम्बके प्रत्येक व्यक्तिको कुछ स्वतंत्र अधिकार भी प्राप्त हैं । यदि छठका अपने पिताके साथ रहना न चाहे तो वह पूर्वजोपनिषत् संपत्तिमेंसे अपना हिस्सा लेकर न्यारा रह सकता है । भाई भाईका हिस्सा बँट हो सकता है । कुटुम्बके मुखियाको छोटे बालकोके सिवाय अन्य किसीको शारीरिक दंड देनेका अधिकार नहीं है । इत्यादि अंतर दोनों देशोंकी पद्धतिमें कायदेकी दृष्टिसे हैं । परन्तु नव तक कायदेके अनुसार दिये हुए अधिकारोंको अमलमें लाकर कुटुम्बके मनुष्य स्वतंत्र नहीं हो जाते तब तक रुढ़िके अनुसार प्रचलित स्थितिमें रोमन कुटुम्ब और हिन्दू सम्मिलित कुटुम्ब प्रायः समान हैं । अतएव इस वर्तमानकी स्थितिके ज्ञानकी गुठनासे ही मृतकालकी अज्ञात सत्थाका यथार्थ ज्ञान हो सकता है । यदि दूसरा उदाहरण और देखा जाय तो गुलामीकी प्रथाका उदाहरण पर विचार करना उचित होगा । अंगरेज सरकारकी महत्कृपासे अब यह प्रथा नामसौंप होगई है । अतःपहिलेकी गुलामीकी स्थितिके सम्बन्धमें यथार्थ कल्पना भी नहीं की जा सकती । मनुष्यके समान हाथ, पैर, इन्द्रिय, बुद्धि भग, जाति रखनेवाला प्राणी उसकी इच्छाके विरुद्ध बँध दिया जाता था, इसकी कल्पना आजके वैयक्तिक स्वातंत्र्यके कालमें किस प्रकार हो सकती है ? परन्तु वर्तमानमें पशुओंकी स्थितिसे गुठना करके हम मृतकालके गुलामोंकी स्थितिकी कल्पना कर सकते हैं । इस तरह वास्तवमें देखा जाय तो पूर्वस्थितिके ज्ञानसे वर्तमान स्थितिका ज्ञान होना तो दूर रहा अनुभवमें न जा सकनेके कारण उसका आकलन भी नहीं किया जा सकता । उस पर वर्तमानकालकी परिस्थितिके ज्ञानसे ही प्रकाश पड़ता है और इस दृष्टिसे देखने पर इतिहासकारोंके कहनेके अनुसार इतिहासका महत्त्व सिद्ध नहीं होता । निश्चित सिद्धान्तोंका उस कालकी परिस्थितिके अनुसार जो विकल्पण करना पड़ता है विलम्बे कि कारण सिद्धान्तोंका स्पष्टीकरण होता है, यह विकल्पण वर्तमान कालकी सहायतासे ही होता है अतएव हमारे ऊपर कहे अनुसार इस प्रकाशका निराकरण इस प्रकाशमें गरमित है ।

इसके सिवाय इतिहासके पक्ष लेनेवालोंका यह कहना है कि तत्त्व-विवेचक इतिहास पद्धति परिस्थितिके अनुसार सिद्धांत विधित करती है । यहाँ इस पर यह प्रश्न होते हैं कि क्या यह सिद्धान्त केवल गल कालके ज्ञानके कारण ही विधित होते हैं ? और गल कालके ज्ञानके अना-

जसे क्या इस प्रकारके सिद्धान्त निश्चित नहीं हो सकते ? इन प्रश्नोंके उत्तरमें सिवाय " नहीं " कहनेके दूसरा मार्ग ही नहीं है । क्योंकि इन सिद्धान्तोंके उदाहरणोंकी परीक्षा करनेपर माछूम होगा कि उनके स्वल्पकी चिकित्सा प्रत्येक मनुष्य अपनी स्वतःकी बुद्धिके द्वारा गतकालके ज्ञानके बिना भी कर सकता है । उदाहरणके लिए एक दो सिद्धान्तों पर यहाँ विचार करना उचित होगा । एक सिद्धान्त यह है कि राष्ट्रमें भोगविलासकी वासना प्रबल होजाने पर उस राष्ट्रकी अवनतिका प्रारंभ हो जाता है " । दूसरा सिद्धान्त यह है कि लोकसत्ताक पद्धतिका सीमातिरेक होने पर उसका पर्यवसान और भी अधिक अर्थोपारपूरण राजपद्धतिमें होता है । स्वातंत्र्यकी रूचि थोड़ीसी भी होने पर वह समाधानकी अपेक्षा असमाधान ही अधिक उत्पन्न करती है । ये प्रमेय इतिहासद्वारा निश्चित किये हुए सिद्धान्त कहे जाते हैं । इन तत्त्वोंकी थोड़ीसी परीक्षा करनेपर माछूम होगा कि इतिहासके सिवाय भी इनकी सत्यता सिद्ध हो सकती है । भोगविलासकी वासना प्रबल हो जानेसे जो राष्ट्रकी अवनति होती है, इसका कारण यह नहीं है कि इतिहास हमें यह पाठ सिखाता है किन्तु भोगविलासके प्रबल हो जानेसे समानमें जो स्वार्थ, बलाहति, क्षुद्रबुद्धि आदि दुर्गुण उत्पन्न हो जाते हैं जिनसे कि समाजके बन्धन सिथिल हो जाते हैं । और जिस प्रकार लकड़ीकी बंधी हुई सोली खोल देने पर लकड़ियाँ बिगड़ललित हो जाती हैं उसी प्रकार बन्धन टूट जाने पर समाज भी बिगड़ललित हो जाता है और यही कारण है जो भोगविलासकी प्रबलता राष्ट्रकी अवनति करती है । दूसरे सिद्धान्तके अनुसार स्वातंत्र्यके सीमातिरेकसे जुद्ध होनेका कारण यह नहीं है कि भूतकालमें इस प्रकारका जुद्ध हो चुका है, किन्तु प्रत्येक मनुष्यके स्वतंत्र होनेकी इच्छासे एकका चूँता दूसरेके पाधमे होनेकी बारी जानेकी संभावना है । और उससे फिर एक दूसरेको गिरानेका प्रयत्न करने और उन प्रयत्नोंके कारण जुद्ध होनेकी बहुत कुछ संभावना भी जासकती है । गणितमें जो और जो मिलकर चार होते हैं यह स्वतःसिद्ध तत्व है । पहिले चारमें दो और दो मिलकर चार हुए हैं इस किये ही अब चार होते हैं, यह प्रत्यय किञ्चल है । गतकालकी घटनाएँ केवल उदाहरण हैं और अपना मिश्रण इव करनेके किये इस उन्हें स्वीकार करते हैं । गतकालके उदाहरण देनेका केवल इतना ही प्रयोजन है कि प्रत्येक विषयके वर्तमानकालमें उदाहरण मिलना शक्य नहीं है । अर्थात् प्रतिदिन राज्यप्रान्ति अथवा घर्मप्रान्ति

होनेकी समाचना नहीं है। अतः हमें भूतकालके उदाहरण लेना पड़ते हैं। और वास्तवमें देखा जाय तो इतिहासका उपयोग भी नहीं है। इतिहास कोई नवीन तत्व नहीं सिद्ध करता। किन्तु वर्तमानकालके अनुभव परसे जो तत्व निकाले जाते हैं उन्हें भूतकालके उदाहरणोंसे दृढ़ करता है। पीछे न्यायशास्त्री अनुमानपद्धतिका उद्देश्य किया गया है। इस पद्धतिका एक सामान्य दृष्टान्त है कि पर्वत पर धूम दिखाई पड़ता है अतः वहाँ भस्मि है। परन्तु इस अनुमानका कारण इतिहास नहीं है। किन्तु धूम और भस्मिका वर्तमानकालमें जो निरन्तर सम्बन्ध हम देय रहे हैं वह इस अनुमानका कारण है। पहिलेके देखे हुए इस प्रकारके उदाहरणोंसे हमारे अनुमानकी केवल पुष्टि होती है। इस दृष्टान्तके अनुसार मनुष्यको अपने पहिले अनुभवोंका जितने अर्थोंमें उपयोग होता है उसनेही अर्थोंमें इतिहासका उपयोग समाज अथवा राष्ट्रको होता है। मनुष्यके आयुष्यकी अपेक्षा समाज अथवा राष्ट्रका आयुष्य बहुत अधिक होता है। अतः जिस तरह मनुष्यको अपने अनुभवके प्रयोगकी पुष्टिके लिये अपने जीवनके पिछले वर्षोंकी शोध करना पड़ती है उसी प्रकार राष्ट्रके वर्तमानकालके अनुभव परसे निश्चित होनेवाले सिद्धान्तोंकी पुष्टिके लिये पीछेकी अनेक घटनाओंके उदाहरण देना पड़ते हैं और यही इतिहासका काम है।

इस विवेचन परसे एक और बात ध्यानमें आती है कि यदि इतिहास, भूतकालीन घटनाओंपरसे निश्चित किये हुए सिद्धान्त सिद्ध करता है तो उन सिद्धान्तोंमेंसे आज बहुतसे सिद्धान्त झूठ होनेके कारण नष्ट क्यों होगये ? भूतकालमें भौतिक ज्ञानको विकास अधिक नहीं हुआ था। अतएव इस ज्ञानके विकासके कारण आज जो कुछ बातें हमें मात्तूम हुई हैं वे उस समयमें अज्ञात थीं। और इसलिये आजकी बातोंको उस समयके लोग जादूगिरी अथवा चमत्कार समझते थे। उन्नीसवीं सताब्दिके पूर्वार्द्धमें जेम्स वॉटने भाफके द्वारा रेखगाडीका पंक्तिन चकानेका प्रयोग किया था। उस समय उसे लोगोंने जादूगर समझा और उसे जानसे मार डालनेका प्रयत्न भी किया। इसलिये उस वैचारिकी यही सावधानीसे अपना जीव बचाकर रहना पड़ता था। उस समयके पहिलेके इतिहासमें इस रेखगाडीकी समानता रखनेवाली कोई बात न होनेके कारण यही ऐतिहासिक तत्व माना जाता था कि यह कोई जादूगरीका भेष है। यदि यह माना जाय कि इतिहासनेही यह तत्व सिद्धाया

कि रेखाङ्की जादूगिरी है तो वह तब भाव भी जवाबित रहना चाहिये । परन्तु भावका हमारा अनुभव यह है कि ऐसी बातें राष्ट्रीय ज्ञानके द्वाराकी जा सकती हैं । वर्तमानकालके ज्ञान परसे यह विश्वास हो जानेके कारण गत कालके उस जादूगरीके सिद्धान्तकी ऐसी उड़ाई जाती है । केवल वर्तमानके अनुभव परसे निश्चित किये हुए सिद्धान्तोंके पोषक उदाहरण भूतकालसे ग्रहण किये जाते हैं । यही इतिहास का कार्य है । भार बंगालके “ नेशनल कौंसिल आफ एज्युकेशन ” के इतिहासके प्रोफेसर श्रीयुक्त विनयकुमार सरकारने भी अपने ग्रंथ “ इतिहास शास्त्र और मानवीय प्रगति ” में इतिहासका यही कार्य बतलाया है । वे लिखते हैं कि “ एक दृष्टिसे, इतिहास राजनीतिशास्त्रके सिद्धान्तोंकी पुष्टिमें अपने अपार संपदाखण्डमेंसे उदाहरण देकर मानवीय ज्ञानकी विविधता और

History has thus been able on the one hand, to supply out of its general stocks special facts and materials for an altogether new branch of learning, viz. political science, and has thus contributed to the richness and variety of human knowledge. But these specialized activities, are likely to withdraw the attention of scholars from the study of the hopes and aspirations of man, the progress of civilization and ultimate gains and losses of humanity.No knowledge about man can be complete, unless it is based on a study of all human passions and tendencies, in institutions and activities. And so history must be incomplete.... so long as it does not concern itself with the whole of human life.... The Historian therefore will have to use at every step the laws of living organisms, ”

“ The Science of History and the hope of Man-kind ” by Benoykumar Sarkar.

संपन्नताको बढ़ाता है । परन्तु यदि इसी बातपर आधार रखा जाय तो साधारणतया मानवीय प्रगतिकी वृद्धि, मानवीय महत्वाकांक्षा और मानवीय साम्यासाध्यताकी और विद्वानोंका दुर्लभ्य होनेकी संभावना है । मनुष्योंके जनोपकार, उनकी प्रवृत्ति तथा मनुष्यों द्वारा चलाई हुई संस्थाएं और उन संस्थाओंकी प्रचलित कृतियोंके ज्ञानके सिवाय मनुष्यविषयक ज्ञान पूर्ण नहीं हो सकता । वह अपूरा ही रहेगा और इसी कारणसे मनुष्यजातिके सर्व-काळीन व सर्वांगीन आयुष्यकी और दुर्लभ करनेवाला इतिहास भी अधूरा ही रहेगा । ज्ञानपूर्व ऐतिहासिकोंको प्रचलित संस्थाओंका और वर्तमानकाळीन ज्ञानका उपयोग पद पद पर करना चाहिये । ”

वर्तमानमें जो तत्त्व प्रचलित हैं और जो ऐतिहासिक तत्त्व माने जाते हैं उनमेंसे एक तत्त्वका उदाहरण देकर यह परिच्छेद पूर्ण किया जायगा । इस तत्त्वकी गतकालकी घटनापरसे मासमान होनेवाली सिद्धता वास्तवमें वर्तमानकालके अनुभवपरसे ठहराई गई थी । परिस्थितिके बदलतेही इस सिद्धांतकी सिद्धता किस प्रकार नष्ट हो गई यह इस उदाहरणसे प्रकट होगा ।

अर्वाचीन तत्त्ववेत्ता हर्बर्ट स्पेन्सरने उत्क्रान्तिवादका अतिप्रथम प्रचार किया है । उत्क्रान्ति शब्द उत् और क्रम-इन दो शब्दोंसे बना है । उत् शब्दका अर्थ है बाहिर और क्रमका अर्थ है चलना । अर्थात् एक विशेष रूपसे वृद्धि करनेको उत्क्रान्ति कहते हैं । जिस तरह कि कभी फूल रूपसे उत्क्रान्त होती है, कौपल पत्तोंके क्रमसे उत्क्रान्त होती है और बंदर (उक्त तत्त्ववेत्ताके मतानुसार) मनुष्य रूपसे उत्क्रान्त होता है । वास्तवमें यह तत्त्व स्पेन्सरका नहीं है किन्तु फॉनवैजर नामक शास्त्रज्ञने सृष्टिके पदार्थोंका सूक्ष्म अवलोकन कर इसे निश्चित किया था । फॉनवैजरका तत्त्व यह था कि पदार्थका रूपान्तर होते समय उसकी शून्यी एक विधता (Homogeneity) नष्ट होकर उन्ने अनेकविधता (Heterogeneity) प्राप्त होती है । इसी तत्त्वका आधार लेकर स्पेन्सरने प्रत्येक जातको छाना है । और यही प्रगट किया है कि उन्नी तत्त्वपर जगतकी रचना हुई है । उसका कहना है कि त्रिम प्रकार पृथिवी अथवा अणुत्रिध रूप कही विकास पाकर पेट्रिफि, केशर, गुग्गु आदि अनेकविध होकर पुनः पुनः जाती है, यद्वरकी पृथिवी रूप अनु-परणात्मक शक्ति नष्ट होकर उन्नेके म्यानपर सारासार विचार करनेसे समर्थ

अनेकावध रूप बुद्धिका केन्द्र मनुष्य बन जाता है उसी प्रकार सृष्टिके सर्व पदार्थ नित्य प्रति उत्क्रान्ति करते हैं। स्पेन्सरको अपने इस तत्त्वकी सत्यताका अनुभव किस परसे हुआ ?। वर्तमानकालकी सम्पूर्ण वस्तुएं उसकी दृष्टिके सम्मुख होनेके कारण उसने उन वस्तुओंकी चिकित्साकी विससे उसे अपने तत्त्वकी सत्यताका अनुभव हुआ और उसे ऐसा निश्चय हो गया कि यह तत्व त्रिकाश्यावाधित है। इतना निश्चित होजाने पर, वर्तमानके धारम्भारके अनुभव परसे सत्य उदरे हुए इस तत्वको भूतकालसे मिलानेका वह प्रयत्न करने लगा। और पीछेके कुछ कालतक-भूतकालमें-उसके अनुभवकी पुनरा-वृत्ति होनेसे उसे बहुत कुछ चैयं बेधा और इस तत्वके आधारसेही सृष्टिकी उत्पत्ति सिद्ध करनेका उसने प्रयत्न किया। परन्तु प्राणियोंकी उत्पत्ति, स्थल व कालकी सर्पादा, सदासद्विवेक बुद्धिकी व्याप्ति, सौन्दर्य और महत्त्वकी कल्पना, द्रुगुण और सबगुणके बीज आदि बातोंकी चिकित्सा जब वह उत्क्रान्तिके तत्वसे करने लगा तब उत्क्रान्तिवादको ऐतिहासिक सिद्धान्तरूप सिद्ध करनेका उसका प्रयत्न निरर्थक हुआ। क्योंकि उक्त बातोंकी सत्यता, प्रत्यक्ष प्रयोगसे जाननेके लिये स्पेन्सरको अबसर मिलना शक्य न होनेसे तथा सृष्टिके प्रारम्भ कालकी खिन्नी हुई इस प्रकारकी कोई वृन्द हुईवसे न मिलनेके कारण कि सृष्टिकी उत्पत्ति उत्क्रान्तिके तत्वोंके अनुसार होती है, स्पेन्सरके इस ऐतिहासिक तत्वका मुख्य एक सुन्दर कल्पनाकी अपेक्षा अधिक न हो सका। स्पेन्सरकी इस अनुभव प्रणाली परसे यह सिद्ध होता है कि ऐतिहासिक तत्वोंके पुरस्कर्ताओंके मतानुसार ऐतिहासिक सिद्धान्त, भूत-कालसे सत्यत्वकी छाप लगावा कर वर्तमान कालमें आई हुई वस्तु नहीं हैं; किन्तु वर्तमान कालके अनुभवके द्वारा उसे पीछे छेजाकर सत्यत्वकी कोटि में बैधानेका प्रयत्न किया गया है। यह इनकी प्रकिया "पीछेसे आगे-भूतसे वर्तमान" न हो कर "आगेसे पीछे-वर्तमानसे भूत है"। और यही प्रकिया तत्वविवेकक ऐतिहासिक पद्धतिकी जड़में भी है। मैक्समार्छा नामक ऐतिहासिकने भी यही कहा है। वह लिखता है कि "मनुष्यकी इच्छा-शक्तिकी प्रत्येक कृति, कोई न कोई विचार और हेतुओंसे प्रेरित होती है। इसलिये मनुष्य वर्तमान कालके अनुभव परसे अपना सामान्य सिद्धान्त निश्चित कर और उस सिद्धान्तका भूतकालकी विस वस्तुस्थितिले आज तक सम्बन्ध नहीं मिलाया गया हो उससे सम्बन्ध मिला कर उस सिद्धान्तकी

सत्यता सिद्ध करता है" † । इस विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि इतिहास कोई नवीन सिद्धान्त नहीं सिखाता किन्तु वास्तविकताके अनुभवसे निमित्त होनेवाले सिद्धान्तोंकी उदाहरण देकर पुष्टि करता है । इस प्रकार इतिहासका क्षेत्र और उसकी शक्ति ज्ञानमें रखनेसे उसके द्वारा अधिक फलप्राप्तिकी इच्छा करने पर यदि वह इच्छा सफल न हुई तो निराश होनेका प्रसंग उपस्थित नहीं होगा ।

† " Self observation teaches man, that every conscious act of will is preceded by some thought and directed to some purpose... Generalizing then, from his own subjective experience, he applies it to the realm of phenomena from which it was not deduced, and to which it did not apply.

Max Nordeau's Interpretation
of History, Chapter II.

प्रकरण दूसरा.

आधिभौतिक शास्त्र.



गत प्रकरणमें किये हुए इतिहास शास्त्रके सर्वांगीन विचारसे यह निष्कर्ष निकला कि सुधारणा शास्त्रके मूल तत्व निश्चित करने की चिकित्सा में इतिहास, वर्तमानकाल और भविष्य काल पर स्वतंत्र रीतिसे प्रकाश नहीं डाल सकता। किंबहुना उस इतिहासकी गूँथ सुलझानेके लिये वर्तमान कालके धर्माथे ज्ञानकी आवश्यकता होती है। इतिहास, फिर चाहे वह तीन प्रकारों—वर्णनात्मक, विवेचनात्मक, और भीमासात्मक—मेंसे किसी भी प्रकारका क्यों न हो। इस कार्यमें केवल अंशतः सहायक होता है। ऐसी अवस्थामें अब इसकी शोध करना आवश्यक है कि वर्तमान कालका धर्माथे ज्ञान दूसरे किस ढाँचेसे होता है।

भौतिक शास्त्रवादियोंका कहना है कि न केवल वर्तमानमें ही किन्तु प्रत्येक कालमें मनुष्योंकी कर्तव्येच्छा साधन संपत्तिपर अवलंबित रहती है। यदि वह साधन संपत्ति प्राप्त नहुई अथवा उसके प्राप्त करनेका मार्ग मालूम न हुआ तो उसके अभावके कारण मनुष्यकी प्रगतिमें अपने आप न्यूनता रहेगी। अतएव सृष्टिके पंच-महाभूतकी अपार साधन संपत्तिक शोध कर जहाँ तक हो सके उसका उपयोग कर सकनेका ज्ञान प्राप्त करनाही सुधारणा शास्त्रका बीज मंत्र है। इन लोगोंका यह भी कहना है कि मनुष्यका कार्यक्षेत्र सृष्टि है जोकि भौतिक है। अतएव सृष्टिके षटकावयवोंका शास्त्रीय ज्ञान हो जाने पर सुधारणाकी कुंजी हाथमें आ जाती है।

गत प्रकरणमें एक स्थान पर यह उल्लेख किया गया है कि विश्व समग्र भौतिक शास्त्रकी प्रगति नहीं हुई थी उस समय बहुतसी अज्ञात बस्तुस्थितियोंके विषयोंमें उस समयके लोग किसी न किसी गुप्त शक्तिकी कल्पनाका उपयोग करते थे। कोई इस शक्तिको देवता कहते थे और कोई भूत पिशाच। परन्तु ज्यों ज्यों शास्त्रीयज्ञानकी वृद्धि होने लगी ल्यों ल्यों अज्ञात बातोंका

रहस्य समझमें आने लगा और भौतिक शास्त्रका अधिकाधिक विस्तार होने लगा । जब तक किसी कार्यका उसके कारणसे जो सम्बन्ध होता है वह अप-नेको विदित नहीं होता तब तक उस सम्बन्धके बजाय कोई दूसरी कल्प-निक उपपत्ति लगानेका प्रयत्न किया जाता है परन्तु सम्बन्ध माझूम हो जाने पर मनुष्यकी कर्तव्य शक्तिका क्षेत्र अधिकाधिक विस्तृत होने लगा है । इसी पद्धतिको सुधारणा कहते हैं । आफके द्वारा चल्नेवाली रेखानाहीको पहले पहल देखनेवाले लोग इसके आविष्कारों बँटको जाहूगर मानते थे । इसी प्रकार अमेरिकाके साइबर्णा लोगोंको जिस समय छेदन कला ज्ञात नहीं थी उस समय एक गोरे मजदूरके लकड़ीके छिछपे पर संदेशा लिख कर अपनी बीसे गुमिया भगवाने पर इस सीधी सीधी बातकी भीमांसो-लेपन कलाके ज्ञानके अभावके कारण लोगोंने देवी चमत्कारकी कल्पनासे ही की थी । इस परसे यह सिद्ध होता है कि जब मनुष्य अपनी कर्तव्य शक्तिसे दिन पर दिन सृष्टिके पंचमहाभूतोंके गुणधर्मोंके अधिकाधिक धारण करने लगा है और तीन राक्षसोंकी कृपाके समान उन भूतोंको अपना दास बना लेता है तभी सुधारणा होती है । अतएव इस सुधारणाके तत्त्व जान-नेका साधन भौतिक शास्त्रके ज्ञानके सिवाय दूसरा और क्या हो सकता है ? वर्तमानमें भी जो हम यह कहते हैं कि यूरोपखंड सुधरा हुआ है और आफ्रिकार्यंद्र खंगली हालतमें है, इस कहनेका प्रयोजन क्या है ? यही कि यूरोपखंडमें रेलवे, तार, विद्युत्तारका तार, विमान, ऊड़ाज जहाज, जलके भीतर चलनेवाली नौकाएँ, हजारों योजनाकी दूरी परसे भी यथातथ्य सुन-नेवाले ध्वनिबाहक यंत्र, छाटों भाइल दूरी परकी चलती फिरती घटनाओं के चित्र, उन्ही समय आँटोंके सम्मूह पढ़े कर सकनेवाली चित्रकला आदि बातें हैं, जिन्हें हम सुधारणा कहते हैं । आफ्रिका खंडमें इन बातोंकी अभाव है । इस सुधारणाके तत्त्व इन सब चमत्कारोंका ज्ञान करादेने-वाले शास्त्रके नियम हमरी जगह करी निक सकतें हैं ? अतएव भौतिक-शास्त्रही सुधारणाका आदि तत्त्व है, यह भौतिक शास्त्रवातियोंका सिद्धान्त है । इसके सिवाय इस सिद्धान्तके पुरस्कर्ताओंके मतानुसार इस शास्त्रमें एक या त्रिनेप गुण और हैं कि यह शास्त्र इतिहास शास्त्रके समान वर्तमानकी नहीं भूत्ता । ज्ञानतंत्र जो प्रगति दृष्ट है उसके अनुसार तदा उन्हीके आधारमें भौतिक शास्त्रकी प्रगति होती है । वर्तमानकालकी स्थितिको

विगाहकी ओटमें छिपा कर पूर्व काळकी स्थितिपरसे इसकी कोई प्रगति नहीं करता । पचीस माहूळकी दूरी परके अनेव किछोंको घरा-घायी कर देनेवाली तोपोंके अस्तित्वके समयमें कोई भी वाक्यसे कूट-बेवाली बंदूकोका आश्रय नहीं लेगा । जहाँ क्षणमात्रमें हजारों यौन-जकी दूरीपर समाचार भेजे जाते हों वहाँ समाचार भेजनेके लिये सांडनी सवारका उपयोग भला कौन करेगा ? अर्थात् वर्तमानकाळकी परिस्थिति और उस समय तक नैतिक शास्त्रीक मितनी प्रगति हो चुकी हो वह अनुप्य, 'आसिके स्मरणसे कमी नष्ट नहीं हो सकती । अतएव मूलकाळके अनुभवसे सिद्ध हुए तत्वोंको वर्तमानकाळके ज्ञानके प्रकाश द्वारा व्यवहारमें लाकर सुधारणा करनेवाला नैतिक शास्त्र (यही समुच्चयार्थी एक वचनका व्यवहार किया गया है) ही सुधारणाके तत्वोंको जाननेका मुख्य साधन है ।

यह विचारसरणी यूरोप खंडमें करीब तीनसौ वर्षोंसे प्रचलित है । और दिनपर दिन विस्तृत होती हुई आजकी विचार माछिकामें मुख्य स्थान इसीको प्राप्त है । यह कहना अनुचित नहीं होगा कि इस विचारसरणीका प्रथम पुरस्कर्ता प्रसिद्ध डॉक्ट वेकन था । हमारे कहनेका यह उद्देश्य नहीं है कि वेकनके पहिले यह नहीं थी किन्तु प्रयोजन इतना ही है कि अपनी बुद्धि और कर्तव्य के बल पर पद्धति पूर्वक उक्त विचारसरणीको अगले सामने रखनेका और उसकी शिष्य शास्त्रात्पन्न कर देनेका प्रथम श्रेय वेकनको ही प्राप्त है । वेकनका तत्व ज्ञान (वास्तवमें देखा जाय तो आर्य पद्धतिसे वेकनकी विचार प्रणाली तत्व ज्ञान कहलानेके योग्य नहीं है ।) नैतिक शास्त्रोंका चिकित्सक बुद्धिसे विवेचन करनेवाला संप्रदाय है । सृष्टिके पदार्थोंका सूक्ष्म निरीक्षण करते समय प्रसंग-विशेष पर अनुभवमें आवे-हुए, उन पदार्थोंके गुण धर्मोंका प्रयोगके द्वारा निस्वतः सिद्ध हो जाने पर उन्हें सिद्धान्त मानना ही इस पद्धतिका बीज मंत्र है । इस पद्धतिको अंगरेजी भाषामें Induction कहते हैं । इस पद्धतिके अवलंबनके द्वारा मूल सृष्टिकी चिकित्साका प्रारंभ, और कल्पक अनुप्यके अस्तित्वसे भिन्न २ आत्मिकार प्रगट होनेसे ऊपर कहे अनुसार आज सृष्टिका रूप ही बदल गया है । मूलकाळकी वर्तमान काळसे गुलवा करते समय जो यह कहा जाता है कि आजका समय सुधारणाके मार्गमें बहुत आगे बढ़ गया है, सो इसी आगे बढ़ने—मूल और वर्तमानकाळके प्रगति रूप अंतरका नाम सुधारणा है । और

यह अक्षर किन साधनोंके द्वारा होता है वे साधनही सुधारणा शास्त्रके भाँड़े बतलव हैं ।

परन्तु केवल इतने ही विवेचनसे यहाँ यह शंका होगी कि ऊपर कही हुई बातें (रेश, तार, इबाई, जहाज, टेलिफोन आदि) भौतिक सुधारणाके परस्परमें एक दूसरेसे असम्बद्ध नमूने हैं । भौतिक शास्त्रकाही नाम सुधारणा शास्त्र होनेके लिये इन भिन्न २ उदाहरणोंकी कारण परंपरामें संगति होना चाहिये । और उस संगतिके द्वारा सुधारणा शास्त्रके पुरस्कर्ताओंको यह सोप-पक्षिक सिद्ध करना चाहिये कि जगत्की सारी इमारत कैसे बनाई गई ? बिना इसके उक्त पद्धतिको शास्त्रत्व प्राप्त नहीं हो सकता । इस सवेहकी पूर्ण कल्पना कर भौतिक शास्त्र वादियोंने अपनी उपपक्षिको उत्कृष्टान्तिकी प्रामित्यासे पूर्ण बनानेका प्रयत्न किया है ।

उत्के सिद्धान्तका संक्षेपसे इस प्रकार वर्णन किया जा सकता है कि— सम्पूर्ण जगत् पदार्थ (matter) मय है । उसमें ऐसी कोई बात नहीं है जो अतीन्द्रिय हो । पदार्थिका मूल-वस्तु परमाणु है जो अत्यंत सूक्ष्म है । इस परमाणुमें गति (motion) करनेकी स्वाभाविक शक्ति है । इस शक्तिके कारण परमाणुमें इलन चलन होती है । और उससे परमाणुओंके भिन्न २ समुदाय बनकर उन्हें आकार प्राप्त होता है । उस आकारवान वस्तुका नाम विशेषसे उल्लेख किया जाता है । परमाणुमें गति रूप शक्तिके योगसे चलन हो कर उसे विशिष्ट रूप प्राप्त होनेकी जो प्रक्रिया होती है वह कुछ नियम विशेषोंसे होती है । इन नियमोंकी उक्त दिन पर दिन एकसे एक अधिक उत्तम और टिकाऊ वस्तु निर्माण करनेकी ओर रहती है । इस-लिये जगत्की जूनी और निर्बल वस्तुएँ नष्ट होती हैं और नवीन वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं । इस नष्ट और उत्पन्न करनेवाली पद्धतिको ही नाम “ जीवन कलह ” है । जीवन कलहके कारण उत्तम वस्तु ही टिक सकती है और निम्न श्रेणीकी वस्तुएँ नष्ट हो जाती हैं । इस प्रकार जगत्की सुधारणा होती जाती है और इसी कारण जगत् दिन पर दिन अधिकाधिक उत्तम स्वरूपको प्राप्त हो रहा है । मनुष्य, जानवर, फल, वृक्ष, जूगमैके-पदार्थ, पक्षी, कट-मछ, मच्छर आदि सबोंके लिये सृष्टिका बही नियम लागू है । इससे ऐसी कोई बात नहीं है जो इन्द्रियातीत अथवा भौतिक शास्त्रकी सर्वाधिक चाहि-

रकी हो । इस प्रकार उन्नमोन्नत वस्तु उत्पन्न होनेकी इस पद्धतिका नाम ही सुधारणा है ।

यह भौतिक शास्त्रवादियोंका सिद्धान्त है । अब अपन इसकी परीक्षा करके यह विचार करें कि यह सिद्धान्त कहाँ तक सत्य है ?

यदि जगत्की उत्पत्ति व निवृत्तिका सिद्धान्त रूपर कहे अनुसार ही माना जाय तो फिर जसमें प्राण, बुद्धि, चैतन्य, ज्ञान आदि सूक्ष्म सृष्टिकी वस्तुओंको कहीं अवसर नहीं मिल सकता । और न परमेश्वरके अस्तित्वकोही कहीं स्थान प्राप्त हो सकता है । किसी प्रधानत रात्रिमें निरञ्ज, स्वच्छ आकाशकी ओर देखने पर प्रत्येक मनुष्यको निशादेवीके उस राष्ट्र विस्तारके अमकार पूर्ण कर्तव्यके प्रति सादर आश्चर्य हुए बिना नहीं रहेगा । जर्मनीके प्रसिद्ध सचिवेता इमेन्युअल कैंडेने भी यही कहा है कि “ जगत्के नियमोंका नित्यत्व और आकाशके अस्तित्व तारोंका समुदाय—इन दो वस्तुओंके देखनेसे कुछे सान्द्रात्म्य होता है ” परन्तु भौतिक शास्त्रवादी इन अमकारोंका भी विवेचन इसी प्रकार करेंगे कि अक्षर उज्यताके कारण दूटे हुए टुकड़ेही तारोंके रूपमें हमें दिखाई पड़ते हैं । इस तरह भौतिक शास्त्रवादियोंके मतानुसार प्रत्येक स्पष्ट अमकारोंका वर्णन भौतिक शास्त्रोंकी सहायतासे हो सकता है । परन्तु उनके इस मत पर अधिक विचार करने पर मात्स्य होगा कि उनका यह मत असमूलक है ।

भौतिक शास्त्रवादियोंके मतकी अहमें मुख्यतया दो असमपूर्ण कल्पनाएँ हैं । पहिली असमपूर्ण कल्पना यह है कि उक्त विचारसरणीमे वे बुद्धि तत्त्वके अस्तित्वको मूल मानते हैं और दूसरी कल्पना यह है कि सृष्टिके निर्जीव पदार्थोंकी जिस एक विशिष्ट शक्तिके कारण उत्पन्न होती है उसी शक्तिका समीच पदार्थों पर भी परिणाम होना वे मानते हैं ।

पहिले यहाँ पर उनकी पहिली मूल अरी हुई कल्पनाका विचार करेंगे । भौतिक शास्त्रकी पूर्णतापर ओ दूसरे आक्षेप हैं उन्हें क्षणभरके लिये एक ओर रखदें तो भी एक मुख्य आक्षेप यह रही जाता है कि भौतिकशास्त्रवादी सृष्टिके असदृश्य और परस्पर भिन्न पदार्थोंकी संगति व उनके मिश्रणके परिणामकी नित्यताके सम्बन्धका जिसकी सहायतासे विचार करना चाहिये उसे मूल मानते हैं । पदार्थ भिन्न भिन्न प्रकारके ज्ञानोंका विषय है । उसे समझ-

मेके लिये बुद्धि अथवा विचारकी आवश्यकता पड़ती है। पदार्थ-ज्ञान होनेकी पूर्व क्रियाको न्याय शास्त्रमें “ इन्द्रियार्थ सात्त्विक्य ” कहा है। पदार्थ ग्रहण करनेमें समर्थ इन्द्रियोका और पदार्थका संयोग होनेपर जो संस्कार मन अथवा बुद्धि पर संक्रामित होते हैं उन्हीके योगसे पदार्थका ज्ञान होता है। मन अथवा बुद्धिकी सुसुप्तावस्थामें पदार्थका संयोग हो जाने पर भी ज्ञान नहीं होता। जैसे मान लीजिए कि अपन किसी विषयके चिन्तनमें लछीन हो गये हैं ऐसी वक्षामें अपने सामनेसे निकल जानेवाला मनुष्य अपनेको नहीं देखलाई पड़ता अथवा किसीके बोलनेपर उसका कहना सुनाई नहीं देता। अपने नेत्र और जानेवालेका आकार, अपने कान और बोलनेवालेके शब्दका संयोग होनेपर भी ज्ञान न होनेका कारण क्या ? यही कि मन अथवा बुद्धि (ये दोनो शब्द यहाँ व्यावहारिक अर्थसे पर्यायवाची मान लिये गये हैं) इनका शास्त्रीय अर्थ दूसरा ही है) उस समय जागृतावस्थामें नहीं थी। जिस प्रकार फोटोक केमेरा खड़ा कर देनेपर और उसके सामने जिसका फोटो लेना हो उसके रहनेपर भी फोटो लेनेके काँचको उस केमरामें छगाये बिना फोटो नहीं उतरता उसी प्रकार ज्ञानकी भी स्थिति है। जिस ज्ञानके योगसे पदार्थके गुण धर्म अपनेको माखूम होते हैं त्रिनके कि कारण भौतिक शास्त्रकी उद्यति की जा सकती है, वह ज्ञान बुद्धिगम्य है। अब प्रश्न यही उठते हैं कि यह बुद्धि किस प्रकार उत्पन्न हुई ? मन कहासे आया ? क्या यह मन परमाणुके हलन चलनसे उत्पन्न हो सकता है ? अथवा जिस परमाणुकी कल्पना मन कर सकता है वही परमाणु क्या मनको उत्पन्न कर सकता है ? क्या मन अथवा बुद्धि भी स्थूल वस्तु हैं ? एक भौतिक शास्त्र वादियोंका प्रथम सिद्धान्त यह है कि मत्सक प्रयोगसे जो पदार्थ इन्द्रिय गोचर हो उमे ही मानना तो एक प्रश्न यह और होता है कि मन और बुद्धि किन् इन्द्रियके गोचर हैं ?। भौतिक शास्त्रवादियोंके मतानुसार इस अंतिम प्रश्नका उत्तर यही होगा कि मन और बुद्धि किसी इन्द्रियके गोचर नहीं है। ऐसी वक्षामें यही आपत्ति उपस्थित होगी कि उनका अस्तित्व

* भौतिकशास्त्रकी अपूर्णताका नक्त विवेचन बहुत अक्षीमें ग्लासगो युनिवर्सिटीके त्रिनिपाल जान फेअरडेके “ Philosophy of Religion धर्मशास्त्रकी भीमागा ” नामक ग्रन्थके आधार पर किया गया है।

नहीं माना जा सकेगा और उनके अस्तित्वको न माननेसे इन्द्रियोंका व्यापार भी नष्ट हो जायगा, उसके नष्ट होनेसे पदार्थ ज्ञान भी नहीं हो सकेगा ।

वादविवादके लिये क्षणभर यही मानलें कि बिना मन और बुद्धिके भी ज्ञान होता है तो प्रश्न यह होता है कि यह ज्ञान नित्य किस प्रकार हो सकता है ? बिना ज्ञानीके ज्ञानका होना निरर्थक है । क्योंकि उसका संस्कार नहीं रह सकेगा । (ज्ञान उत्पन्न होगा फिर कारण न रहनेसे मिट जायगा । दुबारा फिर कारण मिलने पर उत्पन्न होगा और फिर वही दशा रहेगी जो पहलकी हुई) अर्थात् कोई संस्कार नहीं रहेगा और संस्कार न रहनेसे मित्र मित्र समयके पदार्थोंके मित्र मित्र गुण धर्मानुसार होनेवाले ज्ञानोंकी परस्परमें संगति नहीं बैठेगी या सकेगी । अर्थात् ज्ञान क्षणिक हो जायगा । जिस प्रकार मित्र मित्र समयमें लिये हुए फोटो उस उस समयके पदार्थका चित्र दिखा सकते हैं परन्तु उन फोटोसे एक दूसरेकी संगति नहीं बिठलाई जा सकती है, उसी प्रकार ज्ञानकी दशा होगी; परन्तु प्रत्यक्षमे इसके विरुद्ध देखते हैं । ज्ञानको संगत और सुगुंछकावद् देखते हैं । इस लिये जिस प्रकार सीनेनेटोग्राफके द्वारा मित्र मित्र समयोंकी अनेक प्रति-कृतियोंके पुञ्ज हो जाने पर उन सबकी संगति बिठलाई जाती है । उसी प्रकार इन्द्रियों द्वारा समय समय पर होनेवाले ज्ञानको एक स्थान पर संग्रह कर उनकी संगति बिठलानेके लिये मन और बुद्धिकी आवश्यकता है । उस बुद्धिके अस्तित्वके कारणही भौतिक शास्त्रकी वृद्धि होना भी शक्य है । अतएव भौतिक शास्त्र वादियोंके मतानुसार परमाणुओंके स्वामाविक संयोगसे बुद्धिकी उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती । ऐसी दशामें जिस शास्त्रसे बुद्धिकी उत्पत्तिका प्रश्न हल नहीं हो सकता उस शास्त्रकी वृद्धि, बुद्धिके बल पर करनेकी कल्पना, अपने कंधे पर आप बैठनेकी कल्पनाके समान असंभव है ।

भौतिक शास्त्र वादियोंकी विचार सरणीमें जो गृहीत तत्व हैं उनसे पहिला तत्व, प्रत्यक्षके सिवाय किसी अन्यको ज्ञानका साधन नहीं मानना है । परन्तु उनके द्वारा इस तत्त्वका पद पद पर शक्तिक्रमण होता है । वे मानते हैं कि परमाणुकी गति-शक्तिके कारण उसमें हलचल चलन क्रिया होती है । इस पर प्रश्न यह है कि शक्ति क्या है ? क्या यह शक्ति प्रत्यक्ष प्रमाणसे ज्ञानी जा सकती है ? प्रयोग शास्त्रमें इस शक्तिके योगसे होनेवाले पदार्थोंके परिणाम दिखाई पड़ते होंगे; पर क्या शक्ति भी दिखाई पड़ती है ? यदि

नहीं दिखाती तो फिर उसकी कल्पना क्यों करना चाहिये ? क्या वह अमूर्त नहीं है ? इसी प्रकार परमाणु क्या चीज है ? उसे विश्वस्यवदनाका जति सूक्ष्म रजो बिन्दु मानते हो और वह भी मानते हो कि वह सूक्ष्म दर्शक यंत्र अथवा अन्य साधनोंसे दृष्टि गोचर नहीं होता तो क्या फिर उसे मनो-गम्य अतएव अमूर्त नहीं मानना चाहिये ? + और जिस मनके द्वारा परमाणु की व उसकी शक्ति की कल्पना होती है वह मन भी अमूर्त ही है । इस-प्रकार मन, परमाणु और शक्ति-ये भौतिक शास्त्रके तीनों साधन अमूर्त एवं कल्पनीयही ठहरते हैं । फिर ऐसी दृष्टांतें भौतिक शास्त्र वादियोंका यह कहना कि स्थूल इन्द्रियोंके गोचर न होनेवाकी कोई भी वस्तु भौतिक शास्त्र नहीं मानता, वंचना पुत्र अथवा आकाश कुमुदके समान झंझा ठहरता है । उक्त तीनों वस्तुओंके ही समान प्रकाशता, अंतर, कार्य, कारण, परिणाम, गुण धर्म आदि कल्पनाएँ भी मनो-गम्य ही हैं । स्थूल साधनोंके द्वारा वे जानी नहीं जा सकतीं ।

इस जाक्षेपका कुछ लोग यह उत्तर देनेका प्रयत्न करते हैं कि मन, विचार, इति आदि बात एक सूक्ष्मत्वके ही (फिर चाहे इस सूक्ष्मत्वको प्रकृति

+ The clearest headed man of science, man like Huxley, Spencer and Clifford in this country, and like Mulher and due bois Reymond in Germany have told us that the conception, for instance, of a physical atom as final and indivisible, or of a living cell chemically or mechanically constructed, corresponds to nothing that can be conceivably experienced, and is if regarded as a thing that can be felt full of latent contradictions They claim for certain of the leading conceptions of science no more than that they form convenient working hypothesis

Lord Haldane's Essay on " Science and Religion

कहो, शक्ति कहो अथवा भादि तात्व कहो) निम्न निम्न परिणाम हैं x । परन्तु इससे एक आक्षेपका निरसन नहीं होता । जिस शक्ति, प्रकृति अथवा मूल पदार्थके गुण धर्म अथवा प्रक्रिया प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा नहीं जानी जा सकती उसकी कल्पना करना ही भौतिक शास्त्रके पैरोपर कुल्हाड़ी मारना है । जब इस प्रकार अभूर्त बन्तुकी कल्पना ही करना है तो फिर संपूर्ण सृष्टिके नियंता परमेश्वरकी और उसका ज्ञान करानेवाले तात्व ज्ञानकी कल्पना प्रायः करनेमें कौनसी हानि है ?

इस प्रकार भौतिक शास्त्रके प्रथम भ्रम पूर्ण कल्पनाका निराकरण करनेके बाद अब उसकी दूसरी भ्रमपूर्ण कल्पना पर यहां विचार करना उचित होगा । भौतिक शास्त्रवादी निर्जीव पदार्थ और सजीव पदार्थोंके नियम एक ही प्रकार के मानते हैं तो विचार यह करना है कि क्या उनका यह सिद्धान्त सत्य है ? जबकि निर्जीव और सजीव पदार्थोंका एकही नियम है तो प्रश्न यह होता है कि किस प्रकार निर्जीव पदार्थपर रासायनिक क्रियासे प्रयोग करनेपर उससे दूसरा पदार्थ उत्पन्न हो सकता है उसी प्रकार क्या प्राण भी किसी कृत्रिम, यांत्रिक अथवा रासायनिक प्रक्रियासे उत्पन्न हो सकता है ? † अभी तक तो यह प्रयोग सफल नहीं हो सका है । सजीव पदार्थोंका जो अल्पतम घटकअवयव है उसे प्राचीन भाषामें ProtoPlasm प्रोटोप्लाज्म अथवा जीव परमाणु कहते हैं । इसका रासायनिक मिश्रण भी शास्त्रज्ञोंको माशूम हो गया है । कहा जाता है कि

x A third system has been in vogue amongst some physicists of an earlier day and among some biologist of now, viz. that mind, thought, Consciousness are all by-products, epiphenomena of one fundamental, all-embracing reality which some may call matter, some energy and some substance. " In this category, we find Tyndal, and here we consistently also find Haeckel "

" Life and matter by Sir Oliver Lodge."

† इस संबंधमें प्रसिद्ध शास्त्रज्ञ सर आल्बिन्डूरलाबने भी अपने Man and universe नामक ग्रंथमें यही लिखा है ।

यह पदार्थ अविस्मयन नाइट्रोजन, हायड्रोजन और कार्बनके मिश्रणसे बनता है । परन्तु शास्त्रियों द्वारा की हुई यह थिकिस्ता जीवित प्राण परिमाणुकी नहीं मानी जा सकती, किन्तु मृत परमाणुकी ही मानना उचित होगा । क्योंकि जीव परिमाणुके मिश्रण-द्रव्य साष्टम होनेपर भी जीवित परमाणु उत्पन्न नहीं किया जा सका है । अतएव जीवित परमाणुमें और उक्त द्रव्योंके मिश्रणसे उत्पन्न परमाणुमें अवश्य कोई महत्त्व पूर्ण अंतर होनाही चाहिये । ऐसी उद्यामें भौतिक शास्त्रको भी यह माने बिना गर्वन्तर नहीं है कि प्राण परमाणुमें अवश्य कोई असाध्य और असाध्य शक्ति है । *

एक नवीन पक्षका यह कहना है कि प्रकृतिके सम्बन्धमें इस ऊंची कल्पनाके कारण कि यह अद्, अछल रहित और परविकार्य है, अतएव उसके द्वारा मन, बुद्धि अथवा शक्तिका उत्पन्न होना संभव नहीं है, भौतिक शास्त्र पर यह दोष लगाया जाना कि यह भी बुद्धि आदिके सम्बन्धमें कोई संवेद रहित मत्त प्रतिपादन नहीं कर सकता, ठीक नहीं । वास्तवमें इन सब वस्तुओंका-बुद्धि आदिका समावेश प्रकृतिमेंही होता है । जिसमें प्राण, बुद्धि आदि जीव-सृष्टिके गुणधर्म मौजूद हों ऐसी सृष्टिकोही प्रकृति (Matter) कहना चाहिये । जर्मनीके विद्वानशास्त्री ल्युडविग हुबेरेने इस नवीन पक्षके कहनेको बहुत महत्त्व दिया था । यह कहता है कि “ प्रकृति-परमाणुमें

“ Does science account the life of the lowest animal, the tiniest plant, the simplest cell, hardly any visible but yet self-removing object in the field of microscope ? and science in chagrin has confessed that in this direction it has failed. It has not yet witnessed the origin of the smallest trace of life from dead matter. Given the life of a single cell, science would esteem itself competent to trace its evolution into all the myriad existences of plant, animal and man. But the origin of protoplasmic activity itself as yet deludes it.

.. Sir Oliver Lodge's "Man and Universe" P 18,19.

उत्सर्ग प्राण, बुद्धि आदिसे युक्त परमाणुसे है । * " परन्तु हमारे मतेसे नवीन पक्षके इस कहनेमें कुछ भी सार नहीं है । यह केवल शब्दच्छल है । शब्दका वास्तविक अर्थ न करके शीघ्र तानसे अपवा प्रयोजनभूत अर्थही टीक भाषा जाय तो बातही दूसरी है । नहीं तो ' प्रकृति ' शब्दसे साधारण-तया जो कल्पना होती है उस कल्पनामय वस्तुमें प्राणादि शक्तिका बीज है या नहीं यही विचारणीय है । जो प्राणयुक्त परमाणुको ही प्रकृति मानना हो तो उस प्रकृतिमें प्राणके अस्तित्वको सिद्ध करनेके लिये किसी तर्क वाचस्पतिकी आवश्यकता नहीं है । गधेको गधा न कह कर ऊने कानवाला, बोझे डोनेवाला और धूरे पर लौटनेवाला घोडा कहा तो वस्तु एक होने पर भी शब्दमें केवल अंतर रहेगा । उन जोरोंसे कोई वादही नहीं है जो किसी कल्पनाका मनमाने शब्दोंसे उल्लेख करते हों । केवल यह उच्च मान लेने पर कि स्थूल सृष्टिमें प्राण धारणादि शक्तिका अभाव है फिर चाहे उस स्थूल सृष्टिका किसी भी शब्दसे उल्लेख किया जाय उसमें कोई हानि नहीं ।

कमी न कमी-जाज नहीं तो एक प्रकृतिके द्वारा चैतन्य उत्पन्न होनेकी भाशा करनेवाले भौतिकशास्त्र वादियोंको अंतमें ऊपर कही हुई अममय कल्पनाओंका ही आश्रय लेना पड़ता है । कितनेही शास्त्रज्ञोंने ऐसी भाषा व्यक्त भी की है । हक्सले नामक प्रसिद्ध भौतिकशास्त्री कहता है कि " जिस प्रकार उष्णता, विद्युत आदि शक्तियों निर्माणकी बातकही हैं उसी प्रकार विचार,

* The endless objections that are continually urged against the materialist view are entirely due to the wrong idea that has hitherto been associated with the term matter. If a man starts with the idea that matter is hard, inert, devoid of intrinsic movement, and incapable of producing such phenomena as mind and consciousness..... it is in vain to try to inspire him with a sounder view..... To conceive matter thus is..... characteristic of a low grade of mental development.

Ludwig Buchner's " Last word on materialism. "

बुद्धि आदि शक्तियोंके निर्माण करनेका भी उपाय अवश्य मिलेगा । और जिस प्रकार मूलकाष्ठसे वर्तमान और भविष्यकाष्ठ उत्पन्न होता है उसी तरह प्रकृतिके द्वारा ज्ञान और चैतन्य कदाचित् उत्पन्न होंगे । ”

परन्तु इस कहनेके साथ साथ उसे विवश होकर यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि “ प्रकृतिकी परिणत अवस्थामें प्राण अथवा बुद्धिके बीज उत्पन्न होना एक प्रकारसे अरेबियन नाइट्सकी अलाउडीनकी चिरागसे राखत उत्पन्न होनेके समान अगम्य है ” ।

मूल शास्त्रवादी हेकेलका कहना है कि ज्ञान, विचार, बुद्धि आदि सब, भस्तिष्ककी बाह्यत्वकाकी प्रथिपेक्षीके विकार हैं अतएव इनका जनकत्व पदार्थ-विज्ञानशास्त्र अथवा रसायनशास्त्रकोही दिया जा सकता है । इसनाही नहीं किन्तु आत्मा भी एक मूल सृष्टिकाही परिणाम है । परन्तु अब इससे यह पूछा कि यह परिणाम कैसे होता है ? तब उत्तर नहीं बन पड़नेसे उसे स्वीकार करना पड़ा कि जिस प्रकृति-परमाणुसे बुद्धि अथवा प्राण उत्पन्न होते हैं, उसी परमाणुमें स्वभावतः उन सर्वोंका बीज होता है । इन लोगोंकी इस प्रकारकी कृतिसे यह माफूम होता है “ कि जहाँ इन्हें उत्तर नहीं अब पड़ता और अडचन माफूम होती है वहाँ वे अपने कहने में दूसराही सिद्धान्त-बुसेठ देते हैं और फिर कहने लग जाते हैं कि हमाराही कहना ठीक है ।

1 Huxley's essay in “ Macmillan's Magazine ” vol. XII p 78

2 Consciousness, thought, etc are functions of the ganglionic cells of the cortex of the brain..... ..
.. and must be reduced to the phenomena of physics and chemistry.

3 “ What we call the soul is in my opinion a natural phenomenon. ”

4 on these phenomena we base our conviction that even the atom is not without a rudimentary form of sensation or will, or as can be better expressed, of feeling. ”

हमका यह दर्ग जिस दुसका नाम न माखूम हो उसे विहायती झाड़ कह देनेके समान है । यह लोग भी जिस रहस्यका स्पष्टीकरण नहीं कर सकते उसका कोई छंवा और छचकीला नाम रखकर यह कह देते हैं कि " यह येसाही कुछ है । " परंतु जो प्रामाणिक वाल्मी हैं वे स्पष्ट रीतिते स्वीकार करते हैं कि प्रकृति और चैतन्य स्वभावतः भिन्न हैं । जर्मनशास्त्री प्युंटेने जय भौतिकशास्त्रोंका अभ्यास करना प्रारभ किया तब वह मानसशास्त्रको भी पदार्थ विज्ञानशास्त्रोंमें सम्मिलित करता था । परंतु तीसवर्षके मननके पश्चात् उसे माखूम हुआ कि यह दोनों शास्त्र भिन्न भिन्न हैं और इस लिये वह कहने लगा कि " मेरा पहिलेका विश्वास एक प्रकारसे मेरी धार्यावस्थामें किया हुआ पाप है । जय मेरा विश्वास हो गया कि मानसशास्त्र अतीन्द्रिय शास्त्र है । "

इस सर्वधर्ममें छार्ड हास्डेनने जो ह्मकेण्टके छार्ड चेन्सलर ये कुछ वर्षों पहिले एक न्याख्यान दिया था । उसका कुछ सुंदर अंश धाधवीय होनेसे हम यहाँ देते हैं । वे कहते हैं कि " भौतिक शास्त्रोंके मतानुसार बुद्धि, मन आदि विकार प्रकृतिके परमाणुकी गति विशेषके ही परिणाम हैं । इस कल्पनाको सत्य मानकर अपन काककी मूलमें जाकर यह कल्पना करें कि (उस समय) सम्पूर्ण जगत प्रकृतिके अस्तव्यस्त परमाणुओंका एक महासागर है । इस परमाणु महासागरका अपनेको ज्ञान किससे होगा ? उत्तर दिया जाता है कि रहिते ? । तो रहिते द्वारा जिस पदार्थका ज्ञान होता है उसका रूप अथवा वर्ण होना चाहिये । अब यह विचारणीय रहा कि यह रूप क्या पदार्थ है ? यह पदार्थका कोई गुण विशेष है अथवा अपने अस्तित्त्वका विकार है ? इस प्रश्नका भौतिक शास्त्र यह उत्तर देते हैं कि पदार्थ और अपने बीचमें जो हवा होती है उस हवामें रहनेवाली प्रकाश कहरोंके कारण नेत्र पदरपर जो परिणाम होता है वह रूप है । प्रकाश कहरोंके प्रवाहने नेत्ररूपी वर्णपर परिणाम होता है और वह परिणाम अस्तित्त्व तक पहुँचता है जिससे रूपका ज्ञान होता है । अस्तित्त्व और नेत्रोंका संबंध दूट जानेपर रूपका ज्ञान नहीं होता । सारांश यह कि पदार्थमें रूप नामक कोई स्वतंत्र धर्म नहीं है । किन्तु नेत्रोंके द्वारा अस्तित्त्वपर होनेवाले परिणामका ही नाम रूप है । इसी तरह रस, स्पर्श, गंध आदि भी पदार्थके स्वतंत्र गुण न होकर उन उन रसियोंको ग्रहण करनेवाले इंद्रियों द्वारा अस्तित्त्वपर होनेवाले परिणाम ही माने जावेंगे । अर्थात् प्रकृतिका ज्ञान होनेका साधन पदार्थमें न मान कर

इन्द्रियों द्वारा प्रदरुण करनेवाले मस्तिष्कमें मानना पड़ेगा अथवा जिन्हें अपन प्रकृतिका गुणधर्म कहते हैं और जिनके द्वारा पदार्थोंका ज्ञान अपनेको होता है वे रूप, रस, गंध स्पर्श आदि गुण पदार्थोंके न मानकर उन्हें मस्तिष्कके विकार मानना पड़ेगा । ऐसी दृष्टातें यदि " द्वैधीभवति मे मन. " वाली अपनी अवस्था हो जाय तो आश्चर्य नहीं है । क्योंकि यदि भौतिक ज्ञान ठीक माने जाय तो ऊपर कहे अनुसार पदार्थोंके गुण धर्म पदार्थोंके न मान करके मस्तिष्कके विकार मानना पड़ेंगे । नहीं तो यह मानना पड़ेगा कि आधि भौतिक ज्ञान एक केवल दृष्टि है । और वह दृश्य पदार्थोंके उस ओर नहीं जा सकता इस कारण अपूर्ण है । ऊपर दिये उदाहरणका गोरक संघा यहीं पूर्ण नहीं होता यह और भी आगे जाता है । शास्त्रोंके कहे अनुसार यही मान लिया जाय कि पदार्थोंका गुण धर्म मस्तिष्कका ही विकार है तो फिर मस्तिष्क क्या है । मस्तिष्कका निश्चय भी तो इन्द्रियोंके द्वारा किया जाता है । और इन्द्रियोंका अवलोकन मन का विकार है । सिद्धान्त यह निकला कि ज्ञान पदार्थ मनुको उत्पन्न नहीं करते किन्तु मनुही पदार्थोंकी उत्पत्ति करता है । अर्थात् सर्व चराचर जगत सत्य नहीं है वह केवल मनका विकार है कि माना नहीं जा सकता । अतः इस विचारसरणीसे यह सिद्ध हुआ कि वर्तमान भौतिक ज्ञान असंपूर्ण है । " जगत् सत्त्वमेता कैन्टने भी यही निष्कर्ष निकाला है कि " जगतके ज्ञान सागरमें बेचारे भौतिक ज्ञानका आन्दोलन मस्तिष्कके प्रभावसे नापनेपर एक बिंदुके समान भी नहीं है " ॥

इस प्रकरणमें पीछे एक स्थानपर ब्यूटे नामक एक जर्मनसत्यवेत्ताका उद्धृत किया गया है । इस सत्यवेत्ताने सृष्टिके प्राथमिक स्वरूपका वर्तमानकारक शास्त्रीय पद्धतिसे अभ्यास करनेके बाद सन् १८५२ के लगभग " मानव आत्मा और इतर प्राणियोंकी जातिके मानसशास्त्र पर व्याख्यान " नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया । इस ग्रन्थमें प्रयत्नकारने भौतिकज्ञान वादियोंके पक्षका पूर्ण-तया समर्थन किया था । उसने लिखा है कि प्रत्यक्ष अनुभवके सिवाय को-यात प्रहण करना उचित नहीं है और इस रीतिसे सम्पूर्ण सृष्टिको व्याकलन

The microscopic activity of the scientific world has not contributed nearly so much to science as a single brain with thinking power.

किया जा सकता है । परंतु जब वह हस्तपादादि स्थूल इन्द्रियोंके सिवाय मत्स्यक्ष अनुभवमें न आनेवाली ज्ञानेन्द्रियोंके अस्तित्वका निश्चय करने लगा तब उसे कुछ संदेह हुआ । उसने इसका निर्णय इस प्रकार किया कि जिस तरह एक धिकने और चमकदार पत्रे पर पदार्थका प्रतिबिंब पढ़नेमें पदार्थ दर्शनके सिवाय दूसरे किसी भी व्यापारकी आवश्यकता नहीं होती वही तरह ज्ञानमय मन और बुद्धिरूप पत्रे पर पदार्थका प्रकाश पढ़तेही उस पदार्थका ज्ञान होता है । परंतु मन ज्ञानमय कैसे हुआ ? इसीका निर्णय उसके उत्तरसे न हो सका । इसके सिवाय आत्मा क्या पदार्थ है ? इसका निर्णय करते समय उसे इससे भी अधिक अद्भुत आई । जीवका किस तरह जन्म होता है ? वह जन्मके पहिले भी होता है या नहीं ? उच्छ्वासिके तत्वके अनुसार वह कहीं न कहीं होना चाहिये तो फिर ऐसी क्यासे भूल और वर्तमान कालके स्वरूपमें एकाल्पता सिद्ध करनेवाली चम्पु कौनसी है ? यदि कोई वस्तु नहीं है तो फिर एककाही दूसरा उच्छ्वासित रूप है यह कैसे कहा जा सकता है ? क्या मनही तो एकाल्पता सिद्ध करनेवाली चम्पु नहीं है ? इन प्रश्नोंका उत्तर वह स्वयं इस प्रकार देता है कि " नहीं । आत्मा मनसे बिल्कुल भिन्न और व्यापक है । बुद्धि विषयक सम्पूर्ण इन्द्रियोंके एकीकरणसे भी वह अधिक व्यापक है । उसमें न केवल विचारशक्तिका ही किन्तु इच्छाशक्ति और क्रियाशक्तिका भी अंतर्भाव होता है । मन आत्माका केवल एक भाग मात्र है । " ❀

उक्त तत्ववेत्ता खुदने जीवनभर आत्माके स्वरूप पर विचार किया, परंतु उससे निर्णय न हो सका । जब भौतिक शास्त्ररूपी जहाजी वेहेसे इस शंकारूपी झिल्लेका पतन नहीं किया जा सका, तब उसने अपने पहिले ग्रंथके तीसरे वर्ष

❀ " Is the true nature of the soul nothing else but our mental life itself ? No the idea of soul is for more comprehensive. It is much more than the mere totality of intellectual faculties It embraces not merely mental powers but also sensation and volition. The mind (animus) is only a part of the soul (anima). " -

बाद एक " Physiological Psychology " " शारीरिक मानसशास्त्र " नामक ग्रंथ लिखा । जिसमें उसने भौतिक शास्त्रका अपूर्णत्व स्वीकार किया और अपने पहले ग्रंथको " पूर्वावस्थामें किया हुआ पाप " की उपमा दी । और यह उद्घोषा कि जगत्के स्पष्टीकरणमें ऐसा कुछ भाग है जो अतीन्द्रिय है और जिसे जाननेके लिये भौतिकशास्त्र असमर्थ है ।

इस प्रकार पश्चात्पश्चात् सूक्ष्म भौतिकशास्त्रकी शक्तिके सम्मन्धमें विवेचन किया गया है । ईसाकी बीस शताब्दियोंका समय खर्च कर दे यहाँ तक पहुँचे हैं । परंतु भारतवर्षमें तो इसी विषयपर पांच छह हजार वर्ष पहलेही विचार किया जा चुका है यहाँ (भारतमें) इस विषयपर सार्वजनिक रीतियों चर्चा हुआ करती थी । और इस प्रकारके समारंभमें आनेके लिये निम्न निम्न देशोंके तत्त्ववेत्ताओंको विमंथन दिया जाता था और बादविवादमें यद्यत्की होनेवाले विद्वानोंके लिये गौघन अथवा सुवर्णमुद्राओंका पारितोषक निवत्त किया जाता था । प्रोफेसर मेक्समूलरने अपने " पंद्रह वर्षों का संग्रह (Six Systems of Indian Philosophy) नामक ग्रंथमें आदर्श प्रगट करते हुये आदर्शपूर्वक लिखा है कि " क्या जगत्के इतिहासमें कोई ऐसा देश (भारतके सिवाय) मिल सकता है जिसमें तत्त्वज्ञानके विचारार्थ बड़ी बड़ी समारंभ करवाकर बादविवादमें जय प्राप्त करनेवाले पंडितोंको पारितोषक देनेवाले राजा हुये हों ? । बृहदारण्यकोपनिषद्में ऐसे ही एक प्रसंगका वर्णन किया गया है । वर्णन इस प्रकार है कि मिथिलाके राजा जनकने एक बड़ा अन्न किया और सब देशोंके विद्वानोंको विमंथित किया । और यह घोषणा की कि जो ब्राह्मण बादविवादमें श्रेष्ठ होगा उसे सींगोंसे एक दश सीनेकी सुहर चाय कर गाव पारितोषिकमें दी जावेगी । बादविवादका आरंभ हुआ । " आर्षेत्कारव आर्तनाग नामक पंडितने जनकके पुत्र पाण्डवकल्पसे प्रश्न किया कि अन्न मनुष्य मर जाता है तब उसकी चाचा अक्षितत्त्वमें, मय चन्द्रतत्त्वमें और ओगैन्द्रिय वर्तुणोंद्विजाओंमें मिल जाती है तथा अन्य इन्द्रियाणी इसी प्रकार बाह्यपृष्ठमें लोप हो जाती हैं सो फिर उस समय पुरुष कहाँ रहता है ? । इस प्रश्नका उत्तर उस समय पाण्डवकल्पने इस प्रकार दिया कि " मैं तुम्हें इसका रहस्य कहेगा, परंतु एकान्तमें चले " । फिर एक दूसरेही अवसर पर एक उपनिषद्में इन प्रश्नोंका उत्तर उनके द्वारा प्रगट रीतियोंसे दिखाया गया है । उस दूसरे अवसरमें " उदात्तक भारणी " ने प्रश्न किया है कि मिला मूलतत्त्वमें

यह मूल सृष्टि है उन अंतर्दामी मूलका क्या स्वरूप है ?। पाञ्चवक्त्रयने उत्तर-दिया कि वह अंतर्दामी मूल आत्मा है जो कि पृथिवीमें होकर भी स्वभावतः पृथिवीसे भिन्न है । जिसका ज्ञान पृथिवीके ज्ञानसे नहीं होता (अर्थात् जिते नैतिकज्ञान नहीं जान सकते) जिसका पृथिवी बाह्य शरीर होने पर भी अंतरङ्गमे जो उसका (पृथिवीरूपी बाह्य शरीरका) नियमन करता है, वही तेरा सबांतर्दामी आत्मा है । ” ×

उपनिषद् कालके बाद तत्त्व विवेचनके मार्गकी चिकित्सा होना और भी अधिक बढ़ गया था । अतः प्रात्येक मतकी पुष्टिके अर्थ उन मतोंके आचार्योंने अपनी अपनी स्वतंत्र सम्प्रदायें स्थापित कीं थीं । इन सम्प्रदायोंको 'दर्शन' भी कहते हैं । चिकित्सक दृष्टिके अन्वेषणसे एकही प्रमेयका, एकही गृहीत सिद्धान्तके द्वारा विवेचन करनेकी पद्धतिके कारण इन सब दर्शनोंको एक समान महत्त्व नहीं दिया जा सकता । किसी दर्शनमें एक बात सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है जो दूसरे दर्शनमें वही बात गृहीत मानली है । इनमें न्याय और वैशेषिक—इन दो दर्शनोंमे उस समयकी शास्त्रीय ज्ञानकी सामिग्रीपर नैतिक सृष्टिके ज्ञानवीन करनेका प्रयत्न किया है । इन दोनों दर्शनोंमे जगत् रचनाके संबंधमें जो कल्पना की है वह इस प्रकार है कि जगत्में सूक्ष्मतन्मयक अणु है । एक अणु इतनी दृष्टि गोचर नहीं हो सकता । दो अणुओंके एकत्र हो जाने पर वे 'अणुक' कहलाते हैं और तीन 'त्र्यणुक' के एकत्र हो जाने पर वे 'त्र्यणुक' कहलाते हैं । ये त्र्यणुक दृष्टिगोचर होते हैं । किसी छिद्रमेसे सूर्यकी किरणके कारण जो एक प्रकाशकी छकीरली सिंच जाती है उस छकीरमें जो अतंज्य रजोक्षण दिखालाई पड़ते हैं उन रजोक्षणोंमेंसे सबसे सूक्ष्म रज.कण्डीका नाम त्र्यणुक है + । इन्ही त्र्यणुकोंके किसी विशेष क्षणिते एकत्रित हो जाने पर सृष्टिके भिन्न भिन्न पदार्थ बने हैं । यह मत वैशेषिक दर्शनके पुरस्कर्ता महर्षि कणादका है । इस रीतिसे जगत् निर्माण होनेकी इस

× " य पृथिव्या तिष्ठन् पृथिव्या अतर यं पृथिवी न वेद, यत्न पृथिवी शरीरं य पृथिवीमन्तरा यमयति एव ते आत्मा अतर्दामी अयत्न "।

बृहदारण्यकोपनिषदि छत्रमं ब्राह्मणम् ।

+ आकाशरत्न सूर्यासौ यत्सुभं इत्यते रजः

सागस्तस्य च यद्वो य- परमाणुः स उच्यते ॥

पद्धतिको आरंभवाद कहते हैं। यह पद्धति करीब करीब आजकलके भौतिक-शास्त्रवाधियोंसे (मतसे) मिलती है। तीनचारद्वार वर्ष पहिलेकी और आजकी परिस्थितिमें अंतर पढ़ना एक न्वाभाविक बात है और हम शिने ठोनों समयोंकी भौतिकज्ञानकी साधनसंपत्तिमें भी जमीन भासमानका अंतर होना स्वाभाविक है। इस अंतरको यदि एक ओर रगकर विचार किया जाय तो माहूम होगा कि वैज्ञानिक उर्ध्वान और भौतिकशास्त्रकी विचारसरणी जटमें पकड़ी प्रकारकी है।

सृष्टि विवेचनकी दूसरी एक पद्धति है जिसे परिणामवाद कहते हैं। सार्व-शास्त्र, पातञ्जलयोग और पाण्डुपत मतमें इस पद्धतिकी अवलंबन किया है। इनके मतानुसार जगत्का एक मूलसत्त्व है। जिसे कभी प्रधानतत्त्व कहते हैं और कभी प्रकृति कहते हैं। यह सत्य सत्य, रजस् और तमस इन तीन गुणोंसे युक्त है। और इसी छिये यह गतिमान है। क्योंकि सत्य, रजस् और तमस् गुणोंके कारण उस प्रकृतिके घटक द्रव्योंमें गति होती है। यही शिष्ट-शास्त्रक प्रधानतत्त्वही किसी विशिष्ट प्राकृत्याके द्वारा चराचर स्वरूपमें उत्पन्न होते हैं जिससे यह भौतिक सृष्टि बनती है। इस परिणामवादमें की हुई प्रकृतिकी कल्पना हमने ऊपर उल्लेख किये हुये ' ह्युदयिग्विभेद ' की प्रकृति-कल्पनासे मिलती है। यह लोग प्रकृतिको जट व मानकर उसीमें जीवसत्त्वका अंतर्भाव मानते हैं। परंतु परिणामवाद और बुभेरेके मतमें मुख्य अंतर यह है कि साध्यावितस्यवादी तो मानते हैं कि महत् और अहकारके सिवाय प्रकृति वर्तमानस्य कारण नहीं कर सकती और बुभेरे यह नहीं मानता है।

जगत्संरचनाके प्रश्नको हल करनेवाली तीसरी विचारसरणीका पुरस्कार वेदान्तवादने किया है। इस पद्धतिको विवर्तवाद कहते हैं। इसका मत है कि परब्रह्म जयथा सर्वान्तर्यामी आत्मा प्रकृतिसे स्वभावतः और स्वस्वतः भिन्न है। उसका आकलन प्रकृतिकी सहायतासे कभी नहीं हो सकेगा। वह निर्विकार, विरामकार और निश्चिन्त है। इस छिये यह विकार, आकार और क्रिया, व्यक्त करनेके लिये प्रकृतिका आश्रय लेता है। इस पद्धतिका अंत, अद्वैतवादमें आकर पहुँचा है। अद्वैतवादकी पद्धतिके अनुसार तो प्रकृतिका वास्तवमें कोई अस्तित्वही नहीं रह जाता। वह केवल भासमान अस्तके रूपमें परिणत हो जाती है। परंतु इस प्रकृतिको केवल भासमान-अस्त्य माननेवाली पद्धति और प्रकृतिको सत्य माननेवाली रामानुज बगैरहकी पद्धतिमें यह बात समान-

रीतिसे मानी गई है कि प्रकृति और आत्माका स्वभाव भिन्न भिन्न है और केवल प्रकृतिके द्वारा आत्मस्वरूपका आकलन होना नितान्त अप्रभव है ।

उक्त पददर्शनोके इस प्रकारके विचार पीछेसे सिद्धान्तके समान माने जाने लगे । भगवद्गीतामें उनका सिद्धान्तके समान-वाद कोटिकी सीमाको उल्लंघन कर जानेवाले तत्त्वोंके समान-उल्लेख किया गया है । श्रीकृष्णने अर्जुनको सृष्टिका भौतिक और सूक्ष्म मिश्रित स्वरूप अष्टात्मक कहा है

भूमिरापो नलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥

इस श्लोकमें प्रकृति शब्दका अर्थ बहुत व्यापक है । पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पंचमहाभूतात्मक स्थूल सृष्टि और इनसे बिलकुल भिन्न बुद्धि, मन व अहंकार इन तीनोंको-पंचमहाभूत और बुद्धि आदिको-एक माळामें गूँथ दिया है । क्योंकि बुद्धि, मन व अहंकार, पंचमहाभौतिक सृष्टिकी उत्पत्ति तथा उत्क्रांतिके कार्यमें सहायता देते हैं । वास्तवमें ये न्यारे न्यारे हैं और इसके दो विभाग एक पंचमहाभूतात्मक-दूसरा बुद्धि, मन व अहंकारात्मक-किये जा सकते हैं परंतु इन सबको यदि कभी एकही माळामें गूँथ दिया जाय तो भी

अपरे यमितस्त्वन्यां, प्रकृतिं विद्धि मे पराम्
जीवभूतां महाबाहो ययेवं धार्यते जगत् ॥

इस श्लोकमें यह स्पष्ट कर दिया गया है कि " मिलाके द्वारा जीवोंको जीवत्व प्राप्त होता है और जगद्धारण होता है यह प्रकृति पहली प्रकृतिसे (ऊपर कही हुई प्रकृतिसे) सर्वथा भिन्न है । वर्तमान भौतिक शास्त्रोंकी परिभाषामें यदि कहा जाय तो यों कह सकते हैं कि जीव सृष्टिके प्राण परमाणु (Protoplasm) की बाह्यकाया हाइड्रोजन, नाइट्रोजन आदि वायुरूप हुई तो भी उसमें मनुष्य, मिश्रणके द्वारा प्राण उत्पन्न नहीं कर सकता । क्योंकि यह प्रकृति उन वायु आदिरूप प्रकृतिसे सर्वथा भिन्न है । " वर्तमान आधुनिक शास्त्रके आवि पुत्र सर आल्बिन्सरलाज भी यही कहते हैं *

* But is it to be supposed that the complex aggregate of atoms generated the life and mind in the protoplasm ? That is the so-called Materialistic view but to me it seems an erroneous one and it is certainly one that is not proven.

Sir Oliver Lodge's " Life and Matter. "

“ कि भौतिक शास्त्रवादियोंका यह कहना है कि केवल अनेक परमाणुओंके संयोगसेही प्राण उत्पन्न होते हैं परंतु मेरी बुद्धि इस मतको अन्न पूर्ण मानती है । प्रयोग करने पर यह बात-प्राणोत्पत्ति-असाध्य उद्घर चुकी है । ”

इन्हीं बोधसे शब्दोंका अनुवाद उपनिषत्कालमें भी हुआ है और यह अनुप्यके एक विशेष प्रकारकी मानसिक स्थितिमें होनेवाली विचार समताका अत्यंत आश्चर्यकारक उदाहरण है । बृहदारण्यकोपनिषद्के नववें ब्राह्मणके तीसरे अध्यायमें अनुप्य शरीरको एक वृक्षकी उपमा दी है । जो लोग यह कहते हैं कि अनुप्य और वृक्षके प्राण-परमाणु भौतिक द्रव्यके मिश्रणसे एकसे बने हुये हैं उनके लिए यह वर्णन बहुतही हर्षोत्पादक होगा । “ यथा वृको वनस्पतिः तथैव पुण्यो मृपा ” कहकर अनुप्यके छोम, वृक्षके पत्ते, अनुप्यकी लवचा, वृक्षकी छाल, अनुप्यका रुबिर, वृक्षका रस आदिकी समताका वर्णन करते हुये मुख्य प्रश्न यही किया है किः—

यद् वृक्षोवृण्यणोरोहति, मूलाश्रयतरः पुनः

मर्त्यं स्वित्स्मृत्युना वृण्यः कस्मान्मूलात्प्ररोहति ।

अर्थात् वृक्षके तोड़ देने पर वह बढ़ते फिर बढ़ने लगता है, परंतु मृत्युसे मरा हुआ अनुप्य किस ढङ्गसे बढ़ता है ? यदि इस पर कोई यह कहे कि अनुप्य धीरे धीरे द्वारा उत्पन्न होता है तो यह कहना भी ठीक नहीं है । क्योंकि “ रेतसः इतिना बोधत । जीवतस्तद्यजायते ” अर्थात् धीरे धीरे अनुप्य-मंडी—हो सकेगा फिर उस प्रश्नका उत्तर क्या ? क्या अनुप्यके प्राण उत्पन्न करनेवाली शक्ति कोई परमाणुमें होती है ? तब इसका उत्तर दिया जाता है कि नहीं, “ जात एव न जायते कोन्वेर्न जनयेत्युनः ” अर्थात् पुन्य अक्षय है उसका जन्म नहीं हो सकता । उसे कौन जन्म देगा ? अर्थात् सूक्ष्म स्थूलरूप यादृ वस्तुओंमें जलज वास कर उनमें चैतन्य देनेवाली शक्ति प्राण है । यही तब भौतिकशास्त्री अत्यन्त प्रगतिके समयमें भी उस शास्त्रके पंडित सर आलिम्बरकान प्रतिपादन करते हैं * ऊपर कहे अनुसार यह विचार मान्य वास्तवमें आश्चर्य जनक है ।

* The soul is an underlying permanent reality, that which gives a thing its meaning and attributes. The body is an instrument or mechanism for the mani-

इस प्रकार विवेचन करनेसे जंतमें यही सिद्ध होता है कि जिस सृष्टिमें अपन रहते हैं उस सृष्टिकी स्थूल और जड़ वस्तुओंके सिवाय दूसरी वस्तु-ओंका आकलन वर्तमान भौतिकशास्त्रके द्वारा नहीं हो सकता। मानव-जातिकी सुधारणा, केवल जड़ वस्तुओंके ज्ञानकी प्रगति हो जानेसे नहीं होती। उसकी सुधारणके लिये मानसिक और अतीन्द्रिय बातोंके ज्ञानकी प्रगति होनेकी भी आवश्यकता है। अतएव केवल भौतिक शास्त्रका ज्ञान, इतिहास शास्त्रके समान सुधारणके कार्बमें अक्षतः सहायमूल होने पर भी सुधारणा शास्त्रके आदि तत्त्वका स्थान प्राप्त नहीं कर सकता। मनुष्यकी सामाजिक कृति सदा उसकी इच्छा पर अवलंबित है इसलिये उस इच्छा शक्ति और साध्यका प्रभ हल होना चाहिये और वह बिना मानस शास्त्र तथा तत्त्व ज्ञानके हो नहीं सकता। जो विचारसरणी इन दोनों बातोंकी उपेक्षा करेगी वह सदा अपूर्ण रहेगी।

festation or sensible presentation of what else would be imperceptible. It is useless to ask whether a soul is immortal. A soul is always immortal

Lodge's " Life & Matter. "

प्रकरण तीसरा

अतिभौतिक प्रमाण.



गत प्रकरणमें यह बात सिद्ध हो चुकी है कि सृष्टि केवल जड़ और स्थूले-भौतिक पदार्थोंसे नहीं बनी और इसलिये उस सचची ज्ञान आधिभौतिक-शास्त्रसे पूर्णतया नहीं हो सकता। इसके साथ ही साथ यह बात भी प्रत्यक्षमें आ चुकी है कि जगत्की घटनामें मनुष्य प्राणी एक महत्व पूर्ण घटक है और उसके सब व्यापार विचार धार्मिकी सहायतासे होते हैं। इस विचार धार्मिकी केन्द्र मन है और इस मनकी घटना आधि-भौतिक पदार्थोंकी सहायतासे नहीं हुई है परंतु मनुष्यकी इच्छाधार्मिक युक्त कृतिका परिणाम सुधारणा रूप होनेसे सुधारणा शास्त्रके ज्ञानके किये मानस शास्त्रके ज्ञानकी आवश्यकता है अतएव यह बात विचारणीय है कि मनका परिचय किस प्रकार प्राप्त हो सकता है? और उसका व्यापार किन २ बातों पर अवलंबित है। तथा मनका निवास आधिभौतिक पदार्थोंसे बने हुये शरीरमें होनेसे उसका और शरीरका संबंध क्या है? और उसके जाननेके साधन कौन २ से हैं?

गत यौगलै वर्षोंमें प्राणीशास्त्र (Biology) की वृद्धि बहुत शीघ्रतासे हुई है। इसके पहिले यह बात नहीं मानी जाती थी कि सम्पूर्ण प्राणी-जगत्, सृष्टि पदार्थोंका एक सत्त्वात्मक वर्ग है और इस वर्गके सम्पूर्ण छोटे बड़े उच्च नीच-घटकोंकी रचना एकही प्रक्रियासे हुई है और उसकी सदा वृद्धि होती रहती है। पहिले यही विश्वास था कि प्राणियोंके प्रत्येक वर्गके नियम भिन्न भिन्न हैं। परन्तु प्राणीशास्त्रके उदय होनेके साथही उक्त विश्वास बहुत गंवा और निश्चय हो गया कि ऐसे भी कुछ नियम हैं जो सम्पूर्ण प्राणी वर्गके किये समान हैं और उनकी सहायतासे सम्पूर्ण प्राणियोंके व्यापारोंका नियम बन्द आकरुच्य किया जा सकता है। परंतु प्राणियोंके मनका उद्भवस्थान स्थूल-पदार्थ व होने पर भी उसका सम्पूर्ण व्यवहार स्थूल पदार्थोंसे बने हुये देहके

द्वारा ही होता है अत एव मन और शरीरका दृढ़ संबंध है । इस संबंधका अवलोकन करनेसे यह बात प्रगट हुई है कि मनके विचार अथवा भावनाके अनुसार, उनके साथही साथ मस्तिष्कमें गति होती है और उससे मस्तिष्कके हलन-चलनमें अन्तर पड़ता रहता है ।

यह मन और मस्तिष्कके संबंधकी चिकित्सा करनेवाली प्रत्यक्ष प्रयोग पद्धतिका शिफू नामक एक शास्त्रज्ञने आविष्कार किया है । वर्तमानमें इस पद्धतिका बहुत कुछ प्रचार है । इस विद्वानने सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा मस्तिष्कके बारीक बारीक तन्तुओंकी स्थितिका और उस स्थितिसे होनेवाले अन्तर प्रत्यक्षरका अवलोकन किया और फिर भिन्न भिन्न विद्वानोंके अनुसृत रक्त कर इस पद्धतिको दृढ़ बना दिया । जिस तन्तुप्यकी विचारशक्ति क्षीण होती है उसके मस्तिष्ककी शक्तिके प्हासका प्रमाण मरणके बाद परीक्षा करने पर मस्तिष्कके घटक तन्तुओंकी विशेष रचना परसे स्पष्ट मिल जाता है । यह बात भी मस्तिष्ककी रचना परसे अनुभव सादृश्यके द्वारा निमित्त हो चुकी है कि विशेष प्रकारके रोगोंका मस्तिष्क पर जो परिणाम होता है उस परिणामकी रूप मस्तिष्क पर एक विशेष प्रकारकी ही पड़ती है । यद्यपि यह सब परीक्षा मरणके बाद की गई है तो भी यह बात इसके द्वारा सिद्धान्त कोटिकी पहुंच चुकी है कि तन्तुप्यके स्वभाव और उसके अनुसृत बने हुए मस्तिष्कके नित्य संबंधके कारण मन और मस्तिष्कमें जो संबंध दिखलाई पड़ता है उसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं है । आर्थरलिच नामक लेखकने भी शरीर विज्ञान और भावसशास्त्रके संबंधमें यही कहा है कि इन दोनों शास्त्रके अन्याससे यह दृढ़ अनुभव होता है कि शारीरिक व्यवस्था और मानसिक कृतिमें अपरिहार्य संबंध है । x

x If the two subjects Psychology and Physiology are studied side by side, we become convinced that within the limits of experience certain physical conditions are the inevitable antecedents of certain psychological processes

Lynch's " Psychology, a new system "

डॉ० अलेक्जेंडरवैने भी अपने Mind and Body नामक ग्रंथमें शास्त्रीय प्रयोगोंके सार रूपसे, यह सिद्धा है कि “शरीरविज्ञानशास्त्रके सूक्ष्म अनुभवके द्वारा यह बात निर्विवाद रीतिसे सिद्ध होती है कि मस्तिष्क और मनका समबाध संबंध है”

इस प्रकार मन और मस्तिष्कका विलय संबंध विक्षिप्त हो जानेके कारण यदि सम्पूर्ण प्रकारके प्राणियोंके मस्तिष्ककी परीक्षा करनेसे यह बात सिद्ध हो गई कि निम्न श्रेणीके प्राणीसे लेकर उच्च श्रेणीके मनुष्य प्राणी तक सबके मस्तिष्ककी रचना तत्त्वतः एक ही प्रकारकी है और उच्च श्रेणीके मस्तिष्कमें कोई एक प्रकारकी विक्षिप्त बुद्धि और परिणति दिखालाई देने पर भी यह मस्तिष्क कनिष्ठ श्रेणीके मस्तिष्ककी जातिका ही है तो इससे मानस शास्त्रके ज्ञानमें और भी अधिक विज्ञोपता हो जायेगी। क्योंकि फिर उच्च और नीच-परिष्ठ और कनिष्ठ श्रेणीके मस्तिष्कोंकी तुलना कर यह जान लेतेसे कि दोनोंकी रचनामें कौनसा विशिष्ट अंतर होता जाता है उस अंतरका तत्त्व मात्सूम हो सकेगा और एक प्रकारसे मस्तिष्ककी परिणतिका परंपरा भी मात्सूम हो सकेगी। इस पदसिद्धि की स्वीकार कर उल्लेखिके तत्त्वोंकी सहायतासे अनेक प्रयोगोंके द्वारा हर्बर्टस्पेंसरने यह सिद्ध किया है कि सम्पूर्ण प्राणियोंकी मज्जारचना (Nervous system) एकही प्रकारकी होती है। इस रचनाके फलसत्त्वरूप एक मज्जाग्रथि (Nervous Nodule) होती है। और प्रत्येक मज्जाग्रथिके जो तन्तु (Filaments) होते हैं। इनमें एक तन्तु संवेदनात्मक (Sensory) और दूसरा गतिद्युक्त (Motor) होता है। ऐसी अनेक ग्रथियोंके एकत्रित होनेसे प्राणियोंकी मज्जारचना होती है। जो प्राणी प्रसुप्त कोठिके होते हैं उनकी मज्जारचना अधिक सूक्ष्म और अधिक उलझी हुई होती है। इतनाही अंतर रहता है। मज्जारचनाके कारण मन पर जो परिणाम होता है स्पेंसरने उसका नाम प्रतिबिम्बा (Reflex action) रखा है। और यह सिद्ध किया है कि अचलोकन, ग्रन्थ, स्मरण, सद्सद्विषयक, कल्पना शक्ति, इच्छाशक्ति आदि बुद्धिके भिन्न भिन्न रूप इसी प्रतिबिम्बाके परिणाम हैं। इस मनीषण शोधक एडिके द्वारा उसने अपना मन अतर्मुन्न करके बहुत कुछ अचलोकन किया और उससे भी उसका यही सिद्धांत दृष्ट हुआ। स्पेंसरके पहिले युरोपके मानस शास्त्रीय माहित्यमें जो भिन्न पक्षोंके कारण मनोव्यापारके संबंधमें विज्ञान प्रकाश हुआ

था । सौंके, मिल्क प्रभृति विद्वानोंके पक्षका कहना था कि पहिले पहिल मन संस्कार रहित होता है । फिर जैसे २ संस्कार पड़ते हैं, तिस २ प्रकार अनु-भवा जाता है और जैसे २ विचारोंका साहचर्य होता है उसी प्रकार मक्की गुप्ति पकती जाती है । वेंद वगैरह विद्वानोंका मत था कि तिस प्रकार तार निवारमें बंधे हुए होते हैं और उन पर आघात होते ही उनमेंसे ज्वनि निस्कती है उसी प्रकार मन पर भी मित भिन्न संस्कार पड़े हुए होते हैं और उन पर आघात होते ही वे उद्वेगित हो जाते हैं, वेनो पक्षोंका यह नग भेद श्वेत्स्वरकी उपपत्तिसे नष्टप्राय हो गया । क्योंकि उसने वेंदके मतानुसार यह तो स्वीकार किया ही था कि मन मूलसे ही संस्कारयुक्त होता है; परन्तु साथ ही शौंके, मिल्क, आगिकी यह उपपत्ति भी किसी भजनमें स्वीकार की कि यह संस्कार बहुत समय पहिलेके आनुवंशिक गुणोंसे प्राप्त होता है । और इस लिये यह किसी विशेष प्रसंग या विचार साहचर्यसे व्यवहारमें परिणत हो जाता है ।

इस प्रकार मानसशास्त्री सहायतासे यदि मानसिक व्यापारोंकी विक्रि-म्मा की जाने लगे तो भी इस शास्त्रकी सहायता मर्यादित ही है । क्योंकि वह उक्त पृथक्करणसे आगे नहीं जा सकता । यद्यपि मानसशास्त्रके द्वारा इतना स्पष्टीकरण हो चुका है कि मानसिक प्रतिक्रिया क्या है ? अंतःस्फूर्ति कितने कहते हैं ? सारासार विचार क्या वस्तु है ? और कल्पना शक्ति क्या होती है ?। तो भी इस शास्त्रके द्वारा यह बात निश्चित नहीं कही जा सकती कि किसी विशेष परिस्थितिके समय मनुष्य जातिका वैयक्तिक भयवा सामुदायिक मन अमुक मार्ग स्वीकार करेगा या अमुक विषयमें गमन करेगा । भयवा अमुक व्यवहारसरणीको सारासार विवेकयुक्त या सारासार विवेक रहित मानेगा । और इस कारणने इस शास्त्रके द्वारा धर्म संस्था, समाज रचना, राजकारण आदि मानवीय व्यवहारके प्रमुख अंगोंपर कुछ विशेष प्रकाश पड़नेकी संभावना नहीं की जा सकती । तिस प्रकार व्याकरणके द्वारा शब्दके शुद्धाशुद्धके कारणका ज्ञान होता है उसी प्रकार मानस शास्त्रके द्वारा मानवीय कृतिके भले बुरेका ज्ञान होता है, परन्तु तिस प्रकार व्याकरणके द्वारा यह जानना कठिन है कि अमुक स्थानपर अमुक अर्थ व्यक्त करनेके लिये अमुक प्रकारकी एक योजना करना चाहिये उसी प्रकार मानस शास्त्रसे भी यह जानना-कठिन है कि अमुक अवसर पर अमुक मार्गमें चलना अच्छा या बुरा है ।

इस दृष्टिसे देखने पर इस शास्त्रके लिये भी वही कहना होगा जो गत प्रकरणोंमें इतिहास और आधिभौतिक शास्त्रोंके लिये कहा जा चुका है अर्थात् उपयुक्त होने पर भी सुधारणाके कार्यमें यह अद्यतः सहायक है ।

यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि मानसशास्त्रने व्यवहारमें क्या सहायता दी ? और मानसशास्त्रके उदय होनेके पहिलेकी कौनसी कल्पनाएँ इसने बदल दीं ? इन प्रश्नोंका उत्तर यह है कि मानसशास्त्रने यह निश्चित करके कि विन्दके प्राथिवर्गकी मनोरचनामें एक प्रकारका साम्य है और मनोरचनाका शरीर रचनासे सम्बन्ध है, सुधारणाशास्त्रके विषय निश्चित करनेके कार्यमें एक प्रयत्नकी प्रकाशना उत्पन्न कर दी है । मन वास्तवमें शरीरसे मिला है परन्तु उसका शरीरसे छट् संबन्ध है । यह यदि माहूम नहीं होता तो उस मनकी कृतिकी चिकित्सा किस साधनके द्वारा की जा सकती ? असूर्त होनेके कारण किस प्रकार उसका ब्याह जगाया जा सकता ? और किसके द्वारा उसके व्यापारकी चिकित्सा की जाती ? तथा मनकी सबलता या निर्बलता, उसकी गतिकी तीव्रता मंदताका ज्ञान भी किस साधनके द्वारा हो सकता ? यह बात स्पष्टी है कि किसी व्यक्ति विशेषके सर्वधर्मों इस प्रकारका प्रकाश साधन उपस्थित हो जाय, परन्तु संपूर्ण मनुष्यजाति अथवा इतर प्राणिवर्गके मनके सर्वधर्मों क्या पद्धति निश्चित की जा सकती थी ? मानसशास्त्रने इन सब प्रश्नोंको दूर कर दिया है । और उसके द्वारा प्राणीवर्गकी मनोरचनाकी प्रकाशता सिद्ध हो जानेके कारण अब यह अनुमान किया जा सकता है कि एक कार्यसे एक परिस्थितिमें एकही प्रकारका परिणाम होगा । इस शास्त्रके द्वारा मनुष्य कृतिकी चिकित्साके कार्यमें अधिक सुलभता हो गई है । केवल भावमयता इस बातकी है कि किस परिस्थितिकी मनचिकित्सा करना तो उस परिस्थितिकी ज्ञान भले प्रकार हो ।

इसके उदाहरण, चाहे उस प्रकारके मानवीय व्यवहारमें मिल सकते हैं । आगेके प्रकरणोंमें सुधारणाका उल्लेख इस प्रकार किया गया है कि सामाजिक बंधनोंसे व्यक्तिका पूर्ण मुक्तकारा होनाही सुधारणा है फिर यह बंधन चाहे सामाजिक हो, धार्मिक हो अथवा अन्य प्रकारका हो । इस उल्लेख परसे यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक मनुष्यकी सामाजिक बंधनोंसे मुक्त होनेकी इच्छाका होना स्वाभाविक है । परन्तु इस स्वभावके विरुद्ध यदि किसी व्यक्ति अथवा समुदायकी इच्छा सामाजिक बंधनों सहित ही रहनेकी हुई तो प्रश्न

यह होता है कि इस प्रकारकी इच्छाके होनेका कारण क्या ? इस प्रश्नको हल करनेमें मानसशास्त्र सहायता देगा। यह कहेगा कि मन और मस्तिष्कका निकट संबंध होता है। अतःव्यक्ति अथवा व्यक्ति समुदायके मस्तिष्क पर विचार नाहचर्चसे ऐसा परिणाम हो जाता है अथवा बाह्य परिस्थितिके कारण उनका मस्तिष्क ऐसी अपरिणत अवस्थामें रहता है कि उससे उनमें एक स्वाभाविक इच्छाका भी प्रादुर्भाव नहीं हो पाता। रोग अथवा कमजोरीकी परिस्थितिमें मस्तिष्कके बलहीन हो जानेके कारण मनुष्यको उसके प्रिय व्यवहार की अच्छे नहीं लगते उसी प्रकार बचनमय परिस्थितिमें रहनेके अभ्यासके कारण अमरुत हो जानेवाले मस्तिष्कमें सामाजिक बचनोंसे छूटनेकी स्वाभाविक इच्छा उत्पन्न नहीं होती। इस दृष्टिसे धर्म, समाज, राजकारण आदिके व्यवहार संबंधी अनेक प्रश्न मानसशास्त्रकी दृष्टिसे हल किये जा सकते हैं। स्थूल परिस्थितिके ज्ञान परसे सूत और वर्तमानकालके ज्ञानकी सहायता द्वारा व्यक्तिके मस्तिष्ककी कल्पना होती है और फिर मनसे उसका जो निकट संबंध होता है उस परसे मनके मार्गकी भी चिकित्सा की जा सकती है।

इस पद्धतिसे किसी भी विषयकी चिकित्सा करते समय मन और मस्तिष्कके निकट संबंधके कारण यह नहीं सूझ जाना चाहिये कि मन एक सूक्ष्म पदार्थ है और आधिभौतिक नहीं है। मनकी कृतिके अनुसार मस्तिष्कमें समय समय पर जो परिणाम होता है उसके कारण कई लोगोंको भ्रम हो जाता है और वे समझने लगते हैं कि मस्तिष्कमें होनेवाले परिणामही मनकी क्रियाके किये कारणभूत हैं। और इस भ्रमका यह फल होता है कि वे मस्तिष्कको मुख्य कारण समझकर मनको गौण समझते हैं। वास्तवमें ऐसा जाय तो मस्तिष्कके परिणाम और मनकी कृतिमें कोई कार्य कारणभाव नहीं है। कार्यकारणभावोंमें कारणका पूर्व अस्तित्व और कार्यका पश्चात्कारण-कारणका पहिले होना और कार्यका पीछे-अवश्य होता है। परन्तु मस्तिष्क और मनमें ऐसा कोई संबंध नहीं है। प्रत्युत इससे उल्टा है। क्योंकि पहिले मनकी क्रिया होती है फिर मस्तिष्क पर उसका परिणाम होता है। अत एव मस्तिष्कके परिणाम कारणरूप न होकर मानसिक व्यापारके कार्यरूप हैं। इस कारण पहिले मानसिक व्यापारोंका जो कि कारणरूप है ज्ञान होना आवश्यक है। परंतु यह कारण, मनके स्थूलरूप न होनेसे-सूक्ष्म होनेसे-भौतिकशास्त्रके गम्य नहीं है। और इसलिये यह आधिभौतिक शास्त्रके बाहिरकी बात है।

उसका ज्ञान करनेवाले शास्त्र भी अतीन्द्रिय हैं। इसके संशयमें एक ठो उदाहरण भी दिये जा सकते हैं। मानो कि किसी मनुष्यकी मानसिक वृत्ति कुद हो रही है। इस वृत्तिक प्रतिक्रिया मस्तिष्क पर पड़नेसे मज्जारचनामें उस वृत्तिक अनुसार अंतर पड़ेगा। यदि वह और अधिक कुद होगा तो तदनुक्रम अंतर मज्जारचनामें दिखाई पड़ेगा। इस अंतरसे यह जाना जा सकेगा कि क्रोधकी अवस्थामें मज्जातंतुओं पर अत्युक्त प्रकारका परिणाम होता है। इसी प्रकार उस कुद वृत्तिक माप भी किया जा सकेगा कि वह कितने जोरकी है। परन्तु इस प्रकार मनकी सब वृत्तियोंका परिणाम मज्जातंतुओं पर होना शक्य नहीं। कोई ऐसी भी वृत्तियाँ हैं जिनका परिणाम मस्तिष्क पर नहीं होता। प्रायः वृत्तिमें मनुष्यके मनकी वृत्तियाँ उद्दीपित नहीं रहती। ऐसे समयमें सङ्गुण व दुरुण, अच्छे और बुरे आदि जाननेके साधन भूत मानसिक व्यापारोंके प्रतिक्रिया मस्तिष्क पर नहीं पड़ते। जिन मनोवृत्तियोंसे मस्तिष्ककी रचनामें अंतर पड़ता है उन्हींका प्रतिक्रिया मज्जातंतुओं पर पड़ता है। और उसीके द्वारा स्थूल रीतिसे मन और मस्तिष्कका संघ बना जाता है +। अतएव प्रत्येक मनोवृत्तिकी मस्तिष्कमें प्रतिक्रिया होती रहती है या नहीं यह नहीं जाना जा सकता।

मन और मस्तिष्कके स्थूल संबंधके कारण मनको स्थूल कोटिमें डकेलनेकी मूल किस प्रकार हो जाती है, इसका एक अच्छा उदाहरण स्पेन्सरके ग्रंथमें

+ Broad and general guidance is obtained by the study of the development of the brain in different individuals of the same type. But when we extend our enquiries we find that beyond certain indications we know nothing of the real structure or mode of operation of the organs serving the sense. Our knowledge is sufficient only to form the foundations for various hypotheses, of which some must be false and of which probably none may be true.

Lynch's "Psychology a New System"

Part II, Chap. V.

मिलता है। स्पेन्सरने अपने 'आदि-तत्त्व' नामक ग्रंथमें धर्म कल्पना और आधिभौतिकशास्त्रमें होनेवाले वादविवादको मिटानेके लिये एक उपपत्ति निकाली है। उसका मत है कि इस उपपत्तिले दोनोंका विवाद मिट जायगा। स्पेन्सरके मतसे धर्म और भौतिक शास्त्र इन दोनोंका आधारसूत्र तत्त्व यह है कि सृष्टिकी सम्पूर्ण शक्तियों नियत प्रमाण हैं। सारांश यह है कि किसी भी कालमें यही शक्तियोंका प्रमाण मापा जाय तो सब शक्तियोंका प्रमाण मिलाने पर वह दूसरे कालके प्रमाणके बराबर ही होगा न्यूनाधिक नहीं। आधिभौतिक शास्त्रके संबंधमें तो इस सिद्धान्तकी आवश्यकता स्वीकार किये बिना गत्यंतर नहीं है। क्योंकि सृष्टिकी शक्ति नियत प्रमाणसे अधिक होने पर पदार्थोंको अधिक गति मिलेगी जिससे विश्वकी स्थिरता ही नष्ट हो जायगी। और शक्तिमें न्यूनत्व आ जाने पर विश्वके व्यापार ही रुक जावेगी। इस लिये भौतिक शास्त्रकी दृष्टिसे तो इस नियमकी आवश्यकता स्वीकार करना पड़ेगी। परंतु धर्मका अधिष्ठान भी इसी नियम पर माननेसे काम नहीं चलेगा क्योंकि यह सूक्ष्म वस्तु है। भौतिक शास्त्रका विषय स्थूल है और धर्मका सूक्ष्म भावनामय है। इसलिये इन दोनों प्रकारकी शक्तियोंका बोध समान अर्थसे कभी न हो सकेगा। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि स्पेन्सरका सिद्धान्त जिस अर्थसे स्थूल सृष्टिपर लागू होता है उसी अर्थसे सूक्ष्म सृष्टि पर भी लागू होता है। इस विवेचनसे यह बात साक्ष्य होगी कि प्रसुद्ध प्रुक्तोंके विचारोंमें भी मनके अतीन्द्रिय स्वरूपको न जाननेके कारण किस प्रकारकी गड़बड़ हो जाती है। मनका स्वरूप सूक्ष्म है। उसका भौतिक पदार्थोंसे स्वरूपैक्य नहीं है। परन्तु मनके कितने ही व्यापारोंकी प्रतिष्ठति मञ्जास्तंतुओं पर होनेके कारण मञ्जा रचनाकी परीक्षाके द्वारा मनके संबंधमें स्थूल ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। मनके व्यापार आस-पासकी परिस्थिति पर अवलंबित हैं। परिस्थिति जिस जिस प्रकार बदलती है मनकी प्रवृत्ति भी उसी प्रकार बदलती रहती है इसलिये दीर्घ अलुनवके द्वारा मानसशास्त्रके कुछ सिद्धांत निश्चित करने पर भी वर्तमानकालमें ज्ञानके बिना ऐसा कोई सिद्धांत निश्चित नहीं किया जा सकता जिस परसे यह कहा जा सके कि व्यक्ति अथवा समाजके व्यवहार असुक्त प्रकारके होंगे। गत प्रकरणमें यह उल्लेख किया जा चुका है कि जर्मन तत्त्ववेत्ता व्युटे, आधिभौतिक-शास्त्रके द्वारा मनकी चिकित्सा करनेमें सफल न हो सका तब उसने मनको

अतीन्द्रिय माना । इसी तत्त्ववेदाने इस सर्वत्रमें इसप्रकार उद्गार प्रगट किये हैं ।

“ यद्यपि सुधारणाके निपन्न निश्चित करनेमें मानसशास्त्रकी आवश्यकता है । परन्तु मानवीय व्यवहार जिन संस्थाओंके द्वारा चलते हैं उन संस्थाओंकी घटनाके कार्यमें मानव बुद्धि कौनसा मार्ग ग्रहण करेगी, यह कहनेकी शक्ति इस शास्त्रके निपन्नमें नहीं है । इसलिये यह प्रश्न खड़ा ही रहता है कि फिर यह कौनसा प्रमाण है जिसके द्वारा उक्त ज्ञान होता है । ”

कुछ विवेचकोने आधिभौतिक शास्त्रकी सहायता मर्यादित समझकर मानसशास्त्रके अतीन्द्रिय प्रान्तमें प्रवेश किया, परन्तु अब उसमें भी इष्ट कार्यकी सिद्धि नहीं हुई तब उसी विश्वासमें आगे आकर उन्होंने एक नवीन प्रमाण ढूँढा । उस नवीन प्रमाणकी भी परीक्षा कर लेना उचित समझ कर यही उसी पर विचार किया जाता है । इस प्रमाणका नाम पुरस्कर्ताओंने अंत-स्फूर्ति रखा है । इस प्रमाणकी उपपत्ति समझनेके लिये इसकी उपपत्तिका थोडासा पूर्व घृतान्त जान लेना उचित होगा ।

इस प्रमाणके पुरस्कर्ता इंग्लंडके “ कार्डिनल न्यूमन ” नामक एक धर्माध्यक्ष हैं । इनका जन्म सन १८०१ ई में हुआ था । बाल्यवस्थासे ही इनमें एक प्रकारकी अलौकिक चिकित्सक बुद्धि और उसके साथ ही साथ धर्माभ्यासके लिये जिसकी आवश्यकता है उस सुखोपभोगके प्रतिवैराग्यके चिन्ह पूर्णतया दिखाई देने लगे । ये प्रोटेस्टेन्ट मतके अनुयायि थे । क्योंकि एक तो यह धर्म इनका कुल परंपरागत था । दूसरे इन्हें शिक्षा भी इसी धर्मकी मिली थी । इनकी शिक्षा पूर्ण हो जाने पर इनकी प्रवृत्ति इतर जनोंके समान, समारकी ओर नहीं हुई किंतु वैराग्यके अक्षुर दिन पर दिन बलवान् होने लगे और यह निहाय अपना समय धर्मतत्त्वके चिंतनमें व्यतीत करने लगा । इसने अपने अस्त करण पर किसी प्रकारके पक्षपात अथवा आग्रहका सम्भार नहीं रखा और माराम्भार विचारकी शुद्ध कसौटी पर धर्मके प्रत्येक मंत्र और विश्वासोपरी परीक्षा करना शुरू की । और जो सत्य, बुद्धि स्वीकार करे उसे मानने बांकी परंपरागत लौकिक मान्यताओंको न माननेकी पद्धति इसने स्वीकार की । इसके इस विचारका परिणाम यह हुआ कि प्रोटेस्टेन्ट धर्ममें बहुतसे मंत्र उन्ने सर्वसाधारण विग्न अर्थवत् और छोकप्रम पर अवलंबित दिखाई देने

को। खिस्तीधर्मके मूलतत्त्वोंमें समयानुसार परिवर्तन होते रहनेके कारण जो उस धर्मको नूतन स्वरूप प्राप्त हुआ था उसमें न्यूसनको पूर्ण असंबन्धता (Composite mass of inconsistency) के सिवाय दूसरा कुछ भी नहीं दिखा। अतः उसने अपना पंथ छोड़ दिया और कॅथोलिक पंथको जो कि उसके मजसे खिस्तीधर्मका अन्वय और अविकृतरूप है, स्वीकार किया। इन प्रकार प्राचीन पंथ स्वीकार कर लेने पर उसके विश्वासके अनुसार उसके विश्वको शांति मिली जिसकी कि उसे बहुत कुछ चाह थी। शांतिके मित्र बाने पर उसने इस शांति और सुखके आदि तत्त्वको परोपकारार्थ दूसरोंको भी समझानेका प्रयत्न किया।

यह कार्य करनेके लिये उसने जो किया उसे समाजनेके लिये यह जान लेना आवश्यक है कि यह धार्मिक स्थिति कैसी थी। बिना इसके जाने उनके विवेचनका धार्मिक मर्म ध्यानने नहीं आवेगा।

न्यूसनके समयमें आधिभौतिक शास्त्रकी उन्नति बहुत ग्रीवतासे हो रही थी। और यह शास्त्र धार्मिक साक्षात्कारके एक एक प्रवेश पर क्रमशः आक्रमण करने लगा था। तथा इस शास्त्रके द्वारा सृष्ट चमत्कारोंकी उल्लंघन सुलझनेके कारण इस शास्त्रके पुरस्कर्ताओंमें सर्वज्ञत्वका अभिनिवेश उत्पन्न होने लगा था। उच्च धर्मवादियोंको भय होने लगा था कि यदि कुछ दिनों तक यही क्रिया होती रही तो अन्तमें धर्म नाममात्रको भी नहीं रहेगा अतएव वे लोग भी इस भवीन शास्त्रके प्रतीकारके लिये अपने धार्मिकवादके साक्षात्कारोंको संभालने लगे थे और इस प्रकार दोनों पक्ष रणक्षेत्रमें उतर पड़े थे।

धर्मवादी लोगोका मत था कि सर्व अज्ञान दुःखमय है आद्य पुरुषके द्वारा परमेश्वरकी आज्ञा भंग होनेके कारण परमेश्वरने मनुष्यजातिको जो धाप दिया उससे यह अज्ञान विषयवृक्षके समान दुःखमय हो गया है। मनुष्यके द्वारा निरंतर धर्मत पाप हुआ करते हैं। यदि उन पापोंके अनुसार मनुष्यको बर्ष दिया जाता तो उसकी जो दशा होती उसका वर्णन तक नहीं किया जा सकता। परंतु परमेश्वर दयालय है। सैतानके दुष्कृत्यों और चेतावणियोंसे मनुष्य मात्र पर निरंतर होनेवाले परिणामके प्रतीकारार्थ ईश्वरके क्राष्टक अवतार धारण किया और अपने रक्तसे मनुष्यजातिके पापोंका कालन किया। मनुष्यप्राणी स्वभावतः दुर्बल है अतः बिना परमेश्वरकी कृपाके उसका सुदकार

नहीं हो सकता । यदि मनुष्य अपने छुटकारेके लिये परमेश्वरको प्रार्थनारूपसे शान्त नहीं करेगा तो वह उसके कोपसे अपने ऊपर संकटोंकी परंपरा बुझानेगा । यदि क्राइस्टके रूपमें परमेश्वरने अवतार धारण नहीं किया होता तो मनुष्यके कष्टोंका पूछना ही क्या था ? इसलिये उस परमेश्वर पर, उसके अवतार पर और उसके उद्देश्य पर भावनात्मक बुद्धिसे भ्रमा रखते हुये तदनुसृत भक्ति पूर्ण आचरण करनेसे ही मनुष्यजातिकी उन्नति होगी । उसकी आत्माकी अधार्मिक बुद्धिसे विकृति करनेसे, जगात्की वस्तुओं पर उसका स्वामित्व स्वीकार न करनेसे तथा यह अनिमान करनेसे कि मनुष्य भौतिकशास्त्रोंकी सहायतासे अनेक प्रकारके चमत्कार पूर्ण कार्य कर सकता है मनुष्यजातिकी अज्ञोत्थि होगी । इस लिये वह नवीन (भौतिक) शास्त्र अखंड ज्ञातिके मार्गमें विज्ञ स्वरूप है । तथा भ्रमा रूपी वृद्धके लिये कुठारके समान है । अतः इन शास्त्रोंका आश्रय लेकर क्राइस्टकी सेवा और उसकी आज्ञाका पालन करना चाहिये । उसीसे सुखकी प्राप्ति होगी ।

इनके विरुद्ध आधि-भौतिक शास्त्रवादियोंका यह कहनाया कि धर्मवादी, लोगोंके कहे अनुसार हम भी यह मानते हैं कि जगात् दुःख पूर्ण है । और दूसरी भी यह इच्छा है कि उस दुःखका नाश होकर मनुष्यको सुखकी प्राप्ति हो, यहाँ तक हम दोनों—भौतिक शास्त्री और धर्मवादी—एक हैं । परन्तु उस उद्देश्य-दुःखनाश और सुख प्राप्तिके मार्गमें भिन्नता है । धर्मवादियोंका यह कहना भूल मरा हुआ है कि मनुष्य जातिके मनको जो दुःख होता है वह सैतान नामक कुछ घुष्ट प्रवृत्तिके प्राणीविशेषोंके प्रयत्नोंका फल है । वर्तमानमें होनेवाली आधिभौतिक शास्त्रकी उन्नतिके कारण यही निश्चय हो गया है कि मन और मज्जा तंतुओंका परस्पर संबंध है । शरीर पर होनेवाले अनुकूल प्रतिकूल विकार अस्तित्वमें संक्रमित होते हैं जिनसे मनमें सुखदुःखकी भावना उत्पन्न होती है । शरीरके उन विकारोंपर (जिन्हें एक प्रकारसे सुखदुःखका कारण समझना चाहिये) आधि-भौतिक शास्त्रकी सहायतासे मनुष्य अधिकार कर सकता है । इस लिये मानसिक दुःखके स्पष्टीकरणके लिये सैतानकी कल्पना करनेका कोई कारण नहीं है । किंतु शरीरको दुःख देनेवाले आधिभौतिक सुखके साधनोंके अभावकी ओर मानसिक दुःखका कार्य कारण भाव लगा कर उन साधनोंको हस्तगत कर मानसिक ज्ञान प्राप्त करना ही उचित है । उदाहरणार्थ मिस प्रकार ड्रेग, दुष्काळ आदि विपत्तियोंसे मनुष्य जातिको

अपरिमित छेना पहिले हुआ करता था। यदि इन विचारोंके भागे शिर झुकाकर मनुष्य कुछ प्रयत्न नहीं करता और परमेश्वरका नाम जपता रहता तो संहार और छेय कभी नष्ट नहीं होते। परंतु जेग निवारणार्थ आरोग्य शास्त्रके तत्त्व व्यवहारमें आनेके कारण तथा दुष्काळ निवारणार्थ बांध बनवाकर पानीका संग्रह स्थायी रखनेकी योजना भौतिक उपायोंसे साध्य हो जानेके कारण ये रोगाधिक आपत्ति बहुत कुछ कम हो गई है। और उनके कम हो जानेसे शारीरिक छेय, सांपत्तिक हानि और मानसिक पातनार्थ भी कम हो गई हैं। यह सब निरुपोगी होकर केवल ईश्वरकी प्रार्थनाओंसे नहीं हुआ है किंतु मनुष्य हृत्ति, भौतिक उपाय और धिक्किस्तक बुद्धिसे हुआ है। अतएव इन बातोंको साध्य कर देनेवाले शास्त्रका ही आश्रय लेना श्रेयस्कर है।

इस प्रकार यह झगडा न्यूननके समयमें बहुत जोर पकड़ गया था। न्यूननकी स्वतःकी प्रवृत्ति धर्म वादकी ओर थी। अतः भौतिक शास्त्र प्रतिपादक विचारसरणीका खंडन करना उसके लिये आवश्यक था और वह उसने अपने "grammar of assent" नामक पुस्तकमें करनेका प्रयत्न भी किया। उसके प्रतिपादककी पद्धति इस प्रकार है कि भौतिक शास्त्रके कुछ प्रमेय पहिले देखनेपर सत्य मानलूम होते हैं परंतु वास्तवमें वे त्रिकाकाबाधित सिद्धान्त नहीं हैं। कोई भी भौतिक प्रमेय पूर्ण सत्य नहीं माना जा सकता; किंतु जिस कालमें वे सिद्धान्त रूप माने जाते हैं उस कालमें उनकी संभावना लोगोंको अधिकाधिक रूपसे प्रतीत होती है। यही उनकी सिद्धताका प्रयोजन है। भौतिक प्रमेय कभी सत्यकी ऐसी कोटिको नहीं पहुँच सकते जो कभी असत्य न ठहरे। गेडिडियोंके पहले यह प्रमेय माना जाता था कि पृथिवी सूर्यके आसपास नहीं फिरती किंतु सूर्य पृथिवीके आसपास घूमता है। इससे तात्पर्य इतना ही निकलता है कि उस समय तक सूर्य भ्रमणके प्रमेयकी कल्पना ही लोगोंकी प्रतीतिमें अधिक आती थी। गेडिडियोंने जब उन सिद्धान्तको झूठा ठहरा दिया तब उस प्रमेयका सिद्धान्त नष्ट हो गया और वह उसके विरुद्धकी कल्पनामें आ गया। परंतु इस नवीन उपपत्तिका भी अर्थ यही है कि इसकी संभावना वर्तमानमें अधिक मानलूम होती है। कौन कह सकता है कि यह कल्पना नहीं बदल सकेगी। इसी प्रकार रसायन शास्त्रमें उप-ऊर्ध्व चालुओंकी संख्या परिमितता तथा पदार्थ विज्ञान शास्त्रमें शक्तिकी संपादा भी सबसे अधिक संभवनीय कल्पनामें हैं। वे पूर्ण

सत्य नहीं हैं । न्यूमन कहता है कि सूर्य आज तक प्रतिदिन सुबह उदय हुआ अतएव कल भी उदय होगा, ऊँचे परसे फेंका हुआ पत्थर सदा नीचे पड़ेगा और जसिसे शरीर अवश्य जलेगा वह सब भी अधिकाधिक संभवनीय कल्पनार्थ हैं । कल्पनासे अधिक उनका सूच्य नहीं है । ऐसी अपूर्ण कल्पनाओंके स्थान भौतिक शास्त्रको मनुष्य संपूर्ण किस प्रकार मान सकता है ? परंतु धार्मिक कल्पनार्थ त्रिकाळाबाधित प्रमेय हैं । इस प्रकार भौतिक प्रमेयोंको संभाव्यता और धार्मिक प्रमेयोंकी अबाधितत्वका रूप देकर न्यूमनने भौतिक शास्त्रके प्रमेयोंका ही सत्य सिद्ध किया । और उसके वादियोंको विबाध क्षेत्रसे हटाया ।

इस प्रकार भौतिक शास्त्ररूपी धनुके भगा देनेपर धर्म साधनके प्रमेयोंकी चिकित्सा करनेके लिये किसी निश्चित प्रमाणकी योजना करनेका भार उस पर आया । क्योंकि खिस्ती धर्मके समान, महम्मदी धर्म, ब्रुद्ध धर्म, हिन्दू-धर्म आदि अन्य धर्म अपने आपकी अक्षय सुखके साधन कहते हैं ऐसी दृष्टानमें उन सबकी तुलना कर खिस्ती धर्मकी और उसमें भी केमोल्फिक पंथकी श्रेष्ठता सिद्ध करनेवाले प्रमाणको ढतलानेकी जबाबदारी उस पर आपदी थी । अतः उसने यह उद्घराया कि इन सब बातोंको सिद्ध करनेवाला प्रमाण "स्वता की जंतः प्रवृत्ति है" । किसी भी वस्तुके ज्ञानमें साधनभूत कर्मनिष्ठियों हुआ करती हैं इन कर्मनिष्ठियोंके द्वारा स्थूल और भौतिक वस्तुओंका ही ग्रहण होता है । परंतु भौतिक पदार्थोंके सर्वधर्म न्यूमनके द्वारा निकाले हुये नियम संभाव्यताकी श्रेणीमें चले जानेके कारण पदार्थ ज्ञानके पूर्वोक साधन भी हीनबल हो गये अतः न्यूमनने 'अंतःस्फूर्ति' नामक नवीन प्रमाणकी घोषकी । उसके मतानुसार इस अंतःस्फूर्ति नामक प्रमाणसे प्राप्त हुआ ज्ञान संदेह रहित होता है । और इस प्रमाणकी सहायतासे निकाळा हुआ सिद्धान्त भी अबाधित होता है । इस प्रमाणका स्पष्टीकरण न्यूमनके ही शब्दोंमें इस प्रकार किया जा सकता है कि जिस बुद्धिके द्वारा मनुष्य सूरंत सत्यासत्य, प्राज्ञाप्राप्त, और कार्याकार्य, निर्णय तथा निश्चय कर सकता है वह बुद्धि सत्यज्ञानका प्रमाण है । " भगवद्गीतानमें सात्विक बुद्धिका जो लक्षण कहा है वह लक्षण न्यूमनके प्रमाणसे विचकृष्ट मिलता है । वह इस प्रकार है —

प्रवृत्ति च निवृत्ति च कार्याकार्ये भयामये
बंधं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्विकी

अर्थात् जिस बुद्धिके कारण अपने आप कार्य अकार्य, भय अभय, बंध और मोक्षका ज्ञान होता है वह बुद्धि सात्विक बुद्धि है। और इसे ही न्यूननका प्रमाण भी कह सकते हैं। न्यूननके मतानुसार ऐसी बुद्धि प्राप्त करनेके लिये परिश्रम नहीं करना पड़ता और न उसकी प्रकिया ही तर्क प्रतिष्ठ होती है। जिस समय कार्या-कार्यके निर्णय करनेका प्रसंग आता है अथवा सत्यासत्यके संबंध में संदेह उत्पन्न होता है उस समय अंतःकरणकी प्रवृत्ति जो स्वीकार करे वही प्रमाण है। कालिदासने साकुंतल नाटकमें राजा दुष्यंतसे भी यही कहाया है:-

“सतां हि संदेहपदैषु वस्तुषु । प्रमाणमंतःकरणप्रवृत्तयः ।”

अर्थात् संदेह उत्पन्न होनेके समय अष्ट पुण्योंकी अंतःकरणकी प्रवृत्ति जिस ओर होगी वही प्रमाण है। न्यूननने अपने इस नवीन प्रमाणके कुछ उदाहरण भी दिये हैं। जैसे कि सत्तरंज अथवा विखिर्ज (इंगलिषा पद्धतिके खेल) खेलते समय विरुद्ध पक्षके बलवान होने पर और उसका दाव अधिक अच्छा होने पर भी उसका दाव चुका कर अपनी जाजू प्रतिपक्षीसे भी बलवान् कर लेनेकी जो बुद्धि खिलाड़ीमें एकदम स्फुरण होती है उसे अंतःस्फूर्ति कहते हैं। रोगकी बिच्छ परिस्थितिका जो डाक्टर ठीक २ विद्वान करता है उस समय वह अंतःस्फूर्तिसे ही करता है। जगद्विख्यात बोद्धा नेपोलियन को एक दृष्टिपात मात्रसे रणक्षेत्रका निरीक्षण कर क्षणमात्रमें समविषम भाग ग्रहण कर सकता था और शत्रुके दुर्बल स्थानको जान कर यह कह सकता था कि असुक स्थान पर आक्रमण करनेसे जय प्राप्त होगी, उसका कारण क्या था ? वही अंतःस्फूर्तिकी सहायता। यह गणितसे हक होनेवाला हिसाब नहीं है। और न देरे गैरेसे ही काम चल सकता है। इसके लिये विशेष व्यक्तियोंकी आवश्यकता है जिन्हें आवश्यकताके समय अंतःस्फूर्ति हो सके। एकाधा वकील अपने मुबद्दिलके विरुद्ध सबल प्रमाण होने पर भी एक साधारण प्रमाणके चल पर अपनी जानचाहुरीसे जो अज और जुरीका मन आकर्षित कर लेता है उसका कारण भी यही अंतःस्फूर्ति है। एक सि-सेमिन्टबद्ध, अपराधी और अपराधका पता न होने पर भी अपने मनकी कल्पनाकी एक श्रृंखला बना लेता है और फिर अपराधका पता लगा लेता है उस समय उसे यही अंतःस्फूर्ति सहायता देती है। इसी प्रकार राफेल और रविबर्मा जैसे अपूर्व चित्रकारों, उर्जर सरीसे सृष्टि सौंदर्योंको चित्रित करने-

वाले विचारकों और फ्रांकिदास, मोनसपियर व शोले सरीखे सहृदय कवियोंकी कृपिकी आधारभूत उनकी अंतःस्फूर्ति ही है। इस बुद्धिका विवेचण, चिकित्सा अथवा विग्रह नहीं किया जा सकता। यह बुद्धि तर्क शास्त्रोके नियमोंसे नहीं प्राप्त होती और न संज्ञन-संज्ञन अथवा पूर्वपक्ष उत्तरपक्षके द्वारा इसका निर्णय ही होता है। तथा उस (अंतःस्फूर्ति) के निर्णयकी समानता इतिहासके उदाहरणोंपरसे भी सिद्ध नहीं की जाती, किंतु यह अद्ययुतिके कहे हुये प्रेमके लक्षण 'आतुरः कोऽपि हेतुः' के समान अनिर्वर्णीय और अनुदात्तनीय स्फूर्ति ही होती है। जगत प्रकारके वर्णनोंसे भरे हुये इतिहास विषयकी किसी एक सत्य तथ्यके अनुसारसे जांचकर उसके संपूर्ण प्रसंगोंकी संगति धैर्य देनेवाले मामलन अथवा नेहव्यूरको, अधिक तो क्या अपूर्ण भौतिक शास्त्रमें शोध करनेवाले स्पूटन, केरेंडे अथवा डारविन तकको अवसर देनेपर प्रयत्न करनेकी जो बुद्धि होती थी वह भी अंतःस्फूर्तिजन्य ही होती थी। इस बुद्धिको धर्म-विषयक चर्चामें बहुत स्थान मिलता है। क्योंकि धर्मके सिद्धान्त स्वामाधिक रीतिसे ही आधिभौतिक शास्त्रकी कसोटीपर जाँचे जाने योग्य नहीं होते। उनकी सत्यासत्यताके निर्णयके लिये अतीन्द्रिय कसोटीकी आवश्यकता होती है। वह कसोटी यही अंतःस्फूर्ति है। अतः इसके द्वारा उस सर्वधर्में बहुत कीर्तन निर्णय हो सकता है।

अद्ययुतिके कहे अनुसार "सत्ता" अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषोंकी अंतःस्फूर्ति ही प्रमाण माने जाने योग्य है। साधारण पुरुषोंकी नहीं। क्योंकि साधारण धर्मकी अंतः स्फूर्ति सामनीय नहीं हो सकती। इसी लिये ऐसे पुरुषोंको अपने बुद्धि-बलसे निर्णय करनेका प्रयत्न न कर "महाजनो धेन गतः स पंथाः" के अनुसार महापुरुष जिस मार्गसे गमन करें अर्थात् वैसा आचर्य करें वैसा ही आचर्य करना चाहिये। साधारण धर्मोके ज्ञानका प्रमाण विश्वास अथवा श्रद्धा ही है। स्पूमनके इस मतका फल यह होगा कि बाळकगण, निश्च २ वस्तु-जोंके गुणधर्मको जाननेवाले वैद्यके अभिप्रायकी अपेक्षा अपने स्वार्थ व्यवहारके लिये मातापिताका ही कहना मारंगे सूर्यके जालपास पृथिवी धूमती है यह कहनेवाले शोधक विद्वानका कहना न मानकर सूर्य भ्रमन करता है का सिद्धान्त मारंगे। तथा गतकाहीन धार्मिक धर्मकारों पर विश्वास रखनेवाले धर्म गुरुवर, तर्कदृष्टि अथवा शास्त्रीय दृष्टिसे धार्मिक कल्पनाकी चिकित्सा करनेवाले विवेचककी अपेक्षा अधिक विश्वास करेंगे। इन सब विचारसरणियों

का उपयोगकर धर्म चर्चाके संबंधमें न्यूनमने यह सिद्धान्त निश्चित किया है कि सब धर्मोंमें हिंसी धर्म श्रेष्ठ है और उसमें भी क्रमोक्तिक संप्रदाय श्रेष्ठ हैं । तथा वही अर्थात् सुख ले सकता है । यह न्यूनमनेके प्रमाणवादका सामान्य स्वरूप हुआ ।

अब यहाँ इस प्रमाणवादकी परीक्षा करना उचित होगा । न्यूनमनेके सिद्धान्तमें मुख्यतया दो तथ्य ध्यानमें आते हैं पहिला यह कि सृष्टिके चमत्कार जिन नियमोंके द्वारा होते हैं उन नियमोंमें जो निश्चितता और एकविधता दिखलाई देती है वह पूर्णतया (न्यूनमनेके विचारानुसार) मान्य करनेके योग्य नहीं है । परंतु न्यूनमनका यह कहना भ्रमसे खाली नहीं है । अतुल्य इसके विरुद्ध है । श्रेष्ठ जनोंकी भंताःस्फूर्तिके द्वारा होनेवाले आचरणोंको न्यूनमने जो साधारण पुरुषोका मानार्थसं उद्वारया है वह ठीक नहीं है क्योंकि वे सदा सत्य अथवा सर्व स्थानों और सर्व कालोंमें एक विद्यमान होते । किंतु सदा अनिश्चित रहते हैं । परंतु सृष्टि चमत्कारके नियम त्रिकाणा-वाचित होते हैं और इस लिये अनुपम प्राणी उन्हें योग्य मानता है । उन्हें योग्य कहनेका कारण केवल यही है कि अयोग्यताके दूसरे जनक उदाहरण दिखलाई देते हैं । न्यूनमने पूर्ण सत्यके जो उदाहरण दिये हैं उन पर विचार करनेसे प्रतीत होगा कि उन्हें पूर्ण सत्य मानना योग्य नहीं है । जैसे कि न्यूनमने माना है कि छोटे बालकोंको अपने मातापिता पर पूर्ण विश्वास होता है और उनके अचन बालकोंके लिये पूर्ण मान्यताके पात्र होते हैं । न्यूनमनका यह कहना ठीक है परंतु विचारना यह है कि जगत्की दृष्टिसे उन बचनोंका मूल्य कितना है । बहुवर्ती वार मातापिताका कहना सप्रोप होता है, अतएव जगत्की दृष्टिसे वह निरूपयोगी सिद्ध होता है । धार्मिक सिद्धान्त जो प्रकारके होते हैं । एक तो इस प्रकारके जिन्हें सब जगतमाने दूसरे वे जिन्हें विशिष्ट अधिकारके लोग ही माने । छोटे बालकोंका मातापिताकी आज्ञा मानना दूसरे प्रकारका धार्मिक सिद्धान्त है । छोटे बालकोंके अज्ञानके कारण और मातापिताका अपने बालकों पर निःसीम प्रेम होनेके कारण बालकोंको मातापिता जो कुछ कहेंगे वह बालकोंके लिये हितकर ही कहेंगे, इस लिये बालकोंको मातापिताकी आज्ञा पालन करना उचित है । यह निश्चय करने-वाला सिद्धान्त बालको तक ही योग्य कहा जा सकेगा क्यों कि मातापिताके ज्ञानकी तुलना उनसे अधिक ज्ञानी पुरुषोंके ज्ञानसे-करने पर उनका कथन

बहुतसा अधिचार पूर्ण मालूम होगा । ऐसे समयमें अधिक ज्ञानवान् पुरषोंके भक्तकी ओर दुर्लक्ष करके अल्प बुद्धिवालोंके कर्तव्यको ही मान्य करनेके लिये कौन कह सकता है ? । यही बात धर्म सार्वभौमके संबंधमें कही जा सकती है । अपने पूर्वजोंके स्वीकार किये हुये धर्म विक्षेपके कोई विशिष्ट पंथको ही बढ़ते हुये ज्ञानके समयमें मान्य करनेके लिये मछा कौन कह सकता है ? । न्यूसमका ही उदाहरण किया जाय तो उसने पहिले पूर्वपरंपरागत होनेके कारण तथा उसीकी शिक्षा मिलनेके कारण प्रोटेस्टेंट पंथ स्वीकार किया था । परंतु उसने उसका त्याग कर फिर कैथोलिक पंथ क्यों स्वीकार किया ? । यदि अपने माता, पिता और गुरुकी शिक्षा ही मान्य करना आवश्यक है तो फिर उसने जो यह रंग पलटा उसका आधार क्या है ? । सारासा यह है कि न्यूसमके दृष्टान्तोका भूयस्करण करनेसे यह मालूम होता है कि जिन बातोंको न्यूसम पूर्ण सत्य कहता है और जो उसके कहे अनुसार पूर्ण मान्यताकी पात्र हैं वे बातें तीन प्रकारके आधारोंसे जगत्में विश्वासकी पात्र होती हैं । वे तीन बातें हैं अज्ञान १ परंपरा २ और ३ आवश्यकता । छोटे बालक जो अपने मातापिताके कहनेको पूर्ण सत्य मानते हैं उसका कारण अज्ञान है । साधारण जनसमाज पहिलेसे खली आई हुई धार्मिक बातों पर जो विश्वास करता है उसका कारण पूर्व परंपरा है । और जगत्में साधारणतया सद्गुणकी ही अपेक्षा होती है दुरगुणोंको बर्णन मिलता है, इस विश्वासका कारण आवश्यकता है । क्यों कि यदि इस प्रकारके कोई कार्यान्वयके निर्णयके साधन न उदर्राये जायें तो जगत्के व्यवहार ही थप होजाय । अथवा व्यवहार उच्छृंखल हो जायें । इस लिये ऐसे प्रमेयों-सद्गुणकी अपेक्षा दुरगुणकी क्षय-आदिके उदर्रा देनेकी आवश्यकता होती है । परंतु इन तीनों कारणोंके विरोधी कारण अज्ञानमें मौजूद हैं । अज्ञानका मात्र ज्ञानसे होता है, परंपराका दबाव विद्वित्सक बुद्धिसे नष्ट हो जाता है और आवश्यकतासे उदर्राई हुई बातें, प्रसंग विशेष पर झड़ी हो जाती हैं । सारासा यह कि न्यूसमने जिन्हें पूर्ण सत्य माना है वे इन तीनों प्रकारके होनेके कारण ऊपर कही हुई पद्धतिसे अपूर्ण उदर्राते हैं । न्यूसम जो सृष्टिके नियमोंको संभाव्यताका रूप देता है वह ठीक नहीं । क्योंकि विद्वती विद्वितता क्षम्य हो सकती है उसनी इन नियमोंमें मौजूद है । यह होना कभी क्षम्य नहीं है कि सूर्यका प्रकाश दिन उदय न हो, अग्नि जला न सके और ऊपरसे गिरा हुआ पत्थर नीचे न गिरे । अतएव इन

साधकोंको पूर्ण सत्य माननेमें कोई हानि नहीं है। न्यूसन कहता है कि सद्गुणकी जय होती है, यह सिद्धान्त सम्पूर्ण मान्यताका पात्र है और ऊपरसे केंके हुए पदार्थका नीचे गिरना यह केवल संभावना मात्र है। विचार यह होता है कि यदि कोई द्रुगुणी किसी ऐसे पुरुषको जो सद्गुणकी जय होती है, यह सिद्धान्त पूर्ण तथा मानता हो पर्वत पर बलात्कार गिरावे उसे तो क्या वह वहां पर अपने सिद्धान्तको पूर्ण सत्य मानकर यह बात मान लेगा कि नीचे गिरना केवल संभाव्यता मात्र है ? इस विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि सृष्टि नियमोंको अपूर्ण कह कर जिन नियमोंको न्यूसन मानता है वे ही नियम वास्तवमें अपूर्ण हैं। और सृष्टि नियम ही निश्चित एवं पूर्ण हैं। इस प्रकार न्यूसनका पहिला सिद्धान्त सत्य नहीं ठहरता।

अब उसके दूसरे सिद्धान्त पर विचार करना उचित होगा। दूसरा सिद्धान्त यह है कि अंतःसृष्टि एक अनिर्वचनीय पदार्थ है। उसकी चिकित्सा नहीं की जासकती। वह "आंतर-कोपिहेतु" इस भवभूतिके लिये हुए प्रेमके लक्षणके समान है। परंतु यह कहना ठीक नहीं है। अपने इस सिद्धान्तको सिद्ध करनेके लिये न्यूसनने जो उदाहरण दिये हैं उन्हीं पर विचार करनेसे माफूस होगा कि अंतःसृष्टि और कुछ नहीं केवल अभ्याससे प्राप्त हुआ कर्म कौशल्य है। भगवद्गीतामें योग शास्त्रकी व्याख्या यह की गई है कि "योगः कर्मसु कौशलम्" अर्थात् योग कोई अज्ञेय अथवा गूढ़ वस्तु नहीं है। वह केवल सतत अभ्यास और चित्तकी एकाग्रतासे प्राप्त की हुई कुशलवाही है। सतरंज खेलनेवाला खिलाड़ी, सतत अभ्यासके कारण जो उसने कुशलता प्राप्त की है उसके द्वारा, अपनी कमजोर बाजीको भी जोरदार बना लेता है। विभिन्न खेलनेवाला, दो गेंदोंके अंतर, त्रिकोणमितिके ज्ञान और अभ्यास द्वारा प्राप्त हुई हाथसफाईके संयोगसे अपने प्रतिपक्षीका पराभव कर देता है। नेपोलियन रणक्षेत्रकी चिकित्सा, युद्ध कलाके ज्ञान और संपादित अनुभवके कारणही कर सकता था। चित्रकार सूक्ष्म सृष्टिके निरीक्षण और सतत अभ्यासके कारण ही उत्तम चित्र बना सके और पनाते हैं। इसी तरह यंत्रका आविष्कार भी पदार्थविज्ञान, यंत्रशास्त्र और दीर्घ अनुभवके कारण ही आविष्कार करता है। इन उदाहरणोंमें ऐसी कोई बात नहीं है जो अपूर्व, अज्ञेय अथवा अनिर्वचनीय हो। इन बातोंमें विशेष यत्न प्राप्त होनेके लिये मानस शास्त्रके पूर्ण ज्ञानकी अवश्य आवश्यकता

है । क्योंकि केवल कलाके ज्ञानसे उसके कार्यमें अपूर्वता नहीं आ सकती । किस कृत्तिका, मनुष्यकी किस अंतःकरण वृत्तिसे संबंध है, वह वृत्ति किन २ बातोंको चाहती है और किन उपायोंसे वह पुस की जा सकती है इन बातोंका ज्ञान और कर्मकुशलता—इन दोनोंकी जोड़ मिल जानेपर न्यूसन मिले अतः सृष्टि कहता है वह उत्पन्न हो सकती है । यदि एडम्स, लम्बेरिया अथवा हर्शलको गुलामाकर्षणका शास्त्रीय नियम मद्धम नहीं होता तो सूर्यमात्रासे एकाधा ग्रह और होवैकी भावना उनमें कैसे उत्पन्न होती ? और उस ग्रहकी खोज निकालनेकी अंतःसृष्टि भी कैसे होती ? । इसी तरह किस समय विद्युत् शक्तिकी कल्पना भी नहीं थी उस समय न्यूसन डेकिम्राफ, डेडिफोन आदिका आविष्कार किस प्रकार कर सकता था ? और रोमके इतिहासकी चिकित्सा बिना उसके साधन रूप कागजपत्रों तथा किन्ह डिपिके, नेहम्यूर किस प्रकार कर सकता था ? । इन सब बातोंसे न्यूसनका दूसरा सिद्धान्त भी सत्य सिद्ध नहीं होता ।

अब यह सिद्ध हो गया कि संस्थातिके नियम निश्चित करनेमें मानसशास्त्र आवश्यकीय होनेपर भी अपूर्ण है इसी प्रकार न्यूसनने सुधारणाशास्त्रके प्रमाणरूपसे जिस अंतःसृष्टिके प्रमाणका आविष्कार किया था उसकी चिकित्सा करनेपर भी यह सिद्ध हुआ कि वह कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है किंतु केवल आधिभौतिक शास्त्र और मानसशास्त्रका मिश्रण है । इसके बाद एक शास्त्र अर्थात् इतिहास, आधि-भौतिकशास्त्र, मानसशास्त्रकी परीक्षा करनेपर यह सार निकला कि इन शास्त्रोंमेंसे कोई एक शास्त्र सुधारणाका प्रमाण नहीं माना जा सकता ऐसी दृष्टामें यह प्रश्न उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि वह प्रमाण कौनसा है ? । इस प्रश्नका विचार आगेके प्रकरणमें किया जाएगा ।

प्रकरण चौथा ।

सत्य प्रमाण ।



सर्व साधारणके विश्वासके अनुसार जो प्रमाण माने जाते हैं उनका गत प्रकरणमें क्रमशः विचार किया गया है । मानव जाति जिस एक श्रेष्ठ साध्यकी ओर जा रही है अथवा उसे जाना चाहिये उस साध्यके प्राप्त करनेके जो समाज रचना, धर्म साधन राजकारण आदि मानवीय व्यवहारके सिद्ध २ रूप हैं वे किन ६ नियमोंसे परिणत होते हैं इसके जाननेकी अत्यंत आवश्यकता है । क्योंकि बिना उसके जाने उन सिद्ध २ रूपोंमें जो मानवीय प्रयत्न दृश्यमान होते हैं वे अनुप्य जातिको योग्य स्थान पर ले जाते हैं या नहीं इसका ज्ञान नहीं हो सकता । इसी कारणसे उन नियमोंको—साध्य प्राप्त करनेके सिद्ध सिद्ध मानवीयरूप जिनसे परिणत होते हैं उन नियमोंको अथवा यों कहिये कि सुधारणाशास्त्रके नियमोंको बसखानेवाले प्रमाणको इन्द्र-नेके लिये सर्व साधारणके विश्वासके अनुसार जो प्रमाण माने जाते हैं उनका गतप्रकरणोंमें विचार किया गया है और वे सब अपूर्ण ठहरे हैं अब हमारे मतानुसार सुधारणा शास्त्रका सत्यप्रमाण कौनसा है इसका विचार करना है परंतु इसके विचारके पहिले गतप्रकरणोंमें जो विवेचन किया गया है उसकी पुनरालोचना करना हम उचित समझते हैं । सबसे पहिले इतिहास शास्त्रकी परीक्षाकी गई है उस परसे यह सिद्ध हुआ है कि तीनों प्रकारका—धर्मनात्मक विवेचनात्मक और और नीमांसात्मक—इतिहास सत्यप्रमाण नहीं हो सकता क्योंकि उसके प्रमेयोंका ज्ञान वर्तमानकालके ज्ञानके बिना नहीं हो सकता । इतिहासका प्रकाश वर्तमानकाल पर पड़नेके बजाय गतकालकी उन संस्थाओंका जिनकी केवल स्थिति रह गई है परिश्रम प्राप्त करनेके लिये वर्तमानकालकी संस्थाओंका ही मुख्यात्मक अवलोकन करना पड़ता है । सारांश यह है कि अमुक परिस्थितिमें सुधारणाके साध्यकी ओर जानेके लिये व्यक्ति अथवा समुदायको किस प्रकार व्यवहार करना चाहिये, यह ज्ञान इतिहाससे नहीं मिलता । इसके बाद नैतिकशास्त्रका अवलोकन किया उससे माहूम हुआ कि इस शास्त्रके द्वारा सुधारणाके मार्गमें बहुत कुछ सहायता मिलने पर भी

यह अच्छा है क्योंकि मन, बुद्धि तथा इतर अतीन्द्रिय तत्त्वोंकी घटना इस द्वारा नहीं होती । मनुष्यका व्यवहार इच्छा शक्तिकी प्रेरणा पर अवलंबित है । और इच्छा शक्तिका आधार स्थान मन अथवा बुद्धि है । उस मन अथवा बुद्धिका शाव भौतिकशास्त्रके द्वारा नहीं हो सकता, यह बात गतप्रकरणमें सिद्ध हो चुकी है । इतिहास और भौतिक शास्त्रके बाद मानसशास्त्र पर विचार किया गया । इस विचारसे यह निष्कर्ष निकला कि मनका, शरीरकी सजा रचनासे एक प्रकारका सूक्ष्म संबंध होता है । उस संबंधके द्वारा मनके विकार साधारणतया जाने जा सकते हैं । और यह भी जाना जा सकता है कि शरीरके कौन कौनसे विकारो पर मनकी कौन कौनसी वृत्तियां अवलंबित हैं ? परंतु केवल यह जान लेनेसे कि मनुष्यके मनकी गति क्या है ? । जेह नहीं जाना जा सकता कि यह गति किस समय किस ओर जावेगी ? और इस दिने कर्माकार्य विचार तथा उनकी ओर प्रवृत्ति होने न होनेका कारण मानसशास्त्रके द्वारा नहीं जाना जा सकता इस कमी को पूरी करनेके लिये न्यून-मने जो " अंतःसूक्ति " नामक नवीन प्रमाण विकारा था उसकी भी मानसशास्त्रके साथ साथ परीक्षा की गई । परंतु यह भी अपूर्ण ही रह्यो । और सिद्ध हुआ कि यह कोई स्वतंत्र प्रमाण नहीं है किंतु पूर्वोक्त दोनों तीनों तत्वोंका मिश्रण है । अब इस मझ पर विचार करवा उचित होगा कि फिर सुधारणाके नियमोंका प्रमाण कौनसा है ?

यह प्रमाण जाननेके लिये अपनेको पहले सुधारणा शास्त्रका विषय ठहराना उचित होगा । सुधारणा अथवा संस्कृति अत्यंत व्यापक शब्द हैं । इस शब्दका व्यापकत्व ज्ञानमें रख किसी एक विशेष सुधारणाको ही संस्कृति मान ले नेके कारण पूर्वोक्त-ऐतिहासिक-भौतिक-मानसिक-पक्षवालोंने अपने २ विषयको ही महत्त्व दिया है । मनुष्य प्राणी समाज मित्र है । सर्वसंग परिवार-योगियोंके सिवाय बाँकीके सब मनुष्योंको इच्छा अथवा अनिच्छा पूर्वक समाजमें रहना ही पड़ता है । समाजमें एक ही समयमें अनेक सिद्ध २ मार्गोंसे उनके व्यवहार होते रहते हैं । प्रत्येकको अपनी समाजमें रहनेवाले दूसरे-व्यक्तिके साथ किस प्रकारका संबंध है और किस प्रकारका होना चाहिये, इस का विचार करना पड़ता है । समाज और उसके व्यक्तियोंका आरंभ कहाँसे और किस प्रकार हुआ यह देखना पड़ता है । और समाजमें सुध्वयवस्था रखनेके लिये किन्नी व्यक्ति विशेषको ओह मानते हुए उसके हाथमें अधिकार स्र

वेकर राज्यानुशासन कराना भाग होता है। इसप्रकार अनेक प्रकारके व्यापार मनुष्यको करना पड़ते हैं। इस लिये इन सब व्यवहारोंपर प्रकाश डालनेके लिये और इनका परस्परका संबंध तथा समानकी सूक्ष्मटक रूप व्यक्तिका और इनका संबंध जाननेके लिये व्यक्तिके मन और समाजके समुदायके मन का ज्ञान होना आवश्यक है। यह ज्ञान जिस प्रमाणसे होता है वही प्रमाण "सत्य प्रमाण" है। मानसशास्त्रके द्वारा वैयक्तिक मनका ज्ञान होता है। मानसशास्त्रके नियमों द्वारा निश्चित होनेवाले व्यक्ति कृत्योंके तत्त्वोंकी सत्यता जाननेका सुभीता इतिहास कभी अजायबघरमें मिलता है और मनुष्यकी सुख मासिकी इच्छाके साधनोंका ज्ञान आधि-भौतिक शास्त्रकी सहाय-रालसे होता है। सारांश यह है कि मनुष्योंकी सर्वांगीन कृतिकी विकसिता पूर्ण रूपसे पूर्वाक्त किसी एक भी शास्त्र द्वारा न होकर सबके मिश्रणसे होती है। बहुतांको यह भाव्य होगा कि पार्थिक पद्धतिले विद्युत्प्रतिक्रिया किस प्रकार उत्पन्न होती है; विद्युत्कारक पत्रको पहिले निम्न २ प्रयोगोंके द्वारा एक Positive और विपरीत (Negative) ऐसे दो प्रकारके प्रवाह उत्पन्न करने पड़ते हैं। उत्पन्न हो जानेपर ही निम्न २ चार्जोंके द्वारा वे प्रवाह चहते हैं। परंतु इस प्रकार केवल दोनों प्रकारके प्रवाह उत्पन्न हो जानेसे ही विद्युत्प्रतिक्रिया उत्पन्न नहीं होती। किंतु इन दोनों प्रवाहोंका संबंध होनेपर-मिश्रण होनेपर-विद्युत्प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। जिसके कि द्वारा प्रकाशादि कार्य किये जा सकते हैं। इसी प्रकार ऊपर कहे हुए शास्त्र भी विद्युत्-प्रवाह उत्पन्न करनेवाले पत्रके समान हैं। और शास्त्रोंके निम्न २ सिद्धान्त विद्युत्प्रवाहके समान हैं। जिस समय इन सब सिद्धान्तोंका एकीकरण अथवा मिश्रण होगा तभी सम्पूर्ण व्यवहारोंपर प्रकाश डालनेवाला ज्ञानदीप प्रज्वलित हो सकेगा। तभी किसी मानव समाजके संबंधमें यह जाननेका साधन प्राप्त हो सकेगा कि वह इष्ट मार्गसे जा रहा है अथवा अनिष्टसे। और तभी समाजकी गति जाननेका प्रमाण अपनेको मिला, यह कहा जा सकेगा। संस्कृति शास्त्रके नियम जाननेका वही सत्य प्रमाण है।

इस कथन पर स्वाभाविकतया यह आक्षेप होगा कि इसमें कौनसे नवीन तत्वकी शोधकी गई?। कौनसा नवीन प्रमाण देखा गया?। और निम्न २ शास्त्रोंको प्रमाण मूल माननेवालोंके मतोंके एकीकरण को ही अपना सत्य प्रमाण माननेमें ऐसी कौनसी अपूर्वता है?। इसका उत्तर यही है कि न तो यह नवीन शोध है न नवीन प्रमाण है और न इसमें कोई अपूर्वता ही है।

आज तक किसी भी समाजकी संघर्षातीर्षी परीक्षा इस प्रमाणके द्वारा
 राष्ट्रीय पद्धतिमें किसीने नहीं की थी, उन्में इस विवेकनके द्वारा प्रारंभ कर-
 नेका हमारा यह प्रथम प्रयत्न है । गत किसी प्रकरणमें आर्टिक्ल द्वारा विवेक
 प्रचारमें आर्टिक्ल Induction पद्धतिका उद्देश्य विद्या गया है । किसी भी
 पदार्थका सूक्ष्म निरीक्षण कर उसके गुणधर्मके संबंधमें अपने मनमें कुछ नियम
 निश्चित करने और उन नियमोंके अनुरोधसे प्रत्येक नवीन पदार्थकी परीक्षा
 कर प्रथम अनुमानित गुणधर्मकी सत्यता निश्चित करनेवाली यह पद्धति
 पद्धति भी कोई नवीन पद्धति नहीं थी । प्रत्येक मनुष्य मनुष्याधिक प्रमाणमें
 इस पद्धतिका अवलंबन करता ही है । अधिक तो क्या विचार करने तककी
 जिनमें शक्ति नहीं है वे यादक न जानते हुए भी इस पद्धतिकी नवीकार
 करते हैं । दीपकके आसपास गोलते समय बालकोंको दीपकमें छू जाने पर
 जल जाते हैं ऐसा ज्ञान होते ही यह विचार हो जाता है कि दीपकमें जल-
 नेका धर्म है । और जब किसी दूसरेको अथवा अपने आपको दीपकमें जलने
 हुए देखता है तब उसका पहिला विचार यह हो जाता है । यही वैकनकी
 विचार पद्धति है । तो जिसे बालक तक जानते हैं उसे वैकनन प्रकृत ज्ञानों
 तो उसमें ऐसी कान्सी अपर्यता थी । वास्तवमें अपर्यता कुछ नहीं थी ।
 परंतु ज्ञान प्राप्तिके कार्यमें इस पद्धतिका राष्ट्रीय हमले अधिक उपयोग वै-
 कनने किया अतएव यह श्रेय उसीको प्राप्त है । इसी प्रकार इस सत्य प्रमा-
 णका यद्यपि नवीन आविष्कार नहीं हुआ है तो भी आज तक राष्ट्रीय पद्ध-
 त्तिसे इसका अवलंबन न होनेके कारण इसमें एक प्रकारकी नवीनता ही
 नहीं जानेगी ।

समाजका सहाय अन्वेषण करनेका प्रयत्न करनेवाले कुछ विद्वानोंका यद्यपि
 उदाहरण दिया जाय तो उक्त विद्यानकी सत्यता प्रतीतिमें आ सकती है ।
 आगस्ट कोटने अपने ग्रन्थ Positive Philosophy (पॉजिटिव्ह फिलॉसफी)
 में समाजशास्त्रकी समस्या निश्चित करनेका उपक्रम किया है परंतु यह
 आधि-भौतिक वादको पार करके आगे न जा सका । उसका सिद्धान्त था कि
 जगत्के धर्मर्यामी तत्त्व भी भौतिकही हैं । पर मनुष्यके अंतःकरणमें कुछ श्रेष्ठ
 भावनाएँ हो सकती हैं और उनकी पूर्ण वृष्टि अथवा समाधान होनेके लिये
 परमेश्वर जैसी सर्व श्रेष्ठ कल्पनाकी आवश्यकता है, इसका अनुमान वह न कर
 सका । इस मानसशास्त्रके तत्त्वकी ओर दुर्लक्ष करनेके कारण उसकी

मीमांसा पूर्ण न हो सकी । कार्त्ताहृष्ट नामक तत्त्ववेत्ता मानवजातिको तत्त्वतः आध्यात्मिक मानकर अत्यो बढ़ा । और उसने यह प्रतिपादन किया कि उस आध्यात्मिक श्रेष्ठताका आवर्षा विभूति हुआ करती है अतः विभूति पूजाही सर्व श्रेष्ठ धर्म है । इसी धर्मसे मनुष्यको आत्यंतिक सुख प्राप्त होता है अतएव सुधारणाके लिये विभूति पूजाके सिवाय दूसरी ओरध्यान देनेका कुछ प्रयोजन नहीं है । परंतु उसके ध्यानमें यह नहीं आया कि विभूति सदा मनुष्योमें ही होती है । यह कुछ विशेष गुणोंमें उत्कृष्ट हो जाने पर भी सर्व गुण संपन्न नहीं होसकती । इसीलिये यह मनुष्यजातिकी सार्व-त्मिक कृतिके लिये आवर्षात्म्य नहीं मानी जा सकती । वर्तमानकालकी परि-स्थितिके अवलोकनसे विभूतिकी दुर्बलतामें ध्यानमें आने पर उसके प्रति अद्वा कम हो जाना करती है । इन हृदियोंके कारण कार्त्ताहृष्टकी पद्धति भी संशय रही । गत प्रकरणमें न्यूननके सिद्धान्त पर विचार करके यह सिद्ध कियाही जा चुका है कि उसका सिद्धान्त भी अपूरा है । न्यूननने आधि-भौतिकशास्त्रकी उपेक्षा की है । यद्यपि यह सत्य है कि आधि-भौतिकशास्त्र भी अंत तक पहुंचावेवाला शास्त्र नहीं है, परंतु यह नहीं मूल जाना चाहिये कि यह सुधारणाकी पहली सीढ़ी है । अंतिम सीढ़ी पर पहुंच जाने पर पहली सीढ़ीकी आवश्यकता नहीं होती, इस दृष्टिसे कोई पहली सीढ़ीको नष्ट नहीं कर सकता । यदि करेगा तो वह उसके लिये घातकही होगा । इसी तरह संस्कृति शास्त्रकी चिकित्सा कभी अम रहित नहीं हो सकती । इस प्रकार विचार करने पर यह विश्वास होता है कि सुधारणाशास्त्रकी चिकि-त्साके कार्यमें चिकित्सकोंने हमारे कहे हुये सर्वांगीण सत्यप्रमाणको स्वीकार नहीं किया है इस लिये उनके द्वाराकी हुई चिकित्सा दोष युक्त हुई है ।

इसके विरुद्ध उन कविगों, लेखकों अथवा तत्त्ववेत्ताओंका नाम लिया जा सकता है जो जगन्मान्य कहे जाते हैं । इन्होंने अपने काव्योंमें, ग्रन्थोंमें तथा विचारोंमें सर्वशास्त्र संयुक्त संस्कृतिके सत्य प्रमाणकोही स्वीकार किया है । इन कवियों अथवा लेखकोंका दृष्ट्य टीकात्मक अथवा मीमांसात्मक न होनेके कारण इन्होंने उक्त प्रमाणका निर्वेण स्पष्ट रीतिले नहीं किया है । परंतु विचार करने पर यह बात सहस्यरीतिले ध्यानमें आये बिना नहीं रहेगी कि उन्हें जो कीर्ति अथवा श्रेष्ठता प्राप्त हुई है वह इस प्रमाणके अभावमें रीतिले स्वीकार करनेके कारण ही हुई है ।

काकीदास अथवा शोन्सवियर जैसे अलौकिक कवियोंका विचार करनेपर मात्तूम होगा कि उनकी कीर्ति, भाषामनुष्य, सख्य कालित्य उपमा-प्राप्त्यर्थ आदि अपूर्व वाद्य गुणोंपर अवलंबित नहीं है। किंतु मनुष्य स्वभावका चित्र खेचते समय गतकालके उत्तम ऐतिहासिक प्रसंगोंका उन्होंने जो पार्श्वभाग लिखकाया है, मानसशास्त्रके ज्ञानसे चित्रके मुखपर जो अम्याज रमणीयता उत्पन्न की है और अपने एक चित्रमें भाषाके रूपसे जो अनेक प्रकारका रंग भरा है और इस प्रकार केवल अथवा काव्य स्वरूप अद्वितीय चित्र खड़ा कर दिया है, जिसे देखनेवालेको यह भास होता है कि नानों यह उसके हृदयकी बात ही कर रहा हो, इसी कलाकी खूबीपर उन्हें प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। जो मानवीय स्वभावका मर्म नहीं जानता वह उसे प्रगट भी नहीं कर सकता। जिसे मानवीय अंतःकरणके निम्न सम्पूर्ण रीतिसे मात्तूम हो चुके हैं वही उन्हें पथार्थ रीतिसे कह सकता है। इसके संबन्धमें एक समर्पक उदाहरण दिया जा सकता है, सितारमें सात तार जुआ करते हैं, पर जिसे साधारण रीतिसे सितार बजाना आता है वह केवल पहिला ही तार बजाता हैं। स्वर सप्तकोर्मेंसे न्यूनाधिक स्वर निकालनेके लिये बायें हाथसे उसी तारको सदा पहीपर दबाये रखकर दाहिने हाथसे उसी तारको छेड़नेसे इच्छानुसार आवाज निकाला करती है। परंतु जिसे अच्छी तरहसे बजाना आता है उसे एक ही तारसे सतीय नहीं होता। सम्पूर्ण तारोंपर अंगुलियां रखकर एकके बाद एक अर्द्धी जबदी, मित्र मित्र सप्तकोर्मेंसे सुस्वर निकाले बिना और दूसरे हाथसे क्रमानुसार सम्पूर्ण तारोंको छेड़ सकनेकी शक्ति बिना उत्तम गवईयोंकी मनसोक आलापके अनुसार सितारमेंसे आलाप नहीं निकाली जा सकती। इसी प्रकार मानवीय व्यवहारोंके सब तारोंको सम्पूर्णतया बजानेका ज्ञान हुए बिना संस्कृतिशास्त्रके सत्यज्ञानका मर्म नहीं जाना जा सकता।

अर्मनकवि और नाटककार गटेकी भी वही स्थिति है। उसके नाटक और कविताके प्रथम संतूकमें संनाल कर संग्रह किये हुए रत्नोंके समान मानसशास्त्रके सार्वत्रिक नियमोंका संग्रह हुआ है। पथार्थ विशावशास्त्रमें कहे अनुसार जिस प्रकार विद्युत्ताक्तिके सम और विपम ऐसे भिन्न प्रकारके दो प्रवाह होते हैं और उन दोनोंका घर्ष एक दूसरेको आकर्षण करनेका होता है, उसी प्रकार मनुष्य-जातिमें भी और पुरुष दो उपभेद होते हैं और उनका भी घर्ष परस्पर आकर्षण करनेका होता है। मानसशास्त्रके इस सत्यको उस कविने अपने

Elective Affinities नामक नाटकमें बड़ी सुंदर रीतिसे और अनुपम स्वभाव वर्णन पूर्वक चित्रित किया है। उसने अपने Tasso नामक एक वृत्ते नाटकमें कवि, तत्त्ववेत्ता चणैरद विचार प्रधान लोगोंके चार्मि और व्यवहार-चणुर कर्तृत्व प्रधान लोगोंके चार्मि जो निरंतर अंतर दिखाई पड़ता है उसका बड़ी सुंदर रीतिसे वर्णन किया है। इसी प्रकार फोल्ड और बुइचर्डेस माह-स्टर नामक ग्रंथमें मानवजातिकी साध्य स्थितिकी भदुस्वाकांक्षा रूप कल्पनाके अंतरीक्षणमें भी वह बहुत कुछ ऊंचा उड़ा है।

राय ऐलकोमं बेकन और एमर्सन प्रमुख माने जा सकते हैं। बेकनने अपने निर्बंध संग्रहमें मानवीय मनोवृत्तिका सम्पूर्णतया उद्घाटन करनेका प्रयत्न किया है। उसने मनोवृत्तिका वर्गीकरण करके उन वृत्तियोंका कौनकौनसे व्यावहारिक कार्योंसे संबंध है और वह संबंध क्या है इसका ध्यान किया है।

जिस-प्रकार ऊंचे पर्वतपरसे नीचेके सम्पूर्ण मार्ग, दृष्टि पथमें एक साथ आ जाते हैं और वे दूसरेसे कहां मिलते हैं यह स्पष्टतया जाना जा सकता है उसी प्रकार विचार गिरिके उच्च प्रदेशपरसे बेकनने अंतराकरणकी वृत्तियोंके भिन्न भिन्न मार्गोंको एक दृष्टिसे देखा है।

— एमर्सन नामक अमेरिकन तत्ववेत्तानें भी इसी मार्गका अवलंबन किया है। उसने भी अगतके सूक्ष्म निरीक्षण और मानसिक व्यापारोंके प्रयत्नको अगतके सम्मुख स्पष्ट भाषाके द्वारा उपस्थित किया है। उसने अपने इंग्लैण्डके प्रवास रूपमें एक गाडीवालेसे लेकर तत्ववेत्तात्क सब प्रकारके लोगोंकी सर्व-काळीन मनोवृत्तियोंकी जांचकर उन मनोवृत्तियोंके सामाजिक उद्घति व्यव-स्थिकी दृष्टिसे होनेवाले परिणामका बड़ी मार्मिक रीतिसे वर्णन किया है। यही कारण है जो ऐसे ऐसे ग्रंथकारोंके बचनोंको प्रमाण मानकर उनके द्वारा भावी पीढ़ीके अगुआ अपने समयकी सामाजिक वृत्तिकी परीक्षा करते हैं। एडमंड बर्क नामक एक राजनैतिज्ञने एक स्थानपर इस प्रकार उद्गार निकाले हैं कि “ (Great) और विचारवान अनुपम अपने समयके और भावी पीढ़ीके लोगोंके लिये मार्गके स्थल मापक स्तंभके समान मार्गदर्शक होते हैं।”

* Great men are, during their time and generation the guide-posts and land-marks of Thought.

महापुरुषोंके चरित्रोंको अवलोकन कर साधारण जन समाज, अपना मार्ग ठीक है या नहीं और प्रगतिका मार्ग कहाँतक व्याप्तमित हुआ है, यह जान लेती है।

इस प्रकार मानसशास्त्रके नियमोंका सम्पूर्णतया पृकीकरण कर उन्हें वर्तमान स्थितिपर पूर्ण तया बढित करते हुए उसकी पद्धतिके द्वारा वर्तमानकालीन स्थितिका विश्लेषण करनेवाले वास्तविक तत्वज्ञानी पुरुष, कवि, प्रबंधकार, चित्रकार आदिके रूपसे भिन्न भिन्न क्षेत्रोंमें प्रसिद्ध हुए हैं। उनकी इस पद्धतिके द्वारा की हुई चिकित्साका अनुमान उनकी कृति परसे होता है। उन्होंने समाजकी गतिस्थितिका विचार और उसकी इस प्रमाणके द्वारा परीक्षा कर विज्ञानरूपसे इस नियमको प्रकट नहीं किया है क्योंकि उनका प्रकट हेतु काव्य, ग्रन्थ अथवा चित्र निर्माण करनेका था। नकि जनताको शिक्षा देनेके लिये सुधारणाशास्त्रकी नीमांसा करनेका। जो सुधारणा अथवा संस्कृतिका छाकीय पद्धतिले विवेचन करना चाहते हैं उनका इस सर्व मान्य प्रमाणके द्वारा समाजका पृथक्करण किये बिना छुटकारा नहीं। कवि और उपन्यासकारकी कृतियोंमें जो सत्य प्रमाण माफूम पड़ता है वह एक जलका विशेषमें बड़े हुए अनेक रत्नोंके संग्रहके समान है। प्रत्येक रत्नको सच्ची परीक्षा करनेके लिये उन्हें उस जलकारमें से, निकालकर उन्ही की आदिके दूसरे रत्नोंके पास रखना पड़ता है। उसी प्रकार नाटक, उपन्यास अथवा चित्रों या पात्रोंके आचरणमें शुभे हुए सुधारणाके नियमोंको प्रयुक्त कर जनताके सम्मुख रखनेसे वे शोधप्रद हो सकते हैं।

इस सर्वथोम अवशुति कविका एक छोटसा उदाहरण दिया जा सकता है। इस महाकविने “उत्तर रामचरित्र” नामक एक बहुत मनोहर नाटक लिखा है। उसमें कविने श्रीरामचंद्रके आचरणका अद्वितीय आवर्त पाठकोंके सम्मुख रखा है। कविने राजाका प्रजाके साथ क्या कर्तव्य है? इसका वर्णन महाराजा रामचंद्रके ही द्वारा इस प्रकार करवाया है।

स्नेहं ह्यां, तथा सौख्य यदि वा आनकीमपि ।

आराधनाय लोकस्य मुंचतो नास्ति मे व्यथा ॥

यह केवल कहलाया ही नहीं गया है किन्तु कविने इस श्लोकके आवर्त के अनुसार रामचंद्रजीसे आचरण भी करवाया है। इसी प्रकार रामकीय अनुशासनके प्रकरणमें राजाके व्यवहार और राजाके प्रयत्नसे समाजपर होनेवाले

परिणामोंका भी तत्त्वरूपसे वर्णन किया है । यदि इस वर्णनको, जो कविने महाराजा रामचंद्रके आचरणमें प्रथित किया है पृथक्कर किसीने उसे स्पष्ट भावार्थ रूपसे जगतके सन्मुख रखा होता और उसके द्वारा उस (रामचंद्रके) समयमें इस नियमका क्या इष्टानिष्ट परिणाम हुआ इसकी चिकित्सा की होती तो उसकी यह कृति समाज शास्त्रके एक अच्छे विषयके रूपसे आदरकी पात्र हुई होती । जब रामचंद्रके सन्मुख सीता परित्याग और प्रजावाल्मीक्य के दो प्रश्न उपस्थित हुए और मनोविकारोंमें झगडा होने लगा तब अप्रतिम पत्नीप्रेम, सीताके निष्कलंक चरित्रका विश्वास और आरोप करनेवाले धोबीकी झुट्टा आदि पातें सीता परित्यागके कार्यमें बाधाक्य होते हुए भी प्रजावाल्मीक्यकी जय हुई और रामचंद्रने सीताका त्याग किया । रामचंद्रके इस आचरणको प्रथित कर कविने रामचंद्रके अंतःकरणकी श्रेष्ठता, उससे होनेवाला राजनिष्ठा वर्धक परिणाम और उसके द्वारा समाजमें फैलनेवाली शांति व स्थिरता प्रगट करते हुए अपने मनकी अनेक विधता प्रगट की है । यदि इसी घटनाको चर्चात्मक पद्धतिसे किसीने प्रथित की होती तो, यद्यपि उसमें भवभूतिकी बाह्य कृत्तिका प्रकाश नहीं दिखलाई पड़ता तो भी संस्कृति शास्त्रकी पद्धतिसे की जानेवाली समान चिकित्साकी दृष्टिसे यह ग्रंथ प्रमाणभूत हुआ होता । साधारण जन समाजमें चिकित्सक बुद्धिकी न्यूनता होनेके कारण यह कवि और नाटककार आदिकी कृतिसे चित्तरंजन करनेके सिवाय दूसरा काम नहीं उठा पाते । किंबहुना कवियोंकी कृतिसे तत्व ग्रहण न कर सकनेके कारण ऐसे लोगोंके मनपर झुंझ तत्वोंका अनेक बार विपरीत परिणाम होता दिखलाई पड़ता है । सम्पूर्ण धर्मोंके मूलतत्व एक ही प्रकारके होने पर भी दो भिन्न धर्मों किन्तु एक ही धर्मके दो पंथोंके दो अनुयायी धर्मके नामसे एक दूसरेका गला काटनेको तयार हो जाते हैं । एक ही देशकी सेवा करनेकी उत्कट इच्छा रखनेवाले दो पक्षके लोग एक दूसरेकी छातीपर धेनुके प्रयत्न करते हैं । ऊपरसे साधुपनका ढोंग बनाकर अपने वेपके बधु पर सूखे खियोंको और खदूवृत पुत्रोंको उगते हैं । इन सब बातोंका कारण झुंझारणोंके तत्व बतलानेवाले सर्व शास्त्र सम्मत प्रमाणका अभाव है । यदि लोगोंको यह बात माहूम हो जाय कि धर्म केवल अंधश्रद्धात्मक ही न होकर श्लाघ्यवैपक होना चाहिए तो फिर भिन्न भिन्न धार्मिकोंकी विकार बसा होकर परस्पर झगडे करनेकी प्रवृत्ति बहुत कुछ कम हो जाय । इसी तरह यह

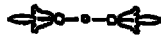
माहूम हो जानेपर कि राजकीय अनुशासनमें अपने मतानुसार प्रत्येकको देश-सेवा करनेकी स्वतंत्रता है और किसीको जोर देकर कहनेका यह अधिकार नहीं है कि तुझे मेरा पक्ष स्वीकार करना चाहिये तो पक्षनेदकी आम जो तीव्रता दिखालाई पड़ती है वह भी बहुत कुछ कम हो जाय । तथा जब समय समयकी परिस्थितिके अनुसारसे प्राप्त हुए मानस शास्त्रीयज्ञानका उपयोगमें अधिक प्रचार हो जायगा और वे यह समझने लगेंगे कि बहुतसी वार दुर्युज, सद्गुणरूपी वस्त्रमें ढंका हुआ रहता है और बदलती हुई परिस्थितिमें लोगोंको जिस २ प्रकारका वेप प्रिय माहूम होता है उसी वेपको धारण कर धर्म-प्राणलोगोंको वह (दुर्युज) उगता है तब डोंगी साधुओंका व्यापार बंद हो जायगा । परंतु इस प्रकार परिस्थितिले समीकरण किने हुए मानस-शास्त्रके नियम, सम्पूर्ण रीतिले और एक क्मसे समाज विभिन्नताके धर्ममें आजतक प्रमाण क्मसे नहीं माने गये थे अतः सुधारणाके उत्पत्तिका सत्यप्रमाण भी आजतक उपलब्ध नहीं था, पर अब वह उपलब्ध हो गया है । और इस कारण सुधारणा शास्त्रकी परीक्षा कर कार्य बहुत सुगम हो जायगा, यह कहनेमें कोई हानि नहीं दिखालाई पड़ती ।



द्वितीय परिच्छेद ।



साध्य मीमांसा ।



प्रकरण पहिला ।

सुधारणाका साध्य ।



गत परिच्छेदमें सुधारणाके सत्त्वोंके प्रमाणपर विचार हो जानेसे अब प्रथमे मुख्य विषयका विवेचन करनेमें बहुत सुनीता होगा । मुख्य विषयका विवेचन करते समय पहिला प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि मनुष्य, जगतके आरंभकालसेही सुधारणाके लिये प्रयत्न कर रहा है तो उस सुधारणाका साध्य स्वरूप क्या है ? किस दृष्ट स्थितिपर पहुँच जानेपर यह समझा जायगा कि पूर्ण तथा सुधारणा हो गई। यह नियम है कि मनुष्यप्राणीके प्रत्येक कार्य का कोई न कोई हेतु अवश्य रहता है जिसे वह साध्य करना चाहता है । “ प्रयोजनमनुद्दिश्य न संदोषि कार्याणि प्रवर्तते ” अर्थात् बिना हेतुके सूर्ज भी कार्य करनेको उद्यत नहीं होता इस नियमके अनुसार सुधारणाके हेतुके अंतिम साध्यका ज्ञान अवश्यही पहिले होना चाहिए । बिना ऐसा हुए यह बात कैसे जानी जा सकती है कि किन्ही समाजकी सुधारणा हुई या नहीं ? । जिस प्रकार राष्ट्रिके समयमें निर्जन वनमें रास्ता सूखा हुआ मनुष्य श्रवणशक्ति स्थितिपरसे अपने गमनकी दिशा निश्चित करता है और उसके अनुसार जाता है अपना समुद्रके महान् दृष्टानके चक्रमें पड़ा हुआ नाविक, दूरसे दिखलाई देनेवाले स्थल प्रदेशपरके धीपकको देखकर अपने जहाजको उसी दिशाकी ओर ले जानेका प्रयत्न करता है उसी प्रकार अनंतकालकी महासमुद्रमें यात्रा करनेवाले सुधारणास्त्री जहाजका भी कोई बंदर निश्चित होना चाहिए, जिसकी ओर वह गमन करता हुआ अपना मार्ग आक्रमण करे और

पहुँच जानेपर अपनी यात्रा पूरी हुई समझे । सुधारणाके साध्यका विचार कुछ उदाहरणोंके द्वारा करना उचित होगा । इन उदाहरणोंमें भी सरलतासे कठिनाईकी ओर खेजानेवाली पद्धति स्वीकार करनेसे बहुत कुछ सुभीता होनेकी संभावना है । बाळककी स्थिति देखनेपर माळूम होता है कि इस स्थितिसे अच्छी स्थिति जगतमें दूसरी नहीं है । क्योंकि जगतकी असक्य दृष्ट मनोवृत्तियों और दृग्गुणोंका इसके हृदयसे स्पर्श भी नहीं रहता है । उसे प्रायः जगतके बड़े बड़े सुखोंकाही साधारणतः परिचय होता है और दुरतोंके पर्वतोंकी भावनासे वह दूर होता है । ऐसी रमणीय बाळपनकी प्राप्तिकी, बड़ी उन्नतमें इच्छा होनेके कारण " रम्य वह बाळपन देव दीजे " इस प्रकारकी प्रार्थना करनेको भी चाहता है । क्रुद्धस्व संरक्षणकी चिन्ता, जगतका तीव्र जीवन कलह, दृग्गुण और दृष्णुत्वोंका परिचय और इन सब कारणोंसे होनेवाले प्राप्तके कारण क्रुद्धस्वके मुखिया पुरुषकी स्थितिकी अपेक्षा बाळककी स्थिति बहुत कुछ निश्चित पूर्व बड़ी अवस्थावालोंके छिये स्पृहणीय होती है । परन्तु बाळककी अपेक्षासे विचारा जाय तो उसे अपनी स्थिति स्पृहणीय नहीं माळूम होती । वह अपनी छोटी अवस्था और उसके कारण अपनेसे बड़ेकी आज्ञा पाळन करनेकी आवश्यकता तथा उनके द्वारा स्वातन्त्र्यका नियमन होना ही जानता है । वह अपनेसे बड़ोंको स्वतंत्रता पूर्वक कार्य करते हुये देखकर अपनी स्थिति हीन श्रेणीकी समझता है । अतएव स्वतंत्र होने तथा क्रुद्धस्वके बंधनसे मुक्त होनेकी इच्छा करता है । सारास यह कि समाजके एक छोटेसे जंग क्रुद्धस्वके बंधनसे-स्वतः की-व्यक्तिकी मुक्तता होनेको वह श्रेष्ठ स्थिति समझता है ।

विचार करनेसे माळूम होगा कि बाळकोंमें स्वभावतः दिखलाई देनेवाली उक्त भावना दूसरे स्थानोपर भी उन्नतिका मार्ग निदर्शक भाषी जाती है । सुशिक्षित कहलानेवाले रोमन साम्राज्यमें छोटे बाळकोंका अस्तित्व उपेक्षणीय माना जाता था । छोटे बाळकोंकी मारनेपीडने-उनके प्राणोंको जोखिममें डाल देने तककी सत्ता क्रुद्धस्वके मुखिया पुरुषको हुभा करती थी । सारास यह कि छोटे बाळक क्रुद्धस्वकी समान विभागकी सत्ताके पूर्ण अधिकारमें थे । आगे जाकर रोमन लोगोंको ही यह स्थिति अस्वाभाविक लगली और अनिष्ट माळूम होने लगी अतः कानूनोंके द्वारा उन्होंने इस स्थितिको सुधारनेका प्रयत्न किया । बाळकोंके सुधारके छिये जितनी पारिरीक शिक्षा देनेकी भाष-

शक्तिता हो उससे अधिक न देनेका तथा उनके प्राणोंकी जोखिम न होनेका कायदा बना कर रोमन लोगोंने कानूनके द्वारा छोटे बालकोंका व्यक्तिगत अस्तित्व स्वीकार किया ।

उस समय यह वक्ता छोटे छोटे बालकोंकी ही नहीं थी किन्तु कुटुम्बके मुखियाके मिवाथ दूसरे पुरुषोंकी एवं स्त्रियोंकी भी यही परतंत्रतापूर्ण स्थिति थी । इनके संबंधमें भी अनेक कानून बनाकर इनकी स्थितिका सुधार किया गया । इन मनुष्योंको कुटुम्बका मुखिया पुरुष शारीरिक बंध दे सकता था । उसका यह अधिकार कानूनके द्वारा नष्ट कर दिया गया । और उन मनुष्योंको अपने निजकी तोर पर नियमित नयाँदातक द्रव्य संग्रह कर सकनेका अधिकार प्राप्त हुआ । इस प्रकार उन्हें बन्धनोंसे मुक्त किया गया । वर्तमानमें किसी भी देशमें व्यक्ति कानूनन परतंत्र नहीं मानी जाती । और इस स्थितिका गत स्थितिसे तुलनात्मक विचार करने पर यह कहना माग होता है कि वर्तमानकी स्थिति सुधरी हुई है ।

इस प्रकार समाजके सबसे छोटे-सम्बन्धनात्मक विभागकी-कुटुम्ब-स्थिति देखनेके बाद मानवीय व्यवहारके इससे बड़े क्षेत्रकी स्थितिका विचार करना उचित होगा । अनेक कुटुम्बोंसे मिलकर समाज बनता है । उस समय उनके परस्परका संबंध किस प्रकार हो, यह प्रश्न साहसिक रीतिसे होता है । और फिर स्वर्णांतर, दिग्विजय, शरीरसंबंध आदि कारणों व प्रसंगों द्वारा भिन्न देशीय अथवा भिन्न वर्णीय लोगोंका संबंध होनेपर जंच, नीच, श्रेष्ठ, हीन, अथवा कार्य भिन्नताका प्रश्न उपस्थित होता है । जेता-विजयी-को अपना वर्ग, शिक्त वर्ग-पराजित वर्गसे सदा ऊंचा और श्रेष्ठ मतीय होता है । स्वर्णांतर करनेवालोंकी अपेक्षा मूलनिवासियोंको अपना वर्ग श्रेष्ठ मान्ना होता है और इसी प्रकार पुरुष आसिके बलवान होनेके कारण कन्या पक्षकी अपेक्षा वर पक्ष अपनेको श्रेष्ठ मानता है । ऐसे भिन्न भिन्न वर्गोंका जब एक समाजके षटक बननेका समय आता है तब भेद उत्पन्न होते हैं । इसके सिवाय समाजमें कितने ही लोग बनवान होते हैं और कितने ही विघ्न । इस दृष्टिसे भी समाजमें श्रेष्ठ और हीनकी भावना उत्पन्न होती है । इसी प्रकार श्रेष्ठत्व और हीनत्वका माप व्यापार पर भी निर्भर होता है । जो श्रेष्ठ बंदा करता है वह श्रेष्ठ माना जाता है और हलका बंदा करनेवाला

हीन । इस प्रकारके भेद उपस्थित हो जाने पर वह धीरे २ स्थायी होने लग जाते हैं और अंतमें एक दूसरेसे विकल्प रहनेवाले अनेक भेद समाजमें हो जाते हैं । परिणाम यह होता है कि समाजके जो विभाग श्रेष्ठ मान लिये जाते हैं, फिर वह चाहे उत्पत्ति, संपत्ति, जन्म, व्यापार आदि किसी भी कारणसे माने गये हो, उनके बंधनमें हीन माने जानेवाले वर्गको रहनेकी स्थिति प्राप्त होती है । और कमिष्ठवर्गके बुद्धिमान, कर्मण्य एवं सदाचारी व्यक्तिको भी समाजका यह बंधन दूर करना भारी हो जाता है । यह स्थिति कभी हट नहीं मानी जा सकती और न सुधारणाकी स्थिति ही कही जा सकती है । और इस लिये प्रत्येक व्यक्तिको समाजके इन बंधनोंसे उसकी योग्यताके अनुसार स्वतंत्रता प्राप्त होनेकी स्थितिही सुधारणाकी स्थिति कही जा सकती है । इन उदाहरणसे भी यही निष्पन्न होता है कि समाजके कुटुम्बकी अपेक्षा बड़े विभागके बंधनसे व्यक्तिको छुटकारा होना ही संस्कृतिका-सुधारणाका लक्षण है । इससे भागे चलनेपर समाजमें सार्वजनिक शांति रखने और जयताकी रक्षा करनेके लिये राजकीय अनुशासनकी आवश्यकता विदित होती है । इन दृष्टिये समाजके अधिकारी वर्ग और प्रजा वर्ग ऐसे दो भेद उत्पन्न होते हैं और उनकी श्रेष्ठता व हीनताका प्रश्न उत्पन्न हो जाता है । जिस वर्गके हाथमें मत्ता होती है उस वर्गमें स्वाभाविक रीत्या एक प्रकारकी बड़ी सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है । और वह वर्ग अपने सामर्थ्यका सहुपयोग अथवा हुरुपयोग कर सकता है । ऐसे अधिकारी वर्गके फिर चारे वह वर्ग अनिश्चित-राजसत्ताक हो, अभिजनसत्ताक हो अथवा अल्पसत्ताक हो-बंधनोंमें प्रजा वर्गको रहना भाग होता है । यदि अधिकारी वर्ग प्रजामेंसे चुना हुआ हो और प्रजेउत्तुल्यता हो तो उत्तम है नहीं तो प्रजाकी श्रेष्ठ व्यक्तियोंको भागे पट्टनेमें बड़े बड़े बंधनोकी आड़ भाये जिना नहीं रहती । निश्चित मर्यादाके बाहिर जाना फटिन हो जाना है । जास्तबन्धन देना जाय तो अपनी बुद्धि, शक्ति व इच्छाके अनुसार अपने देवकी और उन्मत्त पाद अजित मानव जातिकी सेवा कर सकनेसे सुभीने प्रत्येक व्यक्तिको प्राप्त होनाही सर्व श्रेष्ठ स्थिति है । यदि यह न हो और व्यक्तिके उत्कर्ष होनेमें अधिकांशका प्रतिबंध हो तो यह स्थिति हीन मानने हूण भी बर्मान सम देवनेशके कार्यों अधिकारी वर्गके उचित प्रतिबंधोंकी अज्ञान न जाना और प्रत्येक व्यक्तिको स्वतंत्रता होना भी सुधारणाकी स्थिति नहीं जा सकती है ।

इसके दाद इन सबसे अधिक व्यापक विचारोंकी मूर्ति धर्म संस्थाका विचार करनेसे यह विश्वास हुये बिना नहीं रहेगा कि इस संस्थामें किसी भी प्रकारके कृत्रिम बंधनोंका होना अत्यन्त अभिष्टकारक है । अतःके क्षुद्र एवं स्वार्थी मनोविकारों तथा नश्वर सुखका त्याग कर सम्पूर्ण विश्वके सूक्ष्म कारणकी खोज करना ही धर्मरूपी संस्थाका उदात्त विषय है । इस पर भी धर्मसंस्थामें क्षुद्र भेदोंका होना, उन भेदोंके पक्षपातियोंका आपसमें एक दूसरे पक्षपर आत्याचार करना, एक दूसरेकी पक्ष झूठी सिद्ध करना और अपने विचार उभर पर अवरोध छाड़नेका प्रयत्न करना सिवाय जगत्कीपनके और क्या हो सकता है ? । प्रत्येक मनुष्यको अपनी निजकी योग्यताके अनुसार योग्य मार्गसे परमेश्वरके पास जानेकी पूर्ण स्वतंत्रता है । उसे विशिष्ट कृत्रिम पथोंके द्वारा बंधन डालकर अशुभ मार्गसे जानेकी कहनेका किसीको भी अधिकार नहीं है । परमेश्वरको सम्पूर्ण धर्म प्रिय है वह सब भाषाएँ समझता है, उसे सम्पूर्ण वर्ग प्रिय हैं तथा छोटेसे लेकर बड़े तक पर उसका वास्तव्य भाव है । ऐसी दृष्टामें किसीको यह कहनेका क्या अधिकार है कि तेरा मार्ग झूठा है और हमारा मार्ग ठीक है । मनुष्यको स्वतंत्रता है कि वह अपनी इच्छानुसार परमेश्वरकी उपासना करे । भगवद्गीतामें कहा है कि

यो यो यां यां तनुंभक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।

तस्यतस्याचक्षां श्रद्धां तामेव विदधाम्यह ।

स तथा श्रद्धया युक्तः तस्याराधनमीहते ।

छमते च ततः कामान् भयैव विदितान्दितान् ॥

सारांश यह कि जो जिस रूपसे परमेश्वरकी सेवा करता है, परमेश्वर उन्ही रूपसे सेवा स्वीकार कर सेवाकी इच्छा पूर्ण करता है । कुछ ऐसे धर्म अथवा संस्थाएँ हैं जो यह नहीं मानते कि परमेश्वर किसीकी सेवा स्वीकार करता है । और उससे प्रसन्न होता है । पर यह न मानते हुए भी गीताके उक्त कथनसे निकलते हुये इस सारको वे अमान्य नहीं कर सकते कि सब मनुष्योंको अपनी अपनी इच्छानुसार उपासना करनेकी या धर्मपालनकी स्वतंत्रता है । कोई किसीके मार्गको झूठा धा धूरा नहीं कह सकता । धर्म कल्पनासे पैनी उदार भावनाका होना सुधारणाका घोटक है । उदार भावना, श्रेष्ठ कल्पना और अगाध विचारसे भरे हुए धर्म साधनोंमें क्षुद्र पक्षभेद, संकुचित बुद्धि

और हुए मनोविकारोंका होना बिल्कुल अस्वाभाविक अतएव तिरस्करणीय है । व्यक्तिको अपना साथ सिद्ध करनेके कार्यों कितनी भी धर्म अथवा पंथ-रूप विभागोंका बंधन होना उचित नहीं है । और यदि बंधन हुए तो उनसे मुक्त होकर स्वतंत्रतापूर्वक अपना श्रेय साधन करना ही संस्कृतिका लक्षण है ।

धर्मरूपी समाज विभागके पश्चात् सम्पूर्ण विभागों, उपविभागोंसे घनी हुई समाजका निरीक्षण किया जाय तो विदित होगा कि उसमें समाजके घटक स्वरूप व्यक्तियोंका परस्पर संबंध नीतिशास्त्रकी कसौटीपर परखा जाता है । और उसमें व्यक्तिका उत्कर्ष ही सुधारणाका चिन्ह प्रतीत होता है । श्रेष्ठ नीतितत्वोंके आचरण करनेवाले व्यक्तिका-फिर चाहे वह दूसरी जातोंमें-कितना ही निर्विकल्प न हो-सुधरी हुई समाजके द्वारा सम्मान होना क्या प्रकट करता है ? जंगली समाज-जिनका सामाजिक बंधा प्रायः खोरी, रास्ता-जमी व कसैती करनेका है-परमी नीतिवान् पुरुषका बचाव होनेका कारण क्या है ? यही कि व्यक्तिकी शारीरिक, नैतिक, धार्मिक आदि सब प्रकारके उत्कर्ष सुधारके चिन्ह माने जाते हैं । अतः सुसंस्कृत स्थिति प्राप्त होनेके लिये प्रत्येक व्यक्तिको उसके उत्कर्षके मार्गोंकी सामाजिक विभिन्न बाधायें दूर होकर स्वतंत्रता मिलना आवश्यक है ।

मनुष्यप्राणीकी सम्पूर्ण कल्पनाओंका जन्म तत्त्वज्ञानमें होता है । सम्पूर्ण अगत्का बहुत कुछ ज्ञान करा देनेवाले आधिभौतिक शास्त्रका अध्ययन करनेके बाद भिन्न इन्द्रियोंके द्वारा भौतिक पदार्थोंका ग्रहण किया जाता है वे किस प्रकार उत्पन्न हुई तथा इन्द्रियोंका किस मन पर प्रभाव पड़ता है यह मन कहासे उत्पन्न हुआ और उसकी गतिके नियम क्या हैं इन बातोंका ज्ञान मानस शास्त्रसे होता है । इस प्रकार आधिभौतिक और अधिभौतिक शास्त्रोंके उपयोगसे चराचर सृष्टिके बाह्य स्वरूपका ज्ञान हो जाने पर सृष्टिकी उत्पत्ति, सृष्टिका कारण, जन्म, शेष आदि गूढ़ प्रश्नोंके उत्तरके लिये तत्त्वज्ञानकी सारणमें जाना पड़ता है । तत्त्वज्ञानने इन सब बातोंके संबंधमें यह उत्तर दिया है कि आत्मा स्वतंत्र है, परंतु शरीरादिके कारण जिन बंधनोंमें वह पद गया है उन्हें नष्ट कर उत्कर्षके प्रति आनेकी ही श्रेष्ठ स्थिति, सिद्धा-यत्था और सर्वोत्तम गति कहते हैं । यदि सर्व स्थानोंमें आत्मा ही है दूसरे पदार्थ केवल भाषा मात्र हैं, यह अद्वैत वाक्य सिद्धान्त ही माना जाय तो

ता था । मनुष्यकी बुद्धि प्रगति-पर होती है और श्रेष्ठ स्थिति प्राप्त कर-
 और उसका सदा प्रयत्न रहता है । उसका श्रेष्ठ स्थितिके आदर्शरूपसे
 प्रेरक पदार्थ अवश्य होता है । आस्तिक लोगोंकी दृष्टिमें यह पदार्थ
 धर्म है । परन्तु कष्ट यह बात नहीं मानता । उसने इस स्थानके योग्य मानव
 ही को माना है । उसने कार्याकार्यके सम्बन्धमें यह उद्घोषा है कि
 मनुष्यकी शुद्ध अतःकरण पूर्वक सेवा करना ही मनुष्यका सर्व श्रेष्ठ
 धर्म है । उसकी इस मानवी समाज अथवा जनता (Humanity)
 देवताकी कल्पनाका सूक्ष्म रीतिसे अवलोकन करना उचित होगा ।
 वे भी प्राणीकी शरीर रचनाका विचार करने पर यह भाव्य होता है कि
 वे अनेक अवयव व भाग हैं । और उन अवयवों अथवा भागोंको विशेष
 कार्य करना पड़ते हैं । इस कार्य कर्तृत्वकी दृष्टिमें उनमें परस्पर भेद
 होता है । परन्तु प्रत्येक भाग अपने नियत कार्यको केवल स्वतःके व्यक्त-
 हितके लिये नहीं करता किन्तु शरीर धारणाके मुख्य कार्यके लिये ही
 है । उसी प्रकार मानव समाजकी देहके अवयव भी अपने नियत
 अस्तित्व समाजकी धारणाके लिये करते हैं । इस कार्य भेदकी अपेक्षा
 में समाजके चार मुख्य भाग किये हैं । इन चारों भागोंका वर्णन उसीके
 नामों द्वारा रूपसे यहाँ किया जाता है ।

‘इस प्रकार परमेश्वरके स्थानपर मानव समाजकी देवताकी प्रतिष्ठा कर देनेसे
 पूर्ण मानव जाति पर निःसीम प्रेम करना और उसकी अङ्गित्व सेवा
 ही मनुष्यका सर्व श्रेष्ठ कर्तव्य ठहरता है । प्रत्येक मनुष्यमें स्वार्थकी
 भावना प्राप्त करती है । इन भावनाओंका नाश कर उनके स्थान पर
 सेवा रूपी सत्वकी दृढ़ स्थापनाका कार्य अत्यन्त परिश्रम और आत्म
 नियन्त्रण ही साध्य हो सकता है । यह सेवा रूपी सत्वकी स्थापनाका काम
 समान रीतिसे नहीं हो सकता क्योंकि सबकी मानसिक और नैतिक
 वे समान नहीं होती । जिन जोड़ेसे लोगोंकी मानसिक और नैतिक
 वे हो चुकी है, जो सत्य बोधनार्थ स्वार्थ और ऐहिक बातोंका त्याग कर
 हैं उन्हें एक प्रकारसे ब्राह्मण अथवा पुरोहितका रूप प्राप्त होगा ।
 परन्तु भविष्यमें सत्य वेत्ता लोग मानव समाज रूपी धर्मके पुरोहित होंगे ।
 उनके वैश्विक व्यवहारकी शुद्धता पर समाजके संपूर्ण भागोंका योगक्षेम
 रहेगा । संसार और राज कार्योसे पराङ्मुखता ही धार्मिक और वैश्विक-

प्रकरण दूसरा । सुधारणाका मार्ग ।

—•• ❀❀ ••—

गत प्रकरणमें यह सिद्ध हो चुका है कि व्यक्तिका उत्कर्ष और उस उत्कर्षमें बाधा उपस्थित करनेवाले सामाजिक छत्रिन बंधनोंका निराकरण ही सुधारणाका साध्य है । अब यह देखना है कि उस सुधारणाका मार्ग कैसा है ? । साथ ही साथ इस पर भी विचार करना है कि उक्त तत्त्वको नियमन करनेवाली कोई मर्यादा है या नहीं ? । अद्वैतवादी लोगोंमें सुधारणाके एतद्दक्षणासे भ्रम फैल जानेकी संभावना है । क्योंकि यह विद्वित हो जानेपर कि व्यक्तिका उत्कर्ष प्राप्त करना ही सुधारणा है और सामाजिक बंधनोंका कांटा निकलवाना ही उचित है सर्व सुधारणमें मन मानी करनेकी इच्छा होवेका अर्थ है । कोई व्यक्ति यदि बनी होना चाहेगा तो वह अपने इस उत्कर्षके लिये दूसरे व्यक्तियोंको छूटनेमें फिर कसर नहीं करेगा ? क्योंकि सुधारणाके उक्तदक्षणासे समाज बंधन तो रहेगा ही नहीं । इसी प्रकार व्यक्तिविशेष यदि सामाजिक श्रेष्ठता चाहेगा तो वह अपनेसे उच्च आचरणवालोंके सिरपर भी वैदिक प्रयत्न करेगा । धार्मिक क्षेत्रमें उत्कर्ष प्राप्तिकी आकांक्षा रखनेवाला परमेश्वर आधिकारी और धर्मके उदार तत्त्वको एक ओर हटानेका साहस करेगा । राजकीय बंधनका विरोधी आराजक बनकर उत्कर्ष काम करनेकी कोशिश करेगा । सादांत यह कि उक्तदक्षणासे अग्रजुद्ध व्यक्तियोंके द्वारा विधेय होनेकी संभावना की जा सकती है । यह ठीक है कि इस ढंगसे इस विचारसरणीका प्रतिपादन करनेपर कोई इसे नहीं मानेगा, परंतु इन्हीं विचारोंको अधिक प्रकाश आपा तथा हेतुमात्रस्य युक्त सवोप सर्वे शास्त्रकी सहायतासे लोगोंके सम्मुख रखनेसे अनिष्ट परिणाम होनेकी संभावना की जा सकती है । उदाहरणके लिये मान लीजिये कि ऊपर कही हुई पद्धतिसे नास्तिक वाद किसीको स्वीकार नहीं हो सकता, परंतु उसे दूसरे तत्त्वमें रखनेसे उसके भाव हो जानेकी संभावना है । जैसे कि मानो उसी नास्तिक वादके तत्त्वको लेकर कहा गया कि परमेश्वर क्यों मानना चाहिये ? क्या वह इन्द्रिय गोचर है ?

यदि नहीं है तो उसे एक कल्पना मात्र ही समझना चाहिये । फिर उस कल्पनाको झूठ अथवा सत्य कैसे मान सकते हैं । साशुभेष्ट तुकारामने भूतकी कल्पनाकी उत्पत्तिके संबंधमें कहा है कि अपने पैरोंके आचाजसे छोड़ोको पीछे किसीके जानेकी कल्पना हुआ करती है, यह कल्पना झूठी होते हुए भी जबतक समाधान न हो जाय तबतक सचही मानते हैं । इसी तरह ईश्वरकी भी कल्पना झूठी नहीं होगी इसका प्रमाण क्या ? और यह भी नहीं है कि ईश्वरके अस्तित्वकी परीक्षाकी कसौटी न हो । उसे उयाहू कहते हैं परंतु महान् भवान्क विपत्तियोंके समय पर अनेकानेक मार्गवायुं करनेका कुछ भी फल नहीं होता । फिर उसका अस्तित्व और उसे दयामय कैसे माना जाय ? यदि कहा जाय कि यह सब कर्मोंका फल है, वह भोगना ही चाहिये तो फिर परमेश्वरके माननेकी आवश्यकता क्या है । हम जैसा करेंगे वैसा भरेंगे इस प्रकार अथवा इसीसे मिलते जुलते रूपसे नास्तिकत्वकी कल्पना छोड़ोके सम्मुख रखनेसे साधारण बुद्धिके छोड़ोको उस कल्पनाका निराकरण करना कठिन होगा । साधारण छोड़ोकी दूसरे विषयोंके संबंधमें भी यही स्थिति होगी । अतएव व्यक्तिके उत्कर्षकी उक्त प्रकार विपरीत कल्पना न होने देनेके लिये सुधारणाके साध्यकी सिद्धिका मार्ग जान लेना उचित है ।

समाजके प्रत्येक व्यक्तिमें महत्त्वाकांक्षाका होना स्वाभाविक है । उस महत्त्वाकांक्षाको पूरी करनेके भले और बुरे दोनों तरहके मार्ग होते हैं । इन मार्गोंमेंसे किस मार्गका अवलंबन किया जाय, यह प्रश्न व्यक्तिके सम्मुख रहता है । जगतकी सवोप और अपूर्ण स्थितिपर लक्ष देनेसे बहुतेसी बार " अस्पायासः क्षेमकरः " के लक्षके अनुसार अपना कार्य साधलेनेकी इच्छा होती है । और इसके अनुसार आचरण भी होता है तो भी अनुप्यके मनमें सद्गुण और आत्मार्गकी कुछ कल्पना निहित रहती ही है । बुरे मार्गका अवलंबन करते हुए भी वह यह जानता है कि मैं दुष्कृत्य कर रहा हूं । और अपने कृत्योंकी अपेक्षासे उसे यह भी ज्ञान रहता है कि अशुभ मार्ग भला है । यद्यपि व्यक्तिकी भले बुरेकी कल्पना स्थल और कालपर बहुत कुछ अवलंबित है । किसी समयमें अथवा किसी देशमें भली मानी जानेवाली कल्पना दूसरे देश और दूसरे समयमें बुरी मानी जाती है । परंतु यह बात सत्य है कि जिस समय जो विचार सके बुरे माने जाते हैं व्यक्तिकी कल्पना भी तदनुसार होती है । और प्रत्येक सामाजिक व्यक्तिकी वैसी ही कल्पना होनेके कारण वह

कल्पना सामुदायिक कल्पना बन जाती है और फिर उसे सामाजिक सहस्र-
 विकेन्द्रिक स्वरूप प्राप्त हो जाता है। इस सार्वजनिक बुद्धिके प्रभावके कारण
 व्यक्तिको अपने उत्कर्षकी योग्य विद्या ग्रहण करना पड़ती है। और ऊपर
 कही हुई विपरीत कल्पनाओंके समान कल्पना स्वीकार न कर वह अपनी
 महत्वाकांक्षा पूरी करनेके लिये समाजकी सहस्रविकेन्द्रिक पूर्ण रूपनाके अनुसार
 चलता है और वह कुमार्ग गामी नहीं हो पाता। इस सब विवेचनसे यह
 सिद्ध होता है कि समयानुसार सामाजिक नीतिशास्त्रकी पद्धतिसे व्यक्तित्त
 उन्नति करनाही सुधारणाके साध्यका-व्यक्तिकी उन्नतिका-मार्ग है। इस
 तत्त्वके स्पष्टीकरणार्थ कुछ उदाहरणोंपर विचार करना उचित होगा। छोटे
 लड़के खेलेके मार्गभ्रम घर्तुकाकार खड़े हो जाते हैं और खेलेका दाब शुरूमें
 निरंतर आया वह जाननेके लिये उनके निश्चित मार्गका अवलंबन करते हैं।
 इस समय लड़कोको यह इच्छा होती है कि दाब अपने ऊपर न आवे, अतः
 किसी प्रकारकी बाधाकी करनेकी भी उन्हें बुद्धि होती है; परंतु साथ ही
 यह भय भी रहता है कि अगर कोई साथी भाग लेगा तो सब साथी बंद
 भाग करेगे इस दबावके कारण प्रायः वे लड़के अपने नियमके विरुद्ध कार्यवाही
 नहीं करते और उनकी यह दुरिप्सा दृष्टि जाती है। पहलवानोंकी कुस्तीमें
 भी यही बात विद्यमान पड़ती है। कुस्तीके नियमानुसार मर्म स्थानपर प्रहार
 करनेकी मनाई है। अब कुस्ती खेलते समय किसी पहलवानका परामन
 होने लगता है तब वह अपने प्रतिपक्षीके मर्मस्थानपर आघात करनेकी इच्छा
 करता है, परंतु दूसरोंके दबावके कारण वह ऐसा नहीं कर पाता और अपना
 परामन स्वीकार कर लेता है। इससे भी अधिक महत्वका उदाहरण प्रसिद्ध
 मानसशास्त्रवेत्ता विलियम जेम्सके "Psychology" नामक ग्रंथमें देखने
 को मिलता है। ग्रंथकारने इटलीके मुख्य प्रधान कोंव्हूरके चरित्रके एक प्रस-
 गका वर्णन किया है कि जब इसवी सन् १८५९ में इटलीके पीटर्मोंट संस्था-
 नके लोग राज्यक्रांतिकारक पक्षसे सहलुभूति दिलाजाने लगे तब कोंव्हूरके
 मनमें बड़ा फौजी कानून-सार्वभूत-प्रचारित करनेकी इप्सा हुई। और ऐसा
 करनेके लिये बहुतसे लोगोंमें उसे प्रोत्साहन भी दिया, परंतु पुनः विचार
 करनेपर उसने सोचा कि प्रजाके द्वारा कानून मंग होनेके पहिले उसके मस
 स्वार्थम्यको दवानेसे साधारण जनसमान और राजनीतिज्ञ लोगोंमें अपनी
 विद्या होगी अतः उसने अपने पहिलेके विचार जोड़ दिये और कहा कि

“ नहीं इस प्रकार सी हरपक राज्य कर सकता है । मैं तो न्याय और नियमालुसार ही व्यवहार करूँगा ” इस उदाहरणको लेकर जेम्स विलियमने वैयक्तिक आचरणका मानसिक नियम इस प्रकार माना है कि “ व्यक्तिगत व्यावहारिक आचरण, अंतःकरणकी साहस्य दृष्टि और उसपर रहनेवाले लौकिक प्रभावका मिश्र परिणाम है ” ५

प्रत्येक मानवीय व्यवहारमें यही बात दिखलाई पड़ती है । शिक्षाचार भी इसी पद्धतिसे विकसित किया जाता है । जगतमें शिक्षाचारकी कल्पनामें मिस्र २ देशोंके अनुसार अंतर दिखलाई पड़ता है उसना और किसी कल्पनामें नहीं दिखलाई पड़ता । भारतमें मस्तक ढाँक लेना सन्मानका लक्षण माना जाता है । भारतमें किसी बड़े अवसर पर खूँते निकाल देना उचित माना जाता है, परंतु पाश्चात्य देशोंमें खूँते रहित रहना लंगडीपन कहा जाता है । यूरोपियन लोग परस्परमें मिलाते समय हाथ मिलाते हैं; परंतु भारतवासी समस्कार करते हैं । इस प्रकार मिस्र २ देशोंमें शिक्षाचारकी मिस्र २ कल्पनाएँ हैं । और वे सार्वजनिक दृष्ट्या पर अवलंबित हैं । वास्तवमें उनमें मिस्र २ दुरापन कुछ भी नहीं है । व्यक्ति विशेषके किसी आचरणमें कुछ महत्त्व अथवा उच्चमता न होने पर भी वह जो सार्वजनिक निश्चयके अनुसार व्यवहार करता है, उसका कारण उस पर पड़नेवाले सार्वजनिक मतका प्रभाव ही है । समाज अथवा देशके नियमालुसार प्रचलित शिक्षाचारका पाठन करना ही समाजमें सुधारणाकी स्थिति मानी जाती है । इस स्थितिको प्राप्त करनेके लिये नियमित शिक्षाचारोंका पाठन करना भाग होता है । और इसका कारण भी शिक्षाचारकी सार्वजनिक कल्पनाका दबाव ही है ।

घर्म कल्पनामें भी यही बात दिखलाई पड़ती है । किसी घर्ममें मूर्तिपूजा विहित मानी गई है और किसीमें विपिद । परंतु जिस घर्ममें जो कल्पना अच्छी मानी गई है उस अच्छी कल्पनाके अनुसार—स्वतःकी दृष्टिको उदाहरणव्यवहार करनेसे ही सामुदायिक उन्नति होती है ।

* Individual voluntary action is at all times the Resultant of the compounding of our impulses with our inhibitions.

W. M. James' " Psychology. "

उक्त वर्णनसे यह बात ध्यानमें आती है कि व्यक्तियोंके उद्धारके लिये समाजके सङ्गठनकी आवश्यकता प्रभाव पड़ता है और उसीके कारण व्यक्ति व समाजका उत्कर्ष होता है। अलेक्जेंडर नामक ग्रंथकारने भी अपने नीतिशास्त्रसवधी " मारल आर्डर पण्ड प्रोग्रेस " " Moral order and Progress " ग्रंथमें समाजकी नैतिक प्रगतिकी चिकित्सा इमीप्रकार की है। वह लिखता है कि " नीतिमान मनुष्य, समाजकी नैतिक आवश्यकताका प्रतिबिम्ब होता है। समाजकी व्यक्तिकी नीतिमत्ता, व्यक्तिकी केवल स्वतंत्र हृदयपर अवलंबित नहीं है किंतु उसका नियंत्रण सार्वजनिक सद्व्यवहारकी कल्पनासे होता है " * प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता जेम्स मिलने भी अपने लेखमें ऐसा ही सिद्धान्त माना है।

गत प्रकरणमें यह बात ठहराई गई थी कि उत्कर्षमें याथा टाकनेवाले सामाजिक वर्धनोंका वाक्य होना ही सुधारणाका लक्ष्य है और इस प्रकरणमें यह बात निम्नित होती है कि समाजकी सत्कल्पनाओंके द्वारासे व्यक्तियोंका व्यवहार होना सुधारणाका मार्ग है तो ऊपरसे देखनेपर इन दोनों लक्ष्योंमें विरोध दिखालाई देनेकी संभावना है। परंतु वास्तवमें इनमें विरोध नहीं है। क्योंकि व्यक्ति समाजका अंग है और व्यक्तियोंका समुदाय समाज है इस प्रकार परस्पर संबंध होनेके कारण इन दोनोंमेंसे किसीके भी अधिकारका अतिक्रमण एक दूसरेके द्वारा न होना ही सर्वोत्तम स्थिति है। मार्टिनो नामक नीतिशास्त्रज्ञने कहा है कि " समाज और व्यक्तिके साध्यमें समतोल स्थिति ही सुव्यवस्थित स्थिति है। सकारणिके प्रगति और सुव्यवस्था—यह दो अंग हैं। व्यक्तिके उत्कर्षमें याथा टाकनेवाले समाजके अयोग्य प्रत्येक निकास टाकनेसे व्यक्तिकी और पर्यायसे समाजकी प्रगति होती है। और व्यक्तिसे स्वच्छाचारी व बनने केकर उसकी गति पर दबाव रखनेसे समाजमें सुव्य-

* The moral individual is thus the reproducer in small of the social order ...what constitutes good individual life is therefore not a matter to be settled only within his own mind, but is determined by social conscience

Alexander's " Moral Order and Progress "

वस्था रहती है। इस प्रकार दोनों अंगोंका पोषण होनेसे समान संस्कृतिके प्रति जाता है।” इस संबंधमें रेलगाड़ीका उदाहरण ठीक होगा। कई डब्बोंको एकत्रित करनेसे ट्रेन-गाड़ी बनती है उन्हे इंजिनके द्वारा गति मिलती है और ब्रेकके कारण उस गति पर दबाव रहता है। यदि ब्रेक न होकर सिर्फ इंजिन ही गाड़ीमें हो तो वह एकसी चौड़ाती हुई अंतमें लुट्टेमें जाकर गिर सकती है। यदि केवल ब्रेक हो तो गाड़ी जागे बढ़ न सकेगी। इस लिये गाड़ीमें दोनोंकी—इंजिन और ब्रेककी—आवश्यकता है। दोनोंके द्वारा आवश्यक प्रगति और सुव्यवस्था रहती है। तथा अंतमें अपने साध्य स्थानको पहुँच जाती है उक्त विद्वान अलेक्संडरने इन दोनों अंगोंकी आवश्यकताका अपने पूर्वोक्त ग्रंथमें बहुत सुंदर वर्णन किया है। वह लिखता है कि “समाजका व्यक्ति रूपसे प्रयत्न और व्यक्तिका समाज रूपसे पूर्णकरण ही सुधारणा है।

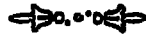
सुसंस्कृत समाजमें व्यक्ति स्वतंत्र होने पर भी उच्छृंखल नहीं होती और दूसरोंसे उसका (व्यक्तिका) प्रयत्न कम बिलंबनेपर भी वास्तवमें वह अधिक होता है। और सुव्यवस्थाके कारण उसमें अधिक माधुर्य उत्पन्न हो जाता है।” इस प्रकार सुधारणाका साध्य और मार्ग मादूम होनेपर उस मार्ग पर अछनेके पहिले और किन २ बातोंका विचार करना चाहिये, इसका आगामी प्रकरणमें विवेचन करना उचित होगा।

x The Test of civilization is that of increasing differentiation of parts..... along with a process of integration.....In such an organization, the individual will still be independent, but he may become less capricious from others may be apparently limited, it will really be greater, but more nicely adjusted, because regulated by a principle of harmony.

Alexander's "Moral Order and Progress"

प्रकरण तीसरा ।

नियामक तत्त्व ।



यह निश्चित हो जाने पर कि समाजकी सदसद्विधेक युद्धिके नियंत्रणसे अपने स्वतः के—व्यक्तिगत—आचरणोंको सुधारकर तथा सम्पूर्ण अयोग्य और कृत्रिम बंधनोंको तोड़कर अपनी-व्यक्तिकी और समाजकी उन्नति करना ही संस्कृतिका लक्षण है, यह प्रश्न उत्पन्न होते हैं कि समाजकी उक्त सदसद्विधेक युद्धि, और उदनुकूल चलनेकी व्यक्तिगत इच्छा किस स्थितिमें होती है और किस उपपत्तसे होती है ? तथा यह स्थिति प्राप्त करना किन बातोंपर अवलंबित है ?। शास्त्रीय भाषामें इन प्रश्नोंको इस प्रकार कह सकते हैं कि “ इष्ट स्थितिके नियामकतत्त्व कौन कौनसे हैं ?। इन प्रश्नोंका उत्तर दो पक्षवाले अपने-अपने ढंगसे अलग अलग देते हैं। एक पक्ष कहता है कि यह कार्य धार्मिक और नैतिक उपदेशोंके द्वारा हो सकता है। मनुष्यका सबसे बड़ा क्षत्र अज्ञान है। सदसद्विधेक आचरणोंके हानि लाभका ज्ञान उपदेशके द्वारा करा देने पर मनुष्यको सहजमें अपने कर्तव्यका ज्ञान हो सकता है और फिर उदनुसार चलनेकी इच्छा उसे हो सकती है। साधारणतया—सत्य, प्रामाणिकता, परापहारण न करने आदिके नियमोंका शुद्ध ज्ञान व्यक्तिको होने पर भी वह समाजधर्म अथवा राजनीतिके अधिक पेंचीले प्रश्नोंके हल करते समय, सत्य और तुलनात्मकज्ञानके अभावमें कर्तव्यमूढ़ हो जाती है ऐसे समयमें यदि उसे योग्यायोग्य, न्यायवान्याय्य और कर्तव्याकर्तव्यका उपदेश दिया जाय तो उसे अपना भारी स्पष्टतासे हलने लगेगा। इसी क्रिये इस प्रकारके उपदेश करनेवाले धर्मशास्त्र और नीतिशास्त्र ही सुधारणाके नियामक तत्त्व माने जाना चाहिये। दूसरा पक्ष कहता है कि उपदेश ग्रहण करने योग्य सामाजिक और मानसिक परिस्थिति प्राप्त होने तक उपदेशसे कुछ लाभ नहीं हो सकता। और व समाज तथा व्यक्तिपर उसका कुछ परिणामही होता है। इसलिये सुधारणाके मार्गनियामक तत्त्व धर्मभाव परिस्थिति है। शारीरिक, सापक्षिक, सामाजिक आर राजकीय भादि सब प्रकारकी परिस्थितिमें सुधारणा हुए

बिना कोरे उपदेशसे चित्तको-कमी समाधान नहीं हो सकता । जिस प्रकार किसी मनुष्यको बिच्छूके काटनेपर कुशाकी परिस्थितिमें शारीरिक कुशाकी अप-
रिहार्यतापर व्याख्यान देनेसे संतोष नहीं हो सकता उसी प्रकार समाजकी भी सब प्रकारकी स्थितिका सुधार हुए बिना श्रेष्ठ कल्पनाओंका उपदेश व्यर्थ है ।

उक्त पहिले पक्षका भाष्य कार्लोइल और फौटने अपनी विचार सरणीमें किया है । इन्होंने उसके संबंधमें क्या लिखा है ? इयका यहाँ विचार करना उचित होगा । फौटके मतानुसार सुधारणा करनेका मुख्य मार्ग नैतिक उपदेश है । फौट, भौतिक परिस्थितिके सुधारको अनावश्यक न समझने पर भी गौण अवश्य समझता है । राजसत्ता और अभिजन सत्ताकी अपेक्षा लोकसत्ताको श्रेष्ठ समझना, समाजकी उन्नतिके लिये सार्वजनिक शिक्षा आवश्यक मानना प्रत्येक व्यक्तिका योग्य स्वातंत्र्य अमर्यादित होना, व्यक्तिके योग्य मत स्वा-
तंत्र्यपर किसी प्रकारकी रोकटोक न होना आदि अपने द्वारा ठहराए हुए प्रामाण्य योजनाके तत्वोंको फौटने भौतिक परिस्थितिकी श्रेणीमें रखा है और इन अंगको सुधारणाकी विचार श्रेणीमें उसने गौण स्थान दिया है । इसी कारणसे उसने इस विषयका सांगोपाग विचार नहीं किया है । तथा जिन पूर्वोक्त बातोंको—लोकसत्ता, सार्वजनिक शिक्षा आदिको—उसने आवश्यक माना है उन्हींके आनुपंगिक सिद्धान्तों और उपप्रमेयोंको उसने अनावश्यक ठहरा दिया है । समाजमें किसी वर्गका अवास्तविक मानस्य न होना, राष्ट्रमें प्रतिनिधि सभाके चुनावके समयमें प्रत्येक मनुष्यको स्वतंत्र मत देनेका अधिकार होना, एक व्यक्ति दूसरे पर अयोग्य रीतिले प्रभाव न डाल सके अतएव चुनावके समय बेल्ट पद्धति द्वारा गुप्त रीतिले मत लेना, मतदाताके संबंधका किसी पक्ष विशेषका अनुयायि न होना आदि योजनाएँ ऊपर कहे हुए फौटके सिद्धान्तोंकी सहायक एवं उपसिद्धान्त रूप हैं । फौटका कहना है कि जनता, स्वतंत्र अधिकार प्राप्त एवं प्रमुखतया स्वतंत्रता भिन्न अस्तित्व प्रतिपादन करनेवाले व्यक्तियोंका समुदाय न होकर बह सेन्द्रिय और सजीव प्राणियोंके समान है । जिस प्रकार शरीरके प्रत्येक अवयव स्वतंत्र न माने जा-
कर केवल शरीरके घटक माने जाते हैं और इस लिये उन अंगोंको शरीरके अंतर भागोंपर अक्रम न कर सबको मिलकर शरीरके पोषण रूप एक कार्यकी ओर ही रुझा रखना पड़ता है और इस बातका सूक्ष्म विचार करनेकी आव-

शक्तता (यह तब सर्व मान्य होनेके कारण) धारीर विज्ञान शास्त्रियोंको प्रतिमासित नहीं होती उसी प्रकार समाज अथवा राष्ट्रकी धारीरके व्यक्ति रूपी निम्न अवयवोंके परस्पर संबंध तथा एक दूसरे परके अधिकार वगैरहका सूक्ष्म विवेचन भी उसे (कांटको) आवश्यक प्रतीत नहीं होता । परंतु इसका परिणाम यह होता है कि कांटने विन्मयेयोंको पहिले आवश्यक माना है वे भी इस विचारसरणीसे अनावश्यक ठहरते हैं । जो समाज अथवा राष्ट्रके मनुष्योंको व्यक्तिगत अधिकार नहीं तो लोकसत्ताकी अपेक्षा रामसत्ता डुरी कैसे मानी जा सकती है । किसी भी शासनपद्धतिके सुख कर होने पर कांटके मतसे फिर उसके सूक्ष्म विवेचनकी आवश्यकता नहीं है । मतदारसंघ विधि-रूपका अनुपायि हुआ तो उससे भी क्या हानि है ? और संपत्तिका विभाग राष्ट्रमें यदि सम विपन्न रीतिसे हुआ तो उससे भी समाजको क्या हानि हुई क्योंकि समुदायकी अपेक्षा समाज तो धनिक ही रहा । वे और इस प्रकारकी दूसरी आपत्तियां कांटके मतानुसार उपस्थित हो सकती हैं । तबोंको मानकर उसके परिणामोंको नहीं माननेसे वे तब, व्यवहारमें कैसे परिणत हो सकते हैं ? व्यक्तिगत अधिकार न माननेसे व्यक्ति पर दूसरेके उन्ही अधिकारोंको माननेकी जबाबदारी भी नहीं जा सकेगी । और परिणाम यह होगा कि व्यक्तिके अधिकार और कर्तव्य दोनों नष्ट हो जावेंगे । अतएव कांटके तब व्यावहारिक रूप धारण न कर सकेंगे । उदाहरणके लिये कांटके एक तरफपर विचार करना उचित होगा । उसने उद्वाराया है कि प्रजा सत्तात्मक राज्यपद्धति उत्तम है परंतु यदि प्रजाको अपने प्रतिनिधि राज्यके कार्याकारी मंडलसे नियुक्त करनेका अधिकार नहीं होगा तो अधिकारी वर्ग प्रजाको उचरदायि कैसे होगा । और अधिकारी वर्गपर प्रजेच्छानुसार व्यवहार करनेका उचरदायित्व नहीं हुआ तो वह वर्ग प्रजासे क्यों उरेगा ? अतएव कांटके ही मतानुसार कांटकी रामपद्धति व्यवहारमें नहीं जा सकेगी । कांट कहता है कि “ अधिकारियोंको प्रजेच्छानुवर्ती चलनेके लिये उपदेश दो और प्रजाको समाजके लाभ एवं उत्कर्षके अनुसार चलनेके लिये कहो तो दोनों, जनताके कल्याणके लिये सर्वमान्य तबोंके अनुसार चलनेको तय्यार होंगे ” कांटके । मतानुसार जगत्की आजतक जो प्रगति हुई है वह धर्मसत्त्व, नीतिसत्त्व, स्वार्थ-त्याग और समाजहितके उपदेवके कारण हुई है । धर्मकातिके लिये मनुष्यसमाजको चिह्नपूजा, अनेक देवपूजा, एक देवपूजा और सृष्टि तत्त्वपूजा रूप चार

अवस्थानोंमें भ्रमण करना पड़ता है। ज्यों ज्यों मनुष्यसमान एक अवस्थासे दूसरी अवस्थामें जाता है त्यों त्यों उसकी जंगलीपनकी भौतिक परिस्थिति बदलती जाती है। जिस समय मनुष्य चिह्नपूजाकी अवस्थामें होता है उस समय वह वृद्ध, पापाण, पशुपक्षी भादि पदार्थोंको देव समझता है। वह प्रत्येक भातिके पदार्थोंमें तदनुसार भिन्न भिन्न देवोंकी कल्पना करता है। वृद्धमें अमुक देव, पापाणमें अमुक देव मानकर उन पदार्थोंमें वास करनेवाले देवोंका पदार्थकी भातिके अनुसार पृथक् पृथक् कृतुम्ब मानता है। इसी कल्पना परसे जब वह अपनी इस जंगली स्थितिसे निकल कर सुधरी हुई स्थितिमें जाता है तब उसमें भी कृतुम्बवस्थाका प्रारंभ होता है क्योंकि वैसा देव होता है वैसे ही उसके अनुयायि होते हैं। इस अवस्थाके बाद मनुष्य दूसरी अवस्थामें जाता है जिसमें वह अनेक देवपूजा करता है। इस अवस्थामें आनेपर उसका यह विश्वास होता है कि स्थूल पदार्थोंमें संचार करनेवाले देवताओंके अनेक संघ हैं और वे आपसमें अपने गुणधर्मानुसार प्रेम करते अथवा ऊड़ते झगड़ते रहते हैं। इस कल्पनाके ही आधारपर मानवीय समाजमें छोटे छोटे राष्ट्र बने थे और वे राष्ट्र प्रीस देशके छोटे छोटे राष्ट्रोंके समान अपने गुण धर्मानुसार संधि अथवा विग्रह करते थे। जब इस अवस्थासे भी मनुष्य एकदेवपूजा की तीसरी अवस्थामें जाता है तब समाजके भिन्न भिन्न पंथी मिल जाते हैं और महम्मदी धर्म, हिन्दूधर्म या ख्रिस्तीधर्मके समान व्यापक धर्मकी रचना होती है। उस समय एक देवत्वकी कल्पनाके समान सम्पूर्ण पदार्थोंमें भी एक देवकी ही स्फूर्ति मनुष्य समान मानने लगता है। इस कल्पनाके ही फलसे भिन्न भिन्न सुसंगत पंथोंके रूपोंमें विखड़ाई देनेवाली एक धर्मकी कल्पना है। अंतमें जब सम्पूर्ण मानव समाजका धर्म सृष्टी पूजात्मक होगा तब एक प्रकारके विश्वबंधुत्वकी कल्पनासे सम्पूर्ण जगत एकत्रित हो जायगा। इस प्रकार क्रांतिके मतानुसार धर्मका स्थित्यंतर हुआ करता है। और यही स्थित्यंतर सामाजिक कल्पनामें भी परिणत होता है। तथा जिस प्रकार धार्मिक कल्पनाका विस्तार उपदेशसे होता है उसी प्रकार समाजकी उन्नत स्थिति भी उपदेश और बुद्धिवादसे होना ही क्रांति मानता है।

काळाहलने भी इस मतको माना है। काळाहल भी भौतिक परिस्थितिके सुधारकी साधारण आवश्यकता मानता हुआ समाजकी संस्कृतिके किये. वह

इस सुधारको दूसरी श्रेणीको मानता है। इन्में भी फांटके ही अनुभार मानव समाजको ऐतन्त्र्य युक्त क्षरीरके ममान माना है और इन लिये सामाजिक ध्यतिके परस्पर पन्धन, प्रेममय, नीतिपुण्य, पय सारिक गुणों पर अवलम्बित होनेकी आवश्यकता स्वीकार करते हुए उसने प्रतिपादन किया है कि इन बातोंके लिए समाजको अनुभव पूर्वक उपदेश करना ही उचित है और उसीसे कार्यकी सिद्धि हो सकती है। इस लियेके बोधके लिये उसने इतिहाससे कुछ उदाहरण भी दिये हैं। यह लिखता है कि क्रिश्चियन धर्मके उत्पादक पीट्रु काइडने धर्म स्थापना कर उस धर्मके श्रेष्ठ लक्ष्यकी सहायतासे उस समयकी समाजको जो उन्नतिक सम्पुर्ण किया था उपदेश देकर ही किया था। पीट्रुके समान ब्रह्महीन और अधिकाहीन पुन्य समाजकी आर्थिक और राजकीय परिस्थिति कभी बदल नहीं सकता था। और इस लिये इस सम्बन्धमें उसने किसी प्रकारका उद्योग नहीं किया। उसका तो यह सिद्धान्त था कि भौतिक स्थिति कभी भी होने पर धर्म और नीतिके बल पर प्रत्येक व्यक्ति संतुष्टि कर सकता है। इस लिये भौतिक परिस्थितिकी सुधारणाको सबसे आवश्यक बतानेवाला तब डीक नहीं है। दूसरा उदाहरण यह फ्रान्सकी राज्यक्रान्तिका इस प्रकार देता है कि राज्यक्रान्तिके बाद फ्रान्समें जो स्थिति हुई वह भी स्वार्तन्त्र, समता, बन्धुता आदि सर्वोके उपदेशसे ही हुई थी। अतएव नैतिक अनुभव और धार्मिक बुद्धिवाद ही समाजकी प्रगतिके निर्यातक लक्ष्य हैं।

परन्तु यह सिद्धान्त डीक नहीं माना जा सकता। किसी भी जमीन में उद्यम फसल आनेके लिये केवल अच्छे बीजसे ही काम नहीं चलता किन्तु उसके सर्वथा अनुकूल भौतिक परिस्थितिकी भी आवश्यकता होती है। अर्थात्, उपजाऊ भूमि, अच्छी खाद, पानी आदि बातोंकी आवश्यकता है जन्मी प्रकार सुधारणा कभी फसलके लिये आर्थिक, सामाजिक, राजकीय आदि सब प्रकारकी भौतिक परिस्थितिकी अनुकूलता होना आवश्यक है।

व्यावहारिक उदाहरणों परसे यही सिद्ध होता है कि किसी भी कार्य करनेके लिये उपदेशकी अपेक्षा परिस्थितिकी ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। जो माता-पिता अपने बालकोंको नीतिवान् बनाना चाहते हैं उन्हें उपदेशकी अपेक्षा उसकी अच्छी संगति होनेकी ओर ही अधिक प्रयत्न करना पड़ता है। इसी तरह जो सरकार यह चाहती है कि रोगका परिहार हो

और लोग उत्तम नागरिक बने यह सरकार इन तत्वोंका उपदेश देकर ही जुग नहीं हो जाती किन्तु प्रजाके रहने योग्य स्वच्छ और शुद्ध हवावाले मकानोंका प्रबन्ध करती है । स्थान स्थानपर पाठशालाएँ स्थापित कर प्रजाका अज्ञान दूर करती है । तथा मादक पदार्थ एवं वेद्योंकी परिस्थितिका—असले कि समाजकी नीति बिगड़नेका भय है, नाश करती है । अमेरिकमें गुला-मीका जो नाश हुआ यह उपदेशसे ही नहीं हुआ किन्तु अन्तःकलह पूर्वक बलात् अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न करना पड़ी थी । शंकराचार्यसे १३०० बौद्ध सौ वर्ष पहिलेसे बौद्ध धर्मका भारतमें अस्तित्व था और यह बात भी नहीं है कि शंकराचार्यसे पहिले वैदिक धर्मानुयायियोंने उसके प्रतिष्कारका प्रयत्न न किया हो परन्तु वे सफल न हो सके और शंकराचार्यको सफलता मिली । उनकी इस सफलताका कारण केवल यही नहीं है कि उनके उपदेशसे लोगोंको बुद्ध धर्मके तत्वोंकी हीनता और वैदिक धर्मकी श्रेष्ठताकी प्रतीति हुई हो किन्तु बौद्ध धर्ममें शंकराचार्यके समयमें अनाचारकी अधिक वृद्धि होगई थी और सामाजिक स्वतंत्रताकी निरर्गलताका रूप प्राप्त हो गया था । बौद्ध धर्मानुयायि, भगवान् बुद्धके उज्वल तत्वोंको भूल गये थे । यही कारण उस धर्मके न्यासका हुआ । रोमन साम्राज्यके आरम्भमें जिन रोमन लोगोंने क्रमशः सम्पूर्ण जगत्को जीता और अपने साम्राज्यमें उदार, वीर्य-शाली और वीतिवान् नागरिक उत्पन्न किये उन्हीं रोमन लोगोंको रोमन साम्राज्यके पतनके समयमें उपदेशकी क्या कमी थी ? परन्तु उनकी उस समय वृत्ता हीन होगई थी । उनकी हर्षसन, आलस्य, विषय कालसा, शक्तिहीनतारूप परिस्थिति होनेके कारण उन पर कर्तव्य सम्बन्धी उपदेशका कुछ परिणाम नहीं हुआ और उन्हें पराजित होना पड़ा । फ्रान्सकी राज्य-क्रान्ति, समत्व और स्वतंत्र्यके उपदेशसे नहीं हुई किन्तु जनताके प्रयत्नोंसे उस उपदेशको ग्रहण करने योग्य नागरिक परिस्थिति उत्पन्न होनेके कारण हुई थी । राजा और सरदारोंका लुप्त, दारिद्र्य, अयमान, सामाजिक विष-मता आदि दुःसहा परिस्थितिके कारण ही यह राज्यक्रान्ति हुई । राष्ट्रके सुखसंपन्न, सभ्य और सुभ्यवलित होने पर राज्यक्रान्तिका उपदेश ऊसरमें डाले हुए बीबके समान निष्फल होता है ।

केवल नीति तत्वके उपदेशसे ही सुधारणा न होकर उसके अनुकूल मौ-स्तिक परिस्थिति उत्पन्न करनेकी आवश्यकता प्रगट करनेवाले इस प्रलेपके

छिये दूसरे एक तत्वका और आचार है । यह यह कि जगत्में सम्पूर्ण पदार्थों अथवा वस्तुओंका परस्पर सम्बन्ध अपने आप निश्चित होता है । उसी प्रकार प्रत्येक कार्यकी नैतिक भूमिका भी अपने आप बनती है । अंगरेजीमें एक कहावत है कि Water seeks its own level, अर्थात् पानी अपनी समता (चौरसाई) आप खोजता है । एक पानी भरे हुए बर्तनको तिरछा रख देनेसे पानी एक ओर ऊँचा और एक ओर नीचा दिसलाई पड़ता है परन्तु उस बर्तनका कृत्रिम तिरछापन दूर हो जाने पर पानीकी छेविल समान हो जाती है । इसी प्रकार जगत्के अनेक शक्तिसंपन्न पदार्थोंकी परस्पर शक्तिके कारण पदार्थोंको एक प्रकारकी स्थिति अपने आप प्राप्त हो जाती है । रासायनशास्त्रमें दो रासायनिक द्रव्योंको एकत्रित करने पर उनके संयोगका प्रमाण अपने आप निश्चित हो जाता है और उसी प्रमाणसे वे संयुक्त हो जाते हैं । सम और विपरीत विद्युत्प्रवाहका आकर्षण होना तथा उन दोनोंके एक जातिके होनेपर आकर्षण होना, भी सुस्पष्टी सम्बन्ध करनेकी इच्छा होना आदि कार्य अपने आप होते हैं । जगत्में जिस चीजकी जिसनी माँग होती है व्यापारी गण स्वाभाविकतया उस चीजकी उत्पत्ती ही पूर्ति करते हैं, यह परिस्थिति भी अपने आप निर्माण होती है । प्रजाके सुख संपत्तिकी जिस प्रकार बुद्धि होती जाती है उसी प्रकार अपराधोंकी संख्या घटती जाती है । परोपकारी और दानी सुख भी परोपकार करते समय अपने घरकी स्थितिकी ओर देखाता है । इसका कारण यह नहीं है कि उसमें परोपकार बुद्धि कम है और इस छिये उसे उपदेश देनेकी आवश्यकता है, किन्तु उसे उसकी गृह परिस्थिति उसकी दान बुद्धिको नियंत्रित करती है । सृष्टिका ज्ञान जिस जिस प्रकार बढ़ता जाता है उस उस प्रकार लोगोंका भ्रम दूर होता जाता है । इस प्रकार समाजकी नीति, धर्म कल्पना, विद्या आदि नैतिक परिस्थितिले ही अपने आप निश्चित होते हैं । और यह सिद्ध होता है कि नैतिक परिस्थिति ही सामाजिक प्रगतिका विवामक तत्व है ।

इस नियमके सर्व व्यापी और भ्रम रहित होनेका ही यह फल है कि क्रिपी भी कालकी नैतिक परिस्थितिका ज्ञान हो जाने पर उस समयकी मानसिक और नैतिक परिस्थितिकी डीक कल्पना की जा सकती है । विद्वानोंका कहना है कि भूगर्भशास्त्रकी दृष्टिले एक ऐसा समय था कि जब संपूर्ण पृथ्वी पर मनस्पष्टिका बहुत अधिक विस्तार था और उस कालकी प्राणी

सृष्टि भी आकार प्रकाशसे वनस्पतिये समान ही बड़ी छम्बी चौड़ी हुआ करती थी । उस समयके आकारके सामने आजकलके हाथियोंका आकार भी कुछ नहीं के समान है । यह बात प्राचीन प्राणियोंके मिले हुए अस्थिपंजरोंके द्वारा विद्वानोंने सिद्ध की है । इस वनस्पति सृष्टि पर अवलंबित रहनेवाली प्राणि सृष्टिके प्रमाणके समान ही परिस्थिति और प्रगतिका प्रमाण है । समाजकी चाटू रीतियाँ, सुखोपभोगके प्रकार, मनोविनोदके साधन आदि जंगली-पनके हुए तो उस समाजके धर्म, कर्तव्य और आचार विचार भी जंगली-पनके ही होंगे । परिस्थितिके न्यूनसे बाहिर जानेकी सामर्थ्य किसी में नहीं होती । जिस जिस प्रकार परिस्थिति में अंतर पड़ता जाता है उसी प्रमाणके अनुसार कल्पनामें भी अंतर पड़ता जाता है । इसी कल्पना पर धर्म और नीतिकी इमारत खड़ी होती है । और उनकी प्रगतिको ही सुधारणा कहते हैं । सारास यह है कि अनुभवमें यही आता है कि सबकी बड़ नीतिक परिस्थिति है । सेनाकी पंक्तिके पद्धति पूर्वक अगाड़ी बढ़नेके लिये जिस प्रकार त्सके प्रत्येक सैनिकको दूसरे सैनिकोंके साथ साथ बराबरीसे आगे बढ़ना पड़ता है और सब सैनिकोंके पद्धति पूर्वक अगाड़ी बढ़नेसे ही सैन्यकी प्रगति होती है उसी प्रकार परिस्थिति और कल्पनाकी साथ साथ उन्नति होनेसे ही समाजकी सुधारणा होती है ।

यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि किसी भी शासकी नवीन सोचसे समाज, नीति, धर्म आदिकी कल्पनाओंमें क्रान्ति हुआ करती है । आकाशके प्रहोंकी सेल किरणोंका तथा उनके परस्पर सम्बन्धका मनुष्यकी आयुपर परिणाम होता है इससे प्रहोंको देव मान कर उनकी पूजा करनेकी रिवाज हिन्दू धर्ममें पड़ गई है । इस विश्वासके प्रारंभ कालमें प्रहोंकी संख्या सात ही मानी जाती थी परन्तु आगे जाकर ब्रह्मीयकी सहायतासे यूरेनस और नेपच्यून (राहु-केतु) नामक दो प्रहोंकी शोध हुई । तब प्राचीन भक्त, श्रद्धालु लोगोंके भागे यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि इन दो प्रहोंकी योजना कहाँ की जाय, इन्हें देव माना जाय या नहीं ? अथवा जिन्हें पहिले देव मानते थे उन्हें देव न मान कर इन नवीन प्रहोंकी पंक्तिमें पैदाया जाय ? इस प्रकार परिस्थिति बदलनेके साथ ही साथ धर्म कल्पनामें क्रान्ति उत्पन्न हो गई । सारास यह कि परिस्थितिसे कल्पना उत्पन्न होती है और कल्पनासे नवीन परिस्थिति प्रकट

है। इस प्रकार यह चक्र चकता रहता है परन्तु इसके मूलमें परिस्थिति होनेके कारण प्रगतिकी निषामक भी वही मानी जाने योग्य है।

कॉट कहता है कि नीति तत्त्वके केवल उपदेशसे ही समाजकी प्रगति होती है। और कार्लाइल कहता है कि विभूति जन्म लेकर अपने आचरणोंके द्वारा समाजको प्रभावान्वित कर समाजकी प्रगति करती है। परन्तु वास्तवमें नैतिक परिस्थितिके अनुकूल हुए बिना कितना ही कंठ-क्षोप किया जाय, पर उपदेश कार्य करी नहीं होता और न अपने आचरणसे समाजको प्रभावान्वित करनेवाली विभूति ही उत्पन्न होती है। धार्मिक सुधारणार्थ विभूतिके रूपसे परमेश्वरके उत्पन्न होनेके लिये भी भगवद्गीतामें कई अनुसार् परिस्थितिकी आवश्यकता है। भगवद्गीताका यह कथन इस प्रकार है.—

यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

अर्थात् जब जब धर्मकी ग्लानि होने लगती है तब तब अधर्मके नाशके लिये मैं अवतार ग्रहण करता हूँ । ”

श्रेष्ठ विभूतिमें किन किन गुणोंकी आवश्यकता है यह जानते हुए भी परिस्थितिके कषयको दौड़ कर बाहिर जानेकी सामर्थ्य किसीमें नहीं होती। यदि किसी व्यक्ति विशेषमें होती भी है तो उस समयकी परिस्थितिके कारण छोटीकी मनोवृत्तियाँ उस सामर्थ्यको सहन करने योग्य न होनेके कारण उस ध्यक्तिका श्रेष्ठत्व भी छुपा हुआ रह जाता है। इसके लिये पाश्चात्य देशोंका उदाहरण योग्य होगा। पाश्चात्य देशोंके विचार वैदिक सुप्रके पीछे छग जानेके कारण एवं सपत्तिके अतिरेकके कारण अध्यात्म विषयको ग्रहण करनेमें असमर्थ हो गये हैं। ऐसी स्थितिमें आत्माको अविनाशी और वैदिक सुप्रोंको नश्वर माननेवाला कोई श्रेष्ठ आचरणका मनुष्य उत्पन्न भी हुआ तो उस वैचारेका कहना नहीं कौन सुवेगा ? प्रत्येक रविवारको पादरी लोग क्राइस्टकी इस आज्ञा पर कि “ पहिले जगत्की संपूर्ण वस्तुओंका त्याग करो सभी मेरे साथ बैठनेके हुम योग्य होंगे ” हमारों मनुष्योंके साम्हने क्याचाल देते हैं परन्तु उन क्राइस्टके धर्मानुयायि कहलानेवालोंमेंसे कितने लोगोंने जगत्की वस्तुओंका त्याग किया है ? । भारतवर्षमें कयाकार और वैरागिक लोग प्रतिदिन “ ब्रह्म सर्वं जगन्मिथ्या ” के तत्त्वका उपदेश करते

है: परन्तु इन उपदेशोंके कारण फितने लोगोंने संसारको छोड़ा है ? सपूर्ण मनुष्योंको परमेश्वरकी संतान माननेवालोंमेंसे कितनोंने दूसरे मनुष्योंको अपना भाई समझ कर गलेसे लगाया है ? इनका उत्तर शिवाय नहीं के और नया हो सकता है ? तत्त्वोंका व्यवहारमें परिणत न होनेका कारण परिस्थितिकी प्रतिकूलता है । जिन्हें अनुकूल परिस्थिति प्राप्त होती है उन पर उपदेशका परिणाम होता है । भवभूतिने एक स्थान पर ऐसा वर्णन किया है कि गुरु, मंद और कुशाग्र-दोनों प्रकारकी बुद्धिके शिष्योंको एक ही प्रकारसे उपदेश देता है परन्तु परिणाम भिन्न भिन्न होता है । रत्न और मिट्टीके गोले पर सूर्यका प्रतियिम्ब समान पड़ता है, परन्तु एकने प्रतियिम्बकी परछाईं पड़ती है और दूसरेमें नहीं । अर्थात् परिस्थितिकी परिणाम दूर करनेकी सामर्थ्य पदार्थमें नहीं है । यही तत्व भवभूतिने प्रतिपादन किया है । इसीलिये व्यक्ति स्वात्मन्यका महत्त्व कोकसत्ताकी श्रेष्ठता, शिक्षाके लाभ, भीतिमत्ता और बुद्धि सामर्थ्यपर सामाजिक प्रतिक्रिया अधिकार उद्धारानेकी आवश्यकता आदि बातें सब कालके लोगोंको माहूम होने पर भी और उनके कर्मोंपर उपदेशका उंका प्रभावपर भी औत्तिक परिस्थितिकी प्रतिकूलताके कारण वे उस तत्त्वोंको काममें न ला सके । जब कालान्तरमें परिस्थिति बदलती है और कल्पना ग्रहण करने योग्य सामाजिक—विचार भूमि तैयार हो जाती है, तब उस कल्पनाओंकी बुद्धि होती है और स्वीकृतासे होती है । ऊपर कहा जा चुका है कि गुलामीका नाश केवल उपदेशसे नहीं हुआ । इस सम्बन्धमें कार्ड मोरेंने अपने Compromise नामक ग्रंथमें जो विवेचन किया है वह माननीय है । वे कहते हैं कि गुलामीका नाश चुटकी बना देनेसे ही नहीं हो गया । गुलामीका ह्यान्तर वेगारमें और उसके बाद स्वतंत्र मजदूरी में क्रमश हुआ है । ख्रिस्तीधर्मके विश्वव्याप्तिके उपदेशका प्रारंभ हो जानेपर भी अनेक प्रासादिकीयुक्तक गुलामीकी प्रथा चलती रही थी । ख्रिस्तीधर्मकी गौरी और दशवी शताब्दिमें भूमध्य समुद्रके द्वारा गुलामीका व्यापार बहुत जोर पकड़ गया था । इस समय यूरोपसे आफ्रिका, सीरिया और ईजिप्ट नामक देशोंमें जानेवाला मुख्य व्यापारी माल " गुलाम " था । परन्तु कालान्तरमें यूरोपकी कोकसत्ता कम हो गई, संपत्तिका नाश होने लगा और इस लिये गुलामीका व्यापार करनेवाले पूंजीवालोंके पैसो आराममें कमी हो गई । परिणाम

यह हुआ कि घनी और मौकरोमें सांपचिक, अन्तर कम होगया । और इस लिये गुलामोंको कुछ भेदत्व प्राप्त हुआ । इसके बाद निम्न निम्न कानूनोंके द्वारा गुलामोंको थोड़े थोड़े हक देनेका प्रारम्भ हुआ इसी सम्बन्धमें प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान फिन्लेने यह स्पष्ट लिखा है कि खिस्ती धर्मके उपदेष्टा अथवा जीवदयाके विचार, इनमेंसे एकका भी परिणाम, गुलामगिरीके नाशके कार्यमें परिकल्पित भी नहीं हुआ । * इस फिन्लेके मतानुसार ही कार्ट मार्टेने भी अपनी अस्मिन्नाव प्रगट किया है कि "केवल भैतिक और बौद्धिक उपदेष्टोंसे ही समाजमें प्रेरणा उत्पन्न नहीं होती । किंबहुना उसका (उपदेष्टा) निम्नयात्मक परिणाम भी नहीं होता । किन्तु राजकीय और नैतिक परिस्थितिकी सर्वादात्म ही सर्वोपदेष्टाका परिणाम होता है ।"

व केवल ऐहिक उच्चातिके ही लिये परिस्थिति नियामक है, किन्तु पारमार्थिक प्रगतिके कार्यके लिये भी यही तत्व नियामक है । तत्त्वज्ञानकी भाषामें इस तत्त्वका प्रारम्भ अथवा कर्म—जबके नामसे उल्लेख किया जाता है । मनुष्य जो कर्म करता है वह स्थूल परिस्थितिके रूपसे फलीभूत होता है । यहाँ तक कि मनकी दृढ़ सदिच्छा अथवा दुरिच्छाका भी तदनुसार परिस्थितिके रूपमें रूपान्तर हो जाता है । ये परिस्थिति रूपी कर्मोंसे मनुष्यका वन्धन होनेके कारण उसकी आत्माकी साहजिक स्वतंत्रतामें बाधा आती है । इनका नाश, फल भोगवेत्ते ही होता है । अर्थात् परिस्थितिकी धुंखला तोड़ कर अपनी उदार कल्पनाके अनुसार मनुष्य एकदम स्वतंत्र बही हो सकता । जो कर्म पीछे किये हैं उनका फल आम भोगा जा रहा है । और आजके कर्म भविष्यमें फल देगे । इस कर्म प्रणालीको ही व्यवहारमें दैव कहते हैं । वास्तवमें अपनी दृष्टिके सिनाम आकस्मिक रीतिसे आकर अपने बंधनमें लेनेवाका कोई दूसरा दैव नहीं है । इस दैव अथवा परिस्थितिको "दैवमेवात्र पच-मम्" की उचिते वेदान्तमें पदार्थकी कारण चिकित्सामें महत्त्व दिया गया है । इस प्रकार यह निश्चित होता है कि स्थूल और सूक्ष्म सृष्टिमें व्यक्तिका उत्कर्ष ही सर्वोत्तम साध्य है और साध्यको सिद्ध करनेवाके व्यक्तिकी नियमन

* Neither the doctrine of christianity, nor the sentiments of humanity have ever succeeded in extinguishing slavery.....

मिर्तास-पारकडव ।

करनेवाली परिस्थिति है अवश्य संस्कृतिकी न्यासक तत्र परिस्थिति ही है, यह स्पष्ट होता है । ७

यह निश्चित हो जाने पर कि व्यक्ति का उत्कर्ष साध्य है, उस व्यक्ति पर समाजकी नैतिक कल्पनाका दबाव डालकर उसे सुमार्ग गामी बनाना, मार्ग है और इन दोनोंका नियमन करनेवाला तब परिस्थिति है, और यह सब सुधारकी उपपत्तिके प्रभेद हैं, तब प्रस यह उत्पन्न होता है कि जब परिस्थिति ही व्यक्तिके पूर्व समाजके उत्कर्षको निर्ध्रित करती है तो संस्कृतिकी श्रेष्ठ कल्पना, उदात्त ज्येष्ठ और उच्च तत्वोंका उस परिस्थितिसे समीकरण किस प्रकार किया जा सकता है ? क्योंकि परिस्थितिके प्रसिद्ध होनेपर श्रेष्ठ कल्पनाओंके उपदेशका कुछ प्रभाव नहीं हो सकता । ऐसी अवस्थामे यह जानना उचित है कि किन उपायोंसे परिस्थिति बदल कर श्रेष्ठ कल्पनाओंकी सह गामिनी हो सकेगी बिना इसके सुधारणाकी भाषा स्वयं है । इस लिये जातोंके प्रकरणमें नैतिक परिस्थिति और सुधारणाके समीकरण करनेके उपायोंपर विचार किया जायगा ।

⑧ Moral and intellectual conditions are not the only motive forces in a community, nor are they even the most decisive. Political and material conditions fix the limits at which speculation can do either good or harm.

प्रकरण चौथा. परिस्थिति का समीकरण.



प्रतिकूल परिस्थितिमें नैतिक व धार्मिक कल्पनाकी प्रगति नहीं होती और प्रगति हुए बिना उसकी आनुवंशिक नवीन परिस्थिति उत्पन्न नहीं होती। इस प्रकार इन दोनोंका अविनाभावी सम्बन्ध है। अब प्रश्न यह है कि इन दोनों—परिस्थिति और कल्पना—की संगति किस प्रकार होती है? परिस्थिति और कल्पना सराबूके दोनों पलड़े हैं यदि ये पलड़े समतोल नहीं हुए तो सराबू किस प्रकार स्थिर रह सकती है। इन्हे समतोल करनेका एक उपाय होता है। कम बलनके पलड़े में भारी पलड़ेके अधिक बलनके बराबर कोई पदार्थ—पारसंग—रख देनेसे दोनों समान हो जाते हैं। इसी कल्पनाका नाम समीकरण है। और इसी पद्धतिसे परिस्थिति और तात्त्विक कल्पनाकी भी संगति बैठती है। इस समीकरणके तत्त्वपर धर्म कल्पनामें किस प्रकार उत्कृन्त होती है?, इसका वर्णन जानेके 'धर्म साधना' के प्रकरणमें किया जायगा। और वहाँ भी इसी तत्त्वका सम्बन्ध दिखालाई पड़ेगा। यहाँ केवल यही देखना है कि यह नियम किस प्रकार सर्व व्यापी है।

गणितका स्थिति शास्त्र (Statics) नामक पुरा भाग है। इस शास्त्रमें भिन्न भिन्न शक्तियोंके द्वारा पदार्थके आकर्षित होने पर भी उनका समतोल हो जानेसे पदार्थका स्थिरी कारण किस प्रकार होता है? अथवा उन शक्तियोंमें किसी शक्ति विशेषके बलवान् होनेपर पदार्थ उसकी ओर किस प्रकार खिंचता है? इसका वर्णन किया गया है। एक पदार्थ पर यदि ऊर्ध्व गामी (Vertical) और अधो गामी, दोनों शक्तियोंका समान बल होगा तो पदार्थ स्थिर रहेगा, परन्तु यदि इनमेंसे एक का बल अधिक हुआ तो पदार्थ उसकी ओर ही खिंचेगा।

एक आक बार नामक एक खेल होता है। उसके दोनों किरों पर कुछ कुछ आदमी होते हैं और दोनों अपनी अपनी ओर खींचते हैं। दोनोंका यदि समान बल हुआ तो कोई किसीको नहीं खींच सकता और यदि एक

दोनों स्थिर रह जाते हैं । परन्तु यदि किसी एक ओरका बल ज्यादा हुआ तो वह रस्सीको खींच ले जाता है । और उस पक्षकी जय होती है । कम बलकी ओर ज्यादा बलवालों जितना बल और लगा दिया जाता है, तो फिर समीकरण हो जाता है और किसीको कोई नहीं खींच सकता । इस समीकरणकी पद्धति पर विश्वके पदायोंका परस्पर सम्बन्ध रहता है । नहीं तो पदोंका मेल कभी होने ही न पावे । समाजमें बुद्धिहीन वर्गसे देशके प्रतिनिधि मंडलमें प्रतिनिधि चुन कर आनेकी संभावना कम होती है । इस बुद्धि—बलकी कमीका समीकरण करनेके लिये स्वतंत्र—मतदार—संघ बनाना समीकरणके तत्त्वका राजनैतिक उदाहरण है । पूंजी वालोंके एकत्रित होकर यह निश्चय करनेपर कि अमुक सनसवाहकी अपेक्षा अधिक सनसवाह मजदूरोंको न ही जाय, पूंजी वालोंका जो बल अधिक हो जाता है उसके प्रतिकारार्थ मजदूर लोगोंका भी अपने संघ निर्माण कर अमुक वेतनसे कम वेतन मिलने पर काम न करनेका निश्चय करना और इस प्रकार पूंजी वालोंको मात करनेकी शक्ति अपनेमें उत्पन्न करना आर्थिक क्षेत्रमें समीकरणके तत्त्वका उदाहरण है । प्राचीन कालमें हिन्दू समाजका क्षूद्रादि वर्ग अपने कार्यमें सदा छोटे रहनेके कारण वेद शिक्षा आदि कर्म करनेमें हीन बल होनेसे, जिन धर्माधीन कारियोंने आरम्भिक उन्नतिके लिये धार्मिकोंको यज्ञयागादि करनेकी आवश्यकता दिखाई उन्हींने क्षूद्रोंको केवल ईश्वर नाम स्मरण मात्रसे वही आरम्भिक उन्नतिज्ञ होना प्रतिपादन कर धार्मिक क्षेत्रमें समीकरण किया । यह धार्मिक क्षेत्रके समीकरणका उदाहरण है । गर्भ धारण, प्रसूति आदि शारीरिक कष्टोंके कारण बलहीन स्त्रियोंको मातृत्वके अधिकारके द्वारा मोहता देना कौटुम्बिक अथवा सामाजिक रचनाके समीकरणका उदाहरण है । एक समाजके उपवेनागोंमें ही केवल समीकरण नहीं होता, किन्तु स्थिरताके लिये भिन्न भिन्न समाज और राष्ट्रोंमें भी समीकरण करना पड़ता है । हिन्दू समाजमें ऐहिक और भौतिक सुखोंके साधनोंकी कमीको दूर करनेके लिये पारलौकिक कल्पनाकी अधिकताकी गई है और इस प्रकार दोनो समाजों—हिन्दू समाज-और वह समाज जिसमें ऐहिक सुख साधनोंकी कमी नहीं है-की सुख भावनाओंका समीकरण किया गया है । यूरोपके राष्ट्रोंमें परस्पर युद्ध प्रसंग करनेके लिये उच्चीतर्फी शक्तिद्धर्म एक शक्ति साम्यका (Balance of Power) तत्त्व उपयोगमें लाया जाता था । और उन राष्ट्रोंके परस्पर भ्रम, सहस्रप्रसूति अथवा सामान्य

उद्देशसे जो दो बर्ग होते थे उनमें परस्परमें न्यूनाधिक बल न होने पावे इसका निरन्तर प्रयत्न किया जाता था । यदि एक बर्गमें दूसरा फोड़ नवीन राष्ट्र मिल जाता था, तो दूसरा बर्ग उसी शक्तिसे दूसरे किन्हीं राष्ट्रको अपनेमें मिलावनेका प्रयत्न करता था । यदि एक राष्ट्र अपनी शक्ति बढ़ाता था तो दूसरा भी किसी न किसी तरह शक्ति बढ़ाकर समता कर लेता था । और इस पद्धतिसे यूरोपियन राष्ट्रोंकी राजनीति चलती थी ।

यह स्थिति न केवल जिते सामान्यतः वर्तमान काल कहते हैं, वर्तमान में किन्तु बहुत प्राचीनकालमें भी इसी तत्वकी व्यापकता दिखलाई पड़ती है समाजकी रचना किस किस प्रकार होती है इसका वर्णन आगेके प्रकरणमें किया गया है परन्तु यहाँ पर समाज रचनाकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें वर्तमान साम्यताके अनुसार संक्षिप्तसे विवेचन करना आवश्यक प्रतीत होता है । पहिले ही खगोली खोजोंमें जो कि परस्परमें स्थायी सम्बन्ध कभी नहीं करते-सब खोजों पर मानेवाले सामान्य संकटकके कारण एक करनेकी इच्छा होती है । इस इच्छाके पहिले वे खोग स्वतंत्रतासे अपने अपने निजके लिये काम करते और समय व्यतीत करते हैं । वे ही खोग परस्परमें मिल कर सामान्य संकटक नाशके उपायोंका विचार करने लगते हैं । इस समय यदि प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरेका विश्वास नहीं करे तो समाजके लाभके लिये सबकी शक्ति कभी नहीं मिल सकती अतः परस्परमें विश्वास कर वे खोग अपना एक मुखिया बनाते हैं । और फिर उसके नेतृत्वमें संकटकके दूर करनेकी तैयारी करते हैं । उस जगुथा या मुखियाको अपने अनुयायियोंके परस्पर हगवे तोड़नेकी सभा प्राप्त होती है और उस सत्ताके बल पर वह अल्पमानिक एवं कुछ खोगोका शासन करता है । इस तरह उन खोगोंमें एक काम चकाक स्पूल रक्षिका न्यायालय स्थापित हो जाता है । और वह पहिली स्थिति-मिसमें उड़बडा ही अधिकार निर्णयका मार्ग होया है यह हो कर नवी परिस्थिति-उत्पन्न होती है मिसके द्वारा दूसरोके अधिकारोंके प्रति मान और अपने कर्तव्यकी जानकारी रखनेवाली मनोवृत्तिका उद्भव हो जाता है । इसके बाद उस समाजको राजकीय स्वरूप प्राप्त होने लगता है और उसके कारण अधिकार विभाजित करनेकी आवश्यकता होती है । तब राजा, सेवापति प्रधान आदिकी व्यवस्था होती है और अधिकारका पुनर्करण किया जाता है । फिर राजा न्यायाधीशोंकी सहायसे अथवा स्वयं न्यायालयमें

अधिष्ठित हो कर प्रजाके झगड़ोंका निर्णय करता है; परन्तु राज्य विस्तार, लोक संख्याकी वृद्धि, अति हुए राष्ट्रका मूल राष्ट्रमें समावेश आदि कारणोंसे एक व्यक्तिके द्वारा न्याय कार्य होना कठिन हो जाता है। अतः भिन्न भिन्न स्थानोंमें न्यायालय स्थापित किये जाते हैं। कानून अधिक बनते हैं और एकीकरण हो जानेके कारण सब लोग उन्हें समझने लगते हैं। तथा प्रत्येक मनुष्यको अपने हक और कर्तव्योंका पूरा पूरा ज्ञान होनेसे उन कानूनोंके पालन करनेके साधन सुलभ हो जाते हैं। अन्तमें सबसे सुधरी हुई स्थिति प्राप्त होती है जिसमें कानून बनानेका अधिकार भी लोक प्रतिनिधियोंको मिलता है जिसके द्वारा सर्व सम्मत कानूनोंकी रचना होती है और सर्वोंकी संम्य स्थिति करनेकी सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार समाजकी क्रमशः सस्कृति बढ़ते बढ़ते उसे श्रेष्ठ स्थिति प्राप्त होती है।

इस उत्क्रान्तिका सूक्ष्म अवलोकन करनेसे विदित होगा कि इसकी प्रत्येक सीडी पर समीकरणका तत्त्व कार्य कर रहा है। वन्यस्थितिमें लोग अपनी म्यूनाधिक शक्तके अनुसार झगड़ोंको मिटाते हैं; परन्तु जब वे इस स्थितिसे प्रवृत्त कर परेशी स्थितिमें आते हैं, तब अपना मुखिया नियत कर उसके द्वारा झगड़ोंका निर्णय होता है और कम शक्तिकी व्यक्तिको मुखियाकी सहायता मिल जाती है और इस प्रकार अधिक बलके प्रति-पक्षीकी शक्तिका समीकरण हो जाता है। जिससे पहलकी अपेक्षा-समाजमें झगड़े कम होने लगते हैं और समाजमें स्थिरता उत्पन्न होने लगती है। इस प्रकार पाहलेकी परिस्थिति जिनमें भिन्न भिन्न व्यक्तियोंकी अपनी ही शक्तिका जाग्रद्व रहता है नष्ट हो जाती है और नेताकी शक्तिके विजयसे न्याय, अन्यायकी कल्पनाका समीकरण होकर नवीन उत्तम परिस्थितिमें, उसके जन्म प्राप्त सामर्थ्य एक संश्लेष चकनेवाली न्यायवहारिक नियमितता आदिकी कमी हो जाती है और उस परिस्थितिका न्यायके नियत एवं प्रजाधिकारके अभावित वकी श्रेष्ठ रूपनासे समीकरण होता है। जिससे समाज अधिक प्रगति पर हो जाता है। इसके बादकी स्थितिमें न्याय प्राप्त होनेकी अधिक सुलभता उत्पन्न होती है और समाजमें वैयक्तिक स्वतंत्रताको कानून द्वारा दिया हुआ निश्चित रूप प्राप्त होता है। अतकी स्थितिमें स्वतःके ही हाथोंमें कानून बनानेकी सामर्थ्य या जानेसे समाजके दुर्बल लोगोंकी शक्तिका पलट्टा भारी हो जाता है। और इस प्रकार सुधारणके साध्य स्वरूप व्यक्तिके उत्कर्ष व बंध विमोचनका-सहा-

एक उदात्त कर्मनामोंसे सामाजिक परिस्थितिका—समीकरण हो जाता है जिसके कर्मस्वरूप समान, सुधारणाके सिद्धर पर आरुढ़ हो जाता है ।

यह समीकरणकी क्रिया न केवल एक ही प्रकारकी समानोंमें होती है किन्तु भिन्न भिन्न जातीय अथवा अनेक प्रकारकी समानोंमें भी इस तत्वका परिणाम हुआ करता है । किसी भी कारणसे भिन्न वर्गीय लोगोंके एकत्रित होनेपर उनमें परिस्थितिके अनुबन्धसे तीव्र भेद पड़ जाते हैं । धर्म भिन्नता, आचार भिन्नता, भाषा भिन्नता एवं इतिहास भिन्नता आदिके कारणोंसे दोनों के अन्तःकरणमें उच्च नीच भावोंकी तीव्रता अतिशय प्रखर रूपसे होती है । ऐसी स्थितिमें बिना दोनोंकी भौतिक परिस्थितिमें समता उत्पन्न किये दोनोंका भेद अथवा साम्य भाव होकर उच्छ्रित होना अशक्य होजाता है । जिस समय रोमन साम्राज्यमें भीते हुए प्रदेश शामिल किये गये उस समय रोमन लोगोंमें और उन नवीन लोगोंमें अत्यन्त विद्वता थी । रोमन लोगोंने उन्हें गुलाम बनाकर और उन्हें अत्यन्त हीन श्रेणीके मान कर अपनी और उनकी कल्पनाओंमें भय भेदका एक महा सागरही निर्माण कर दिया था । रोमन लोग अपने शरीर में पवित्र और दूसरेके शरीरको अपवित्र समझते थे तथा मनुष्य जातिके संपूर्ण अधिकारके ठेकेदार अपने आपको मानते थे और विभिन्न मनुष्योंकी कुत्तेकीसी दृष्टा कर दी थी । उन लोगोंमें शक्ति, संपत्ति, शिक्षा, ऐश्वर्यता आदि न होनेसे रोमन उन्हें जैसा नचाते थे जैसा वे मानते थे । उनके प्रतीकार करने योग्य सामर्थ्य उनमें नहीं थी और न नैतिक कल्पना ही का बल था जिससे वे जेतानोंको दबा सकें । अतएव इस विषय परिस्थितिके रहने तक उन लोगोंकी प्रगति न हो सकी । परन्तु जब साम्राज्यकी आधीनतामें रहकर उन्होंने शिक्षा प्राप्त की, संपत्तिका उपार्जन क्रिया और शौर्य तथा स्वार्थत्यागके कृत्यों द्वारा जेता लोगोंको अपनेमें इन गुणोंका अस्तित्व है यह विश्वास दिला दिया तब परिस्थितिका समीकरण हुआ । उनका दर्जा साम्राज्यमें पढगया और कालान्तरमें वे नवीन लोग भी रोमन लोगोंके ही वर्गमें शामिल हो गये । ग्रीस देशमें भी यही हालत थी । वहाँके ज्ञान निवासियोंको नागरिक और उनसे भिन्न लोगोंको Helot अथवा गुलाम कहते थे । स्पार्टन लोगोंमें श्रेष्ठ नीति मत्तके कारण म्थ प्रायानका व्यसन हाउनास्पद माना जाता था और पूर्णतः Helot दास लोगोंका यह एक सर्व साधारण व्यसन था । हिन्दुस्तानमें भी जन आर्य लोग भायं तब उन्होंने अपने श्रेष्ठ पराक्रम और बुद्धिमत्ताके गुणोंके कारण यह

हिंदुस्तानकी भूमि क्रमशः जीतली और संपत्ति ऐश्वर्य, अधिकार, विद्वत्ता
 । युक्त अपनी परिस्थिति बना ली । इनकी पारस्थितिकी समागतता करने
 प जिस लोगोकी परिस्थिति न होनेके कारण कुछ समय तक वे लोग
 नी उन्नति न कर सके । परन्तु फिर धीरे धीरे आर्योंकी ओर यहाँके मूल
 शक्तियोंका परस्पर सम्बन्ध होनेसे आर्योंकी श्रेष्ठता कम होन लगी और यह
 । लोगोंक हिस्सेमें आई तथा उन्होंने आर्योंकी संगतिले विद्या प्राप्त की
 । उद्योग धंदोंके द्वारा आर्थिक स्थिति भी सुधार ली और इस प्रकार उनका
 उन्नत हो कर वे क्रमशः एक रूप बनते गये । अमेरिकामें गोरे और
 भेरेमें परिस्थितिकी दृष्टिले जमीन आसमानका अन्तर था और अब भी है ।
 न्यु ' अमेरिकन सिविल वार ' के द्वारा उन्हें स्वातंत्र्य दान दिया गया ।
 विचारके सर्व मार्ग उनके लिये भी खोल दिये । उनके लिये शिक्षा संस्थाएँ
 आपित हुईं जिनसे बौद्धिक परिस्थितिमें क्रान्ति हो सकी । स्वतंत्र उद्योग
 करनेकी छूट हो जानेसे अपने पक्षसे शिर तकके खूनको पसीना करके कमाई
 हुई संपत्ति उन्हींके पास रहने लगी अतः वे मालदार होने लगे और इस
 प्रकार सौंपत्तिक स्थिति सुधरी । कानूनमेंसे काके गोरेका अन्तर विकास
 झलनेसे उन्हें अपने कृत्योंका ज्ञान होने लगा । और जिस प्रकार राजसकी
 एकद्वी फिरानेसे जगत्के उलटने पलटनेका भय होता है वही बात अमेरि-
 काके और निग्रोके सम्बन्धमें हुई । परिणाम यह हुआ कि निग्रो लोगोंकी
 नीतिमत्ता और उनकी धर्म कल्पनाके परिणामका घुकाव निग्रो लोगोंकी
 प्रगतिकी ओर होगया । यद्यपि आज तक उन्हें पूर्ण साम्य स्थिति प्राप्त नहीं
 हुई है तोभी परिस्थितिका समीकरण युद्ध और उसके बादके कायदोंके
 कारण होनेसे उनका समाज, संस्कृतिकी ओर जाने लगा है । समीकरण,
 साम्यक तत्त्वके सम्बन्धमें इतिहासके उक्त उदाहरण अपूर्व और मननीय हैं ।

यह मनी-करण एक प्रकारसे आपसका समझौता है जिस प्रकार दो पक्षों-
 में समझौता होते समय दोनोंको 'स्वयार्थ, अयार्थ,' की बौद्धिक अनुसार कुछ
 न कुछ छोड़ना पड़ता है और इस प्रकार दोनोंकी परिस्थितिका समीकरण करना
 पड़ता है उसी प्रकार जगत्में भी वैश्विक तत्त्व और परिस्थितिका समीकरण
 होते समय परिस्थितिको अपनेमेंसे केवल स्वार्थ दृष्टि कुछ कम करना पड़ती
 है । और वैश्विक तत्त्वको कुछ डोला होना पड़ता है । परिस्थितिके मूलोक्तसे
 वैश्विक श्रेष्ठताके स्वर्गमें जानेको एक दम उछाल नहीं मारी जा सकती । पृथ-

संघ धर्म नामक राजनीतिज्ञने भी ऊपर बड़े सुतामिक ही जगदकी सुस्थिति का कार्य समीकरण अथवा समझातके साथ पर ही अवलंबित बतलाया है । यह कहता है कि "यह कहना कि क्रिती भी राजनैतिक अथवा स्वतंत्रताके चेतकी अतिम सीमातक मनुष्य जाति एक दस पहुंच सकती है, अम पूर्ण है । संपूर्ण देशोंकी राज्यभ्यवस्था, यहाँ तक कि सर्व सद्गुण, मानव जातिकी इष्ट स्थिति और सुखोपयोग भी समझौता या केन देनके साथ पर चलते हैं । अपन एक दूसरेकी न्यूनताका समीकरण करते रहते हैं ।"*

इस प्रकार परिस्थितिके समीकरणसे परिस्थिति सुधरती है और यह समाजको अष्ट तत्वोंके प्रदुग करने योग्य पात्र बनाती है । अतिके उत्कर्ष-रूप अष्ट साम्यको प्राप्त करनेके लिये व्यक्तिपर सामाजिक नीति कायका प्रभाव पड़ता है और सुधारणाके मार्गमें धानेवाली व्याक्तिका परिस्थिति निबन्ध करती है अतएव उसका समीकरण करनेसे ही संत में इष्ट स्थिति प्राप्त होती है । यह सस्कृति शास्त्रकी अद्भुत-सूत्री है । इस सूत्रीके अनुरोधसे मानवीय व्यवहार किस प्रकार चलना चाहिये इसका वर्णन आगेके अध्यायमें किया जायगा ।



* It is a very great mistake to imagine that mankind follow up practically any speculative principle either of government or of freedom so far as it will go in argument and logical equation. All government, every human benefit and enjoyment every virtue and prudent act are founded on compromise and barter. We balance inconveniences.

तृतीय परिच्छेद.

विषय विवेचन.



प्रकरण पहिला.

समाज रचना.



मानवीय व्यवहारोंका क्षेत्र समाज है। मनुष्यके संपूर्ण उद्योग समाजके रूपसे संकायित तौर पर दिखलाई पड़ते हैं। इसीलिये मनुष्यके वैयक्तिक कृत्योंके भंग समाजमें व्यक्त होते हैं। मनुष्यके परस्परके सम्बन्धों, सृष्टिके आद्यतत्त्वके साथ के सम्बन्धों एवं समाज चारणाके लिए आवश्यक्रीय सामुदायिक आविष्कारके नेटकी अनेकशासे हमारे मनुष्योंके साथके संपन्धोंका विचार समाजकी संस्कृतिकी विकिसामें करना पड़ता है। क्योंकि ये मानवीय व्यवहारके दृश्य स्वरूप हैं। इनमें जो अन्तर होता रहता है वह ऊपर उतराये हुए सुधारणाके नियमोंके अनुसार होता है या नहीं इसकी परीक्षा अपनेको अवश्य करते रहना उचित है। इसी परीक्षाके द्वारा उपपत्ति रूपसे जाने हुए तत्त्वोंका वास्तविक ज्ञान हो सकेगा। इसलिये सुधारणाके तत्त्वोंके अनुसार प्रथमतः इस प्रकरणमें इसका विचार करेंगे कि समाजकी रचना किस प्रकारकी होना चाहिये। संभव है कि अगवत्के प्रारंभकालमें सब मनुष्य समान अधिकारोंका उपभोग करते रहे हों; परंतु इतिहासमें इसका कोई उल्लेख नहीं है। इतिहासमें जो प्रमाण मिलते हैं उनपरसे तो यही निश्चित होता है कि ज्ञातकालसे ही उच्च नीच भावनी कल्पना, फिर चाहे वह किसी उत्सवपर क्यों न उठाई गई हो, मौजूद है। कहीं इस कल्पनाकी अदुमे सांप्रतिक तत्व मिलता है और कहीं धार्मिक। ऐसी दृश्यामें यह प्रश्न विचारणीय है कि क्या यह उच्च नीच भाव अपरिहार्य हैं? यदि अपरिहार्य हैं तो किस तत्व पर उसका होना बर्भाव दूसरे तत्वके अंतस्कर है और

अपरिहार्य नहीं है तो उसे नष्ट किस मार्गसे करना उचित है और अंतमे समाजकी सर्वोच्छेद-स्थिति किस प्रकारकी होना चाहिये ?

समाजरचना, समाजशास्त्रका एक अंग है। पाश्चात्य राष्ट्रोंमें कुछ समय पहिले तक भी समाजशास्त्रको सुसंगतता प्राप्त नहीं हुई थी। उसीसर्षी अता-विद्वमें आगस्ट केट नामक क्रैचतत्वज्ञने समाजकी वित्सृत व्याप्तिका संकलित स्वल्प व्याख्यमें लेकर इस विषय पर पहले ही पहले 'पात्रिटिम्ब फिलासफी' नामके अपने ग्रंथमें विवेचन किया है। इसके पहिले सर्वशास्त्रकी पद्धतिले समाजकी चिकित्सा किसीने नहीं की थी। सोशियालोंजी अर्थात् 'समाजशास्त्र' यह शब्द ही पहिले पहिले कौटम्बने प्रकाशित किया। इस विद्वानने अपने मूल ग्रंथकी आधुनिके चौथे खंडमें १८२ वें पृष्ठ पर इस शब्दका 'इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है कि " मनुष्यसमाजकी गति स्थितिके आद्य-तत्वके पृकीकरणका एक शब्दसे उल्लेख करनेके लिये और भौतिक ज्ञानकी सहायतासे जिस शास्त्रके द्वारा समाजकी चिकित्सा की जा सके उस शास्त्रके उल्लेखके लिये मैंने पहिले पहिले " समाजशास्त्र " शब्दका उपयोग किया है "।

कौटम्बे मान. समकाशीन विद्वान जेम्स स्टुअर्ट मिल नामक अंगरेज अर्थशास्त्रके समाजका शास्त्रीय दृष्टिले अध्ययन करनेकी कल्पना उत्पन्न हुई थी और उसने इस विषयपर परिश्रम किया था। और वह इस शास्त्रके लिये कोई उपयुक्त नाम ढूँढना चाहता था। परन्तु उसे कोई एक शब्द नहीं मिला। इस कारणसे अथवा अन्य कारणसे उसने 'सोशल एक्वनामी'—सामाजिक अर्थशास्त्र " शब्दका व्यवहार किया। इस शब्दसे व्यापक अर्थका बोध नहीं होता। किन्तु यह एक विवक्षित विषयके एक देशका ही बोधक है। इसकी अपेक्षा कौटम्ब शब्द अधिक व्यापक था। अतः वही शब्द—इस शास्त्रका व्यापक शब्द बन बैठा।

समाज शास्त्रकी व्याप्ति बहुत व्यापक है। मया मानवीय समाजके व्यापारमें किस भावका अंतरंग भाव नहीं होता ?। धर्म, राजनीति, समाजरचना, नीतिकार, अर्थशास्त्र, भौतिक शास्त्र आदि विषय मानवीय बुद्धिके अथवा कर्तृत्वके परिणाम होनेके कारण इन सब शास्त्रोंका अंतर्भाव समाज शास्त्रमें हो सकता है। इन सब शास्त्रोंके परस्पर सम्बन्धकी पूर्णता इन शास्त्रोंके उक्त-वर्णनसे मानवीय जातिके रचनात्मक स्थितियोंको देखनेका काम समाजशास्त्र है। इस लिये समाज शास्त्र उक्त शास्त्रोंसे भिन्न न होकर उनके पृकी-

करणका ही यह पर्यायवाची—समाजशास्त्र—नाम है । फेयरबैंक्स नामक ग्रंथकारने भी इस शास्त्रका उपलक्षण अपने “समाज शास्त्रकी प्रस्तावना” नामक ग्रंथमें इसी प्रकार दिया है । :

केसर वार्डेने भी यही बात कही है कि “जिस प्रकार सृष्ट पदार्थोंका वर्गीकरण करते समय सामान्य बातोंमें विशेषोंका अन्तर्भाव हो जाता है उसी प्रकार समाज शास्त्रमें भी ज्ञानके स्वतंत्र शास्त्र रूपी अनेक विशेषोंका अंतर्भाव हो जाता है ।” कंट और मिलके बाद इस विषयको ऊंचा उठानेवाले हर्बर्ट स्पेन्सर थे । इन्होंने अपने “समाज शास्त्रके मूल तत्व” नामक ग्रंथमें स्पष्ट कहा है कि “मनुष्यकी सर्वांगीण शक्तिकी चिकित्सा करनेवाला शास्त्र ही समाज शास्त्र है । ×

इस दृष्टिसे समाज शास्त्रका अवलोकन करने पर, वह मनुष्य जातिके सार्वत्रिक व्यवहारका मुख्य स्थान प्रतीत होता है । उक्तान्त वादका सिद्धा-

* Economy, Politics, and a series of so called comparative sciences deal, each with a particular class of social phenomena, while we have to discover the relation of these different classes for one people and one age and examine the development of a people from age to age Sociology defined as a science of social phenomena includes all these sciences. so this general use of the term, it is not a distinct science but rather the name for a body of knowledge including several sciences.

“Arthur Fairbank's Introduction to sociology” Intro. chap II

× We may regard sociology as one of the great orders of cosmical phenomena under which we may range the next most general, departments as so many genera, each with its appropriate species.

Lester Ward's “outlines of Sociology”

म्ह है कि सजुबाब रूपसे मानव समाज अपकर्षसे उत्कर्षकी ओर जाता है अथवा उसकी सुधारणा और उन्नति हो रही है । यदि इस बीच स्थितिसे उच्च स्थितिकी ओर जानकी प्रक्रियाकी सुधारणा कहा जाय तो समाजके गति-शास्त्रको सुधारणा कहना चाहिये । और इस लिये समाजशास्त्र तथा सुधारणा—इन दोनोंका मानवीय समाज ही एक अभिष्टान ठहरता है । समाजकी स्थिति समझ कर उसकी विवेचना करना समाजशास्त्रका विषय है और वह—मानव समाज—अपनी इष्ट साध्य स्थितिकी ओर जा रहा है, इस कल्पनासे उसकी गतिकी विवेचना करने वाली पद्धतिकी सुधारणा कहना चाहिये । इन दोनोंका सूत्राधार एक ही है । सूर्य, चन्द्र, मंगल आदि ग्रहोंकी रचना, चट्टान, प्रकाश, उष्णता, महत्त्व, गति आदिका वर्णन गणित ज्योतिषमें किया जाता है और ग्रहोंकी गति अवस्थामें उनका पृथ्वी पर अथवा ग्रहियों पर जो इष्टानिष्ठ परिणाम होते हैं उसका वर्णन फ़ालत ज्योतिष करता है परन्तु इन दोनों शास्त्रोंका अधिकरण एक ही ग्रह गोचर है । उसी प्रकार समाज शास्त्र तथा सुधारणा शास्त्र इन दोनोंका अधिकरण मानव समाज है ।

इस प्रकार मनुष्य जातिको समाज शास्त्रना मुख्य स्थान माननेसे उच्च-शास्त्रके अन्वयसेके समय दूसरे शास्त्रोंका किस प्रकारका सम्बन्ध होता है इसका यहाँ विचार करना उचित होगा । मनुष्य प्राणी जिस विशिष्ट प्रकारका प्राणी है इसका सविस्तार वर्णन करनेवाचे मानव जाति वर्णन शास्त्र (ethnography) का सम्बन्ध होता है । फिर मनुष्य जातिके शारीरिक ऋन्ध आकार, गठन, स्वरूप आदिके जेदोसे मनुष्यकी कौन कौनसी और कितनी मुख्य शाखाएँ हैं इसका विवेचन करनेवाले मानव जाति विवेक शास्त्र (ethnology) सम्बन्धमें जाता है । इसके पश्चात् विशिष्ट शारीरिक सूक्ष्म वर्णन करनेवाले शारीर शास्त्र (Physiology), गत कालके-क्षिप्य शास्त्रादि पर प्रकाश डालनेवाले "पुरातत्व शास्त्र" (archaeology) मनुष्य द्वारा किये हुए राष्ट्रीय कृत्योंको विष्णानेवाले इतिहास शास्त्र, मनुष्योंकी ब्यक्ति विषयक मनोरचनाका वर्णन करनेवाले 'मानस शास्त्र' (Psychology) और उसकी—मानव समाजकी—अतीन्द्रिय कल्पना आदिपर प्रकाश डालनेवाले धर्म शास्त्र और तत्त्वज्ञान सम्बन्धमें जाते हैं । और अंतमें मानव जातिके समूहके अँच, नीच, ध्यापार आदि कल्पनाओंके कारण जो जेदोपनेद होते हैं उसका ज्ञान समाज रचना शास्त्र करता है ।

इस पद्धतिसे एक विषयके स्थूल अध्ययनका प्रारंभ करने पर उसके आंगो-पांगके अनुसंधाने मिश्र मिश्र ज्ञान उदयमें आते हैं । इनमेंसे कुछ शास्त्रोंका स्वतंत्र रूपसे और कुछ का सामुदायिक रूपसे इस ग्रंथमें विवेचन किया गया है । इस भागमें केवल समाज रचनाका अपनेको विचार करना है । किसी भी समाजको देखने पर उसमें मिश्र मिश्र वर्ग दिखावाई पड़ते हैं । इन वर्गोंके व्यक्तियोंका परस्पर सम्बन्ध किस पद्धतिसे होता है और वह किस प्रकार होना उचित है, इसका विचार इस भागमें करना है । इस दृष्टिसे समाज रचना शास्त्र समाज शास्त्रका एक अंग होने पर भी विचित्र विषयका विवेचन करनेवाला होनेके कारण वह मिश्र भी कहा जा सकता है ।

जगत्के आरम्भ कालसे लेकर आजतककी किसी भी समाजको देखने पर यह विदित होगा कि उसमें किसी न किसी कारणसे उच्चनीच भेद उत्पन्न हुए हैं और विषमता उत्पन्न हो गई है । आज कलकी सोचसे सिद्ध हुआ है कि सब समाजोंमें अत्यंत प्राचीन समाज हिन्दुस्तानकी आर्य लोगोंकी वेद कालीन समाज है । इस समाजमें आर्य और द्रव्युका भेद और फिर पुरुष स्त्रियों कहे अनुस्यार चातुर्वर्ण पद्धतिका अस्तित्व हमारे उक्त कथनका साक्षी है । इसका विवेचन आगे किया ही जायगा । इसके सिवाय इंग्लिष्ट कथना मिश्र, आदिब्या वगैरेह देशोंमें वर्माण्यक—युरोपियोंका वर्ग, राजन्सों—क्षत्रियोंका वर्ग, स्या इतर वर्ग, ग्रीस रोम आदि देशोंमें अमिजन वर्ग और गुलाम वर्ग और इंग्लैंड सरीखे देशोंमें सरदार आर साधारण वर्ग दिखावाई पड़ते हैं । जापानमें सामुराई—क्षत्रिय वर्ग सब दूसरे वर्गोंसे भिन्न माना जाता है । कारण यह है कि किसी भी देश और किसी भी कालमें पूर्वोक्त प्रकारके भेदोपभेद अचक्षु दिखावाई पड़ते हैं फिर चाहे उनकी उत्पत्ति किन्हीं कारणोंसे हुई हो । मुख्य विचारणाय यह है कि ये भेदोपभेद स्वाभाविक हैं या नहीं । क्योंकि यदि स्वाभाविक और अपरिहार्य नहीं हैं तो यह सिद्ध है कि इन्हें नष्ट कर देनेसे ही समाजकी सुधारणा होगी यदि ये स्वाभाविक और अपरि-

* Sociology besides the Adjectival Name sociological has a shorter one viz. Social, which conveys a different idea.....

Ward's "Outlines of Sociology".

हार्थ हैं तो इनकी स्थापना योग्य तर्कोंपर होनेसे ही सुधारणा हो मनेगी । इन दो विचार सरणियोंके कारण समाज रचना बाशियोंमें भी दो भेद हैं । जिनमेंसे एक भेद तो सामाजिक वर्गोंको आवश्यक और इष्ट मानता है और दूसरा भेद इसके विरुद्ध है । इन दोनों पक्षवालोंके कहने पर आगे विचार किया जायगा ।

ऊपर यह उल्लेख किया गया है कि आगस्ट कंटके पहिले संपूर्ण मानव समाजका सामुदायिक एकत्व नहीं माना जाता था । जिस प्रकार अनेक पक्षियोंका समूह सामाजिक सम्बन्धोंसे नियमित नहीं हो सकता उसी प्रकार पहिले मानव समाजकी भी स्थिति समझी जाती थी परन्तु विवेचक आगस्ट कंटके पहिले पहिल मानव समाजके सम्बन्धमें यह कल्पना निश्चित कर कि यह समाजबंध रचनाके समान अथवा प्राण विक्षिप्त वेहधारी प्राणीके समान परस्पर सम्बन्ध है उसने अपनी मानव समाजकी उत्पत्तिकी इमारत टाटी की । कंटका जन्म सन् १७२८ में जनवरीकी १२ बीं सारीजको फ्रांसके मोट पेडियर नामक ग्राममें हुआ । अन्वत्स क्रममें इसने गणित और भौतिक शास्त्रका अध्ययन उत्कृष्ट रीतिले किया था । इसकी आजीविका स्फुट रीतिले शिक्षकका कार्य करनेसे चलती थी । ऊपर कहे अनुसार इसे मनुष्य एकत्व पर विचार करनेकी करपना हुई तब फ्रांसकी राज्यक्रान्तिके पहिलेके जिन जिन ग्रंथकारोंने समाजकी उच्चतिके सम्बन्धमें कल्पना और मार्गोंका अपने ग्रंथोंमें वर्णन किया था इसने उन सबका मनन किया । उनमें कंटालें नामक ग्रंथकारके लेखोंमें कंटको यह कल्पना अव्यक्त रूपसे पहिले पहिल मिली कि माननीय समाज सामुदायिक ध्यक्तिके समान है । और उसकी प्रकृति प्रगमन सीछ है । “ इसी कल्पनाको फैला कर इसका दृग्करण पूर्वक वर्णन कंटने अपने “ पात्रिटिव्ह फिला सफी ” नामकग्रंथमें किया है । इसने मनुष्य समाजकी श्रेष्ठताके सम्बन्धमें लिखा है कि यह सृष्ट पदार्थोंमें सबसे श्रेष्ठ और उदात्त है तथा संपूर्ण मनुष्यके पूजने एवं सेवा करनेके योग्य है । यहाँ पर यह कह देना उचित होगा कि कंट निरीकारवादी था । उसे यह पूर्ण विश्वास था कि अगत्का निर्धला कोई नहीं है । इस विषयका विवेचन आगेके धर्मविषयक प्रकरणमें हम भी करेंगे । परन्तु परमेश्वरके अस्तित्वको न मानकर उसके स्थान पर वह मानवीय समाजको मानता था, यह बात सेमैसे यह बात समझमें आजायगी कि वह मनुष्य समाजको क्यों पूजनीय

मानता था । मनुष्यकी बुद्धि प्रगति-पर होती है और श्रेष्ठ स्थिति प्राप्त करनेकी ओर उसका सदा प्रयत्न रहता है । उसका श्रेष्ठ स्थितिके आवर्धकरूपसे कोई प्रेरक पदार्थ आवश्यक होता है । आस्तिक लोगोंकी दृष्टिमें यह पदार्थ परमेश्वर है । परन्तु कष्ट यह बात नहीं मानता । उसने इस स्थानके योग्य मानव समाज ही को माना है । उसने कार्याकार्यके सम्बन्धमें यह ठहराया है कि समाजकी शुद्ध अंतःकरण पूर्ण सेवा करना ही मनुष्यका सर्व श्रेष्ठ कर्तव्य है । उसकी इस मानवी समाज व्यवस्था जनता (Humanity) रूपी देवताकी कल्पनाका सूक्ष्म रीतिसे अवलोकन करना उचित होगा । किसी भी प्राणीकी शरीर रचनाका विचार करने पर यह महसूस होता है कि उसके अनेक अवयव व भाग हैं । और उन अवयवों व्यवस्था भागोंको विशेष विशेष कार्य करना पड़ते हैं । इस कार्य कर्तव्यकी दृष्टिसे उनमें परस्पर श्रेष्ठ भी होता है । परन्तु प्रत्येक भाग अपने नियत कार्यको केवल स्वतःके व्यक्तिगत हितके लिये नहीं करता किन्तु शरीर धारणाके मुख्य कार्यके लिये ही करता है । उसी प्रकार मानव समाजरूपी देवके अवयव भी अपने नियत कार्य अखिल समाजकी धारणाके लिये करते हैं । इस कार्य मेंदूरी अपेक्षा कठिने समाजके चार मुख्य भाग किये हैं । इन चारों भागोंका वर्णन उलीके शब्दोंमें सारांश रूपसे यहाँ किया जाता है ।

“ इस प्रकार परमेश्वरके स्थानपर मानव समाजरूपी देवताकी प्रतिष्ठा कर देनेसे सम्पूर्ण मानव जाति पर निःसीम प्रेम करना और उसकी अर्पित सेवा करना ही मनुष्यका सर्व श्रेष्ठ कर्तव्य ठहरता है । प्रत्येक मनुष्यमें स्वार्थकी भावनाएं वास करती हैं । इन भावनाओंका नाश कर उनके स्थान पर समाज सेवा रूपी तात्वकी दृष्ट स्थापनाका कार्य अत्यन्त परिश्रम और आत्म विज्ञानसे ही सम्भव हो सकता है । यह सेवा रूपी सत्यकी स्थापनाका कार्य सबसे समान रीतिसे नहीं हो सकता क्योंकि सबकी सामाजिक और नैतिक स्थिति समान नहीं होती । जिन थोड़ेसे लोगोंकी सामाजिक और नैतिक उन्नति हो चुकी है, जो सत्य सोचनार्थ स्वार्थ और ऐहिक बातों का त्याग कर सकते हैं उन्हें एक प्रकारसे ग्राह्य व्यवस्था पुरोहितका रूप प्राप्त होगा । अर्थात् भविष्यमें सत्य सेवा लोग मानव समाज रूपी धर्मके पुरोहित होंगे । और उनके नैतिक व्यवहारकी शुद्धता पर समाजके संपूर्ण भागोंका बोगझम निर्भर रहेगा । संसार और राज कार्योसे पराङ्मुखता ही धार्मिक और नैतिक-

उच्चतिका मूल मंत्र है । व्यवहार और परमार्थ पूर्ण तथा एक स्थान पर नहीं रह सकते इसलिये यह पुरोहित—जगत् सत्य, शुद्ध, और पवित्र आचरणके आदर्श रूपसे, समाजका शिरोमणि एवं स्वतंत्र होना चाहिये । जगत्के सम्पूर्ण व्यवहार छोड़ देनेके कारण, सांसारिक सुखमें निमग्न रहने वालेसे इनका अधिकार बहुत अधिक होता है । मनुष्य जातिको उन्नतिसी और ले जाने वाले कार्योंकी ये धुराके समान हैं । भौतिक शास्त्र, काम्य शास्त्र, नीति शास्त्र आदि शास्त्रोंका स्वतःके आधारभूमिमें उपयोग कर ये लोग दूसरोंको अपने उदाहरणसे उपदेश करेंगे ।”

“ परमेश्वरके स्वरूप और अस्तित्वके सम्बन्धमें जो कल्पनाएँ सर्व मान्य हैं उन्हें एकत्रित करनेसे यह निष्कर्ष निकलता है कि परमेश्वरका जगतमें प्रत्यक्ष कार्य कुछ नहीं होता । उसका निवास अंतरीक्षमें अथवा कल्पनीय पूर्व अगम्य स्थानमें माना जाता है । उसकी उदरगत अतिक्रमे कालान्तरमें विरचता एवं जगत्के विषयमें पराङ्मुखताका रूप प्राप्त हो जाता है । परन्तु मानव धर्मके पुरोहित, समाजके कल्याणके अङ्गवर्तु होनेके कारण उन्हें व्यावहारिक कार्य ही करना पड़ेंगे । लोक शिक्षाका कार्य करनेके लिये इस पुरोहित वर्गका दूसरे वर्गसे बिल्कुल घृण्य और स्वतंत्र रहना उचित है । वर्ण शक्ति ही जगत्के उन्नत स्वतन्त्र और नैतिक उन्नति स्थायी नहीं रह सकेगी । वर्णोंकी परस्पर बिल्कुलता ही उनकी शुद्धताकी जड़ है ।

“ तात्त्विक कल्पना और उनके उपयोग करनेवाले व्यवहारका अविष्टान सदा भिन्न ही रहना उचित है । जगत्के निम्न व्यवहारोंको देखनेसे श्रेष्ठ कल्पना और कृतिमें सदा अंतर ही दिखलाई पड़ता है । उच्चतम इमारत बनानेवाला शिल्पक कमी मजदूरीका काम नहीं कर सकता । यदि उससे मजदूरी कराई जायगी तो उसकी कल्पकताका नाश हो जायगा । कल्पना और कृतिमें, कल्पना कृत्तिका उद्भूत स्थान है । अतः वह श्रेष्ठताकी पात्र है और इसी लिये सत्यवेत्ताओंका वर्ग स्वतंत्र ही रहना उचित है ।—”

“ संभव है कि उक्त कथन पर यह आक्षेप किया जाय कि इस प्रकार एक वर्ग विशेष अथवा व्यक्ति विशेषकी—शुद्धिके निश्चयके अनुसार चलना और उनकी अधिकारिता मान्य करवा एक प्रकारसे अपने मन स्वतन्त्र पर विधानादि देना है । परन्तु यह आक्षेप ठीक नहीं है । विधिवानुसृत अथवा

परंपरा प्राप्त नियमोंकी सर्वथा उपेक्षा कर देना इष्ट नहीं है। यदि कमी इष्ट भी हुआ तो ऐसा करना क्षम्य नहीं है। अपनी बुद्धिके अनुसार कित्तीका भी उपदेश यदि वह नीति तत्वके विरुद्ध नहीं है तो वह अमुक्तका उपदेश होनेसे हम इत्थे नहीं मानेंगे ऐसा कहनेमें कुछ सार नहीं है। दीर्घ अनुभव, शुद्ध चारित्र्य और समाज संबंधी प्रेम, इन गुणोंके कारण विवादात्त वर्ग सदा अलुकरणीय और श्रेष्ठ ही रहेगा।”

“इस प्रकार जगतके योग क्षेमका व नीति तत्वका मांढार पुरोहित वर्गके सिपुर्द कर देनेके पश्चात् अब व्यवहार और प्रबंधकी आर देवना चादिये। धन-द्रव्य-राष्ट्रका रक्त है। इसरक्तको राष्ट्र पुरुषके शरीरके एक भागसे दूसरे भागमें संक्रमण करनेवाली रक्त वाहिनी नाड़ियोंके समान व्यापारी वर्ग है। अनेक पीड़ितोंके अनुभव और नित्य व्यवहारके अवलोकनके कारण द्रव्यका विनोमय योग्य रीतिसं करनेकी कला ज्ञाननवाला श्रेष्ठवर्ग प्रजाके आधिष्ठ वक्ष्याणका जपाव दार है। यह वर्ग समाजका दूसरा बड़ा वर्ग है। द्रव्यकी लाकना मंत्रिराकी लाकसाके समान मनुष्यके शोभको आगेवाय कर सकती है। अगर कोभके पंजेमें आकर यह व्यापारी वर्ग दूसरेको पील सकता है। अतएव इसके स्वैर चलन पर नैतिक आचकारका दबाव होना उचित है और इस दबावके लिये पुरोहित वर्गकी आवश्यकता है। इन दोनों वर्गके परस्पर प्रेममे समाजमें सुख शान्ति और संपत्तिकी वृद्धि होती।”

“समाजका शीर्ष स्थान पुरोहित वर्ग और हृदय स्थान व्यापारी वर्ग मान लेने पर ऐसे वर्गकी भी आवश्यकता है जो हाथ पावके समान कार्य करे। यह वर्ग मजदूर वर्ग है। बिना इस वर्गके कोई कार्य नहीं हो सकता अतएव इस वर्गकी भी बहुत आवश्यकता है। समयके जमाव और द्रव्यकी कमीके कारण वे लोग राजद्वार नहीं चला सकते और न अपूर्ण बुद्धिमत्ता तथा तारिबक कल्पनाओंके अभावके कारण यह वर्ग समाजका मार्गदर्शक हो सकता है। यह वर्ग सदा कार्य करता ही रहेगा। इनका धल इनकी संख्या पर निर्भर है। इस दृष्टिसे बुद्धि सामर्थ्य शुक्त पुरोहित वर्ग और धनबल युक्त श्रेष्ठ वर्गसे संग्घ रखनेवाला यह तीसरा मजदूर वर्ग है।”

“समाजके पुरुष वर्गके उक्त प्रकारसे विभाग होते हैं “वद्यपि यह तत्व ठीक है कि सुष्टिके इतर प्राणी वर्गकी अपेक्षा मनुष्यकी श्रेष्ठता बुद्धि विषयमें है। परन्तु केवल बुद्धि बल ही पर मनुष्यके विचार सामर्थ्यकी इमा-

रस रुकी हुई नहीं है। उसके साथ ही साथ मनो विकारोंकी भी उतनी ही प्रबलता होती है। दया, वात्सल्य, प्रेम, भाक्ति आदि उत्तरोत्तर ऊपर ले जाने वाली सीढ़ियों मनो-रचनाके एक महत्व पूर्ण भागकी निदर्शक हैं। सत्सारमें इन मनो विकारोंका मुख्य स्थान स्त्री जाती है। सचछोंन दुर्बलछोकी, चमिचोंने गरीबोंकी और पुरुषोंने स्त्रियोंकी रक्षा करना, यह सृष्टिका नियम है। स्त्रीजाति स्वभावतया दुर्बल है। गर्भ धारण, प्रसूति, आदि शारीरिक आपत्तियोंका प्रसंग स्त्रियों पर वारंवार आनेके कारण तथा उनकी स्वाभाविक कोमलताके कारण उनके भरण पोषणका भार पुरुषोंको ठठाना चाहिये। और उसके बदलेमें स्त्रियोंको यह कृत्य में दक्ष रह कर पुरुष जातिके प्रेमको बढ़ाना चाहिये। यही दोनोंका उत्तम संबंध है।”

आगस्ट कंट का मत है कि यदि समाज रचना ठक प्रकारकी होगी तो मानव समाजको अवश्य सुख प्राप्त होगा।

समाज रचनाकी इस पद्धति पर विद्वद् पक्षोंका बहुत कुछ आक्षेप है। इन पक्षोंका कहना है कि यह रचना भूल बरी हुई है। इस रचनाकी जड़में जो विचार सरणी है उसमें सृष्टिके दो मुख्य नियमोंका उल्लंघन किया गया है। और इस लिये सबकी सब विचार मालिका भ्रम पूर्ण हो गई है। कंट पहिले ही यह बात भूल गया है कि सब मनुष्य, प्राणी स्वभावके धर्मानुसार तत्त्वत एक समान हैं। महासागरके पृष्ठ पर उठने वाली असंख्य छहरें आकर प्रकारसे भिन्न दिक्कड़ा देवे पर भी तत्त्वत समान हैं और यह भिन्न दिक्कड़ाई पडनेवाला भेद गांण है। इसी प्रकार मानव समाजका घटक स्वरूप प्रत्येक मनुष्य दूसरे मनुष्यके ही समान है। सब मनुष्योंके बुद्धि, उदार, फुफुस, अग्नि, मज्जा आदि सब समान होते हैं। इसी प्रकार मनो विकार और भंताः कारण भी समान ही होते हैं। क्या ऐसा कोई विषय है जो शिक्षाके द्वारा मनुष्यप्राणी न सीख सके? शिक्षासे और उसके अभावसे क्या मनुष्यप्राणी चढ़ेकी कंच नीच स्थितिको प्राप्त नहीं हो सकता? जब मनुष्य परिश्रमने चढेका ज्ञान प्राप्त कर सकता है तब यह तत्त्वज्ञानका आच्छन्न क्यों नहीं कर सकेगा। तत्त्वज्ञानमेंसे पारिभाषिक कठिनता निकाल देने पर उसके प्रमेय भी फिर कठिन नहीं रहेंगे। तथा मनुष्यमातिका व्यक्तिगत भेद समानताके मानसे बहुत झुलक है। ऐसी दृष्टामें संपूर्ण मानवजातिको एक सचेतन शारीरिक उपमा देकर भिन्न भिन्न व्यक्ति समूहोंको उनके

भिन्न भिन्न भाग मानना और उनमें अवास्तविक तारतम्य उत्पन्न करना क्या अज्ञानका लक्षण नहीं है ? प्राणी शरीरके भिन्न भिन्न अवयवोंका ऐसा कुछ-अंतः संबंध होता है कि उनमेंसे किसी भी एक अवयवकी क्रियाका परिणाम दूसरे अवयवों पर भी होता है। और बहुत अक्षोंमें मानवजातिकी भी यही दशा है। उसके भी एक भागकी क्रियाका परिणाम दूसरे पर प्रायः होता है। और इसीसे संभवतः मानव जातिको सचेतन शरीरकी उपमा देनेकी कल्पना सूझी होगी, परन्तु इसी एक कारणसे उसके भागोका उच्चस्वामी-त्त्व उहराना पागल पन है। पृथ्वीके गोले पर पर्वतादि उच्च-ठठे हुए प्रवेक्ष और महासागरादि नीच-भीतरे प्रवेक्ष होते हैं। परन्तु पृथ्वीकी परिचाके आँवसे उसकी यह निम्नोच्चता अपेक्षणीय मानी जाती है और इसके कारण उसके गोलत्वको किसी प्रकार जाचा नहीं जाती। उसी प्रकार मानव जातिकी समानतामें बहिष्क, शारीरिक आदि भेदोंसे किसी प्रकारकी जाचा नहीं आ सकती। इसके सिवाय मानव जातिको ऊपर ही हुई सजीव शरीरकी उपमा एक ओर दृष्टिसे भी सूझ भरी हुई है वह यह कि शरीरकी रचना नियमित है। पाँवोपर कमर, कमर पर पेट, पेट पर छाती आदि उसके अवयव सब नियमित हैं इनमें अन्तर नहीं पड़ता। इसी प्रकार इन अवयवोंका कार्य भी नियमित है। जिस अवयवका जो कार्य है उसके सिवाय दूसरा अवयव वह कार्य नहीं कर सकता। पंखोंके द्वारा, भोजन नहीं खाया जा सकता। हाथसे चला नहीं जा सकता। परन्तु मनुष्य समाजकी प्रत्येक ब्यक्ति शिक्षा और अभ्याससे प्रत्येक कार्य कर सकती है। राजनीति कुशल मनुष्य प्रसंग पढ़नेपर शक्य कारण कर सकता है। और शिक्षाके द्वारा एक किमान छोके नायक बन सकता है। ऐसी दशामें ब्यक्ति अथवा व्यक्ति समूहको विशेष अकड़ कर उसकी योग्यता और कर्तृत्व क्षणिको मूलभित करना, संबंधोंसे मनुष्य जातिकी उन्नति करनेके बजाय उसकी अवनति करना है। जंगलीलोहों और धर्माव हिन्दुओंकी स्थिति को देखो। उन्होंने एने ही हानि कारक सत्त्व पर जाति भेदकी कल्पना प्रचलितकी जिसके कारण उनका समाज एक ठके हुए पानीके बबकेके समान गति रहित हो गया है। क्या केट भी हिन्दु-ओंके अन्ध-मार्गकी पुनरा वृत्ति करना चाहता है ? यद्यपि केटने सन्को समान शिक्षा देने और अपनी इच्छा अनुसार चाहे जिसवर्गमें शामिल होनेका सुमी-दारवा है तो भी वह जातिभेद मैनी ही था और मनुष्य जातिके तृष्क

व संवन्धापी साधर्म्यकी अपेक्षा क्षुल्लक और संकुचित वैधर्म्यकी ओर ही उसका दृष्टि अधिक थी । इसी लिये बलमें पड़े हुए कँदीके समान मनुष्य जातिको तीस प्रकारके वर्गोंकी तीन बड़ी २ कोटिवर्गोंमें बँटकर उसकी प्रगति रोकनेके श्रेय उसने प्राप्त किया । परन्तु हमको आशा करना चाहिये कि मनुष्य प्राण्य इन कृत्रिम बंधनोंमें न फँस कर मन चाहे वृक्ष पर अपना घर बनानेके स्वतंत्रता रखन वाले पक्षियोंके समान, स्वतंत्र रहेगा और यह आशा पूर्ण होनेका समय भी शीघ्र ही प्राप्त होगा ।

कैटकी समाज रचनामें आक्षेपक पक्ष एक दूसरा दोष और यतन्त्रता है कैटके मतानुसार मनुष्य, चाण्डाल्यके अनुसार ही व्यवहार करनेवाला प्राणी है । उसमें अतः स्फूर्ति निष्कूल नहीं है । ऊपर यतलाई हुई जाति वर्ग, कल्पना, यदि कोई राष्ट्र, समाजके श्रेष्ठ पुरुष अथवा यह अन समान स्वीकार भी करले तो भी यह मानना बड़ी भारी भूल होगी कि मनुष्य प्राणी उस चाण्डाल्यके अनुसार अपना व्यवहार रखेगा, उसे अपना अतः—स्फूर्तिसे उसमें फल करनेकी इच्छा तक न होगी और उसकी दूसरी पीढ़िया भी उसी मान्यताके अनुसार व्यवहार करती रहेगी । मनुष्य स्वभावको इस प्रकार परतंत्र, निरिच्छ और विचिकार मानना मूल नहीं तो क्या है ? । पुरोहित वर्गके सब छोर्गोंके स्वयुक्त निरामिकाय अथवा विरक्त होने, सब समृद्ध बन्धन वर्गके आगे पीछे सत्य मार्गसे प्युत न होने और मजबूत वर्गके परम गहन सेवाधर्मके सदा अनुयायि रहनेकी कल्पना मनुष्यके मनो-विकार और महत्कार्यके अस्तित्व पर कुह्लाहीके समान है । मुर्गीको बँध कर बकरी आर बकरीको बँध कर गाय, गायको बंध कर विवाह, विवाहके बाद बाल बच्चे आदिकी कल्पना करने वाले शैलविद्धीके समान मचोरात्म्य उक्त उपपत्तिकी लक्षण भी मौजूद है । एककी बुद्धिका विणय दूसरा मनुष्य पसंद करेगा यह कोई निश्चित नहीं है । जो बात अपने मनो विकारोंकी श्रिय माफूम होती है उसे ही करनेकी ओर मनुष्यकी प्रवृत्ति रहती है । मनो विकारोंका प्राबल्य व्यवहार सिद्ध है । ऐसी दृष्टामें कृत्रिम बंधनों युक्त समाज पद्धतिका स्वीकृत करना असंभवनीय है । अतएव उक्त दोषोंसे युक्त आगराट कैटकी समाज रचना अक्षय्य है ।

आगराट कैटके तत्वपर किने हुए उक्त लक्ष्योंमें दो सिद्धान्त बतलाये गये हैं । पहिला तो यह कि मनुष्यजाति सामान्यतः धारी, मन, बुद्धि कर्तृत्व

आदि संपूर्ण दृष्टियोंसे समान है। और दूसरा यह कि मनुष्य, परंपरागत विचारों अथवा श्रेष्ठ व्यक्तियोंके उपदेशकी अपेक्षा स्वतःके मनोविकारों पर ही अधिक अवलंबित रहता है। इन दोनों सिद्धान्तोंपर भी आधुनिक समाज शास्त्रज्ञोंने कुछ आक्षेप किया है। उनका भी विचार कर लेना उचित होगा।

आक्षेपकोंका कहना है कि.—यदि सुचरे हुए देशोंके इतिहास की सूक्ष्म दृष्टिसे परीक्षा की जाय तो मात्स्य होगा कि वहाँके प्रत्येक व्यवहारोंकी इसारत मनुष्य जातिकी विपमता पर खड़ी हुई है। जन्मसे प्राप्त होनेवाली श्रीमंती अथवा गरीबी उस विपमताका चिन्ह है। वस परंपराकी जागीरपर अथवा रूम्बुकी गादी पर बड़े लड़केका हक होना, उस विपमताका और भी बड़ा चिन्ह है। किसी भी देशके लोगोंकी परकीय लोगोंको नीच और अपनेको जंच समझनेकी बुद्धि होना भी असमानताका ही दर्शक है। इस प्रकार अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। इतिहासमें भी ऐसे उदाहरणोंकी कमी नहीं हैं। इटलीके रोमन लोग ग्रीक लोगोंको ग्रेक्युलस (Graecus) छोटे ग्रीक ऐसे हीन-वर्णक नामसे संबोधित करते थे। और उन्हें डरपोक तथा घृणा प्रदान करना करनेवाले समझते थे। आर्यावर्तमें उत्तर भूवर्षसे आये हुए—आर्य-खोय-यूक निवासियोंको अनार्य, वस्तु आदि विशेषणोंसे उल्लिखित कर अपनेसे हीन समझते थे। इसी प्रकार यूरोपमें मध्य कालीन नार्मन राजा गण फ्रांसके मूल निवासियोंको फ्राँसकी दृष्टिसे हीन बक मानते थे। सारांश यह कि मनुष्य जातिकी समानताके तात्त्विक सिद्धान्तके साथ ही साथ परिस्थितिके अनुकूल स्वभाव जन्म अंतरके कारण विपमताका तत्त्व रूढ़ होता गया है। अतएव इस प्रश्नपर साक्षीय दृष्टिसे यहाँ विचार करेंगे।

* मनुष्य जातिका विरीक्षण करनेपर उसमें भिन्न भिन्न समूहके सरीरोंकी दृष्टिसे कुछ परस्पर भिन्न स्फूल वर्ग दिखलाई पड़ेंगे। सुधारणाकी दृष्टिसे सबसे कमिष्ठ वर्ग जिम्मे अथवा ह्युज्य वर्णके लोगोंका वर्ग है। इनका शिरो-मत्त छोटीकी अपेक्षा बहुत पीछे रहता है। उनमें बुद्धि अथवा मानसिक सक्रिया प्रायः अभाव होता है। परन्तु इनके मनोविकार बहुत प्रबल और

ॐ यह विवेचन 'काउट आर्थर द गोविनो' नामक फ्रेंच ग्रंथकारके The Inequality of Human Race मानव जातिकी विपमता' नामक ग्रंथके आधारसे प्रायः अक्षरशः किया जाता है।

अधरकर होते हैं। क्योंकि बुद्धि और वैश्विक हीनतासे मनोविकारोंकी प्रबलताका यह संबंध है। ये लोग किसी भी वस्तुको अज्ञात नहीं समझते। जो गंध दूसरोंको असह्य होती है वह इन्हें अत्यन्त प्रिय होती है। इनके मनोविकार बुद्धिसे निर्णत न होनेके कारण चंचल होते हैं। इन्हें प्राणोंकी पर्वाह नहीं होती। मरने और मारनेमें इन्हें कुछ भी गंभीरता नहीं भाव्यमान होती। इस प्रकार इस वर्गमें शरीर रचना और सञ्जन्य मन-सामर्थ्यकी विशेषता होती है।

इस वर्गके बाद पीतवर्णी मनुष्योंका वर्ग है इनका शिरोमाता उन निम्नो लोगोंसे विकसित विकृत होता है। अर्थात् टोडीकी अपेक्षा आगे हुआ हुआ रहता है। इनका मस्तक मोटा और ऊंचा होता है। चेहरा तिकोना होता है। तथा इनका शरीर साधारण स्थूल हुआ करता है। इनके अंगमें उत्साह शक्ति कम होती है। ये लोग प्रायः आकृषी हुआ करते हैं। इनकी इच्छा शक्ति भी दुर्बल होती है। और भौतिक सुखकी छाकसा प्रसंग विशेष पर चीम होनेपर भी अमर्यादित नहीं होती। सृष्टिके पदार्थोंकी उपयोगिताकी ओर ही इस वर्गका झुकाव होता है। बुद्धि अधिक व्यावहारिक परन्तु मोदी हुआ करती है। संक्षेपमें कहा जा सकता है कि सुस्वस्थ्यता एवं चैवमें जीवन व्यतीत करनेकी इच्छा इस वर्गके मनुष्योंमें अधिक होती है। किसी भी राष्ट्र अथवा समाजके मध्यम वर्गकी पात्रता इन पीत-वर्णी लोगोंमें होती है।

अंतका वर्ग आर्य वर्ग है। इसमें बुद्धिकी प्रगल्भता, स्वतंत्र इच्छा शक्ति एवं विवेचनात्मक शक्ति होती है। इस वर्गके लोगोंमें पदार्थोंकी उपयोगिताके अनुसार ही पदार्थके लौकिकी और दूसरे पदार्थोंकी सुखनासे उच्चकी श्रेष्ठता एवं हीनताकी कल्पना होती है। आत्म संरक्षणके साथ साथ परोपकार बुद्धि भी इनमें होती है। तथा किसी भी सकटकी पर्वाह न कर उससे निकलनेका मार्ग ढूँढ निकालनेका चैव, प्रसंगावधान और बुद्धि कौशल्य होता है। इनमें मानापमानकी कल्पना चीम रहती है। सार्वभौम दृष्टिकी सुखनामें ये ऊपरके दोनों प्रकारके मनुष्योंसे श्रेष्ठ हैं। गौर वर्ग, उच्च-उल्लाट, सरल नाक, लम्बा चेहरा, ऊंची और प्रमाणानुसार देहदृष्टि आदि लौकिकी कारणोंसे ये लोग दूसरोंसे श्रेष्ठ हैं। इस प्रकार मनुष्य समाजके साधारण तथा चीम वर्ग हैं।

इस जन्म सिद्ध और वैसर्गिक नेदोंके कारण इनकी बुद्धि, कल्पना, समान रचना और सुधारणामें भी भेद होना स्वाभाविक है । ऐसी अवस्थामें संपूर्ण मनुष्य समाजको एक ही नियमका अनुवर्ती बनाना एक ही कसौटी पर कसना और एक श्रेणीमें बैठानेका प्रयत्न करना अभयोनकताका सूचक होगा ।

अब इन परस्पर भिन्न जातियोंके परस्पर संबंधका परिणाम समाज रचनापर कैसा होता है ? इस पर विचार करना आवश्यक है ।

विद्ये नामक सुप्रसिद्ध शरीर शास्त्रज्ञने मनुष्य जातिका अत्यंत सूक्ष्म-अवलोकन किया है । और उसकी प्रगति तथा अधोगतिकी चिकित्सा करते समय अपना अनुभवजन्य सिद्धांत इस प्रकार प्रगट किया है कि " सुधारणाका बीज मनुष्यजातिके अंतरंगमें ही छुपा हुआ है । मानवीय समाजके भिन्न भिन्न भागोंकी भिन्न भिन्न सुधरी हुई अवस्थायें होती हैं । उन भागोंका अपनी अंतर्गत प्रकृतिके अनुसार प्रायः विशेषमें जाना जाय और कठिन होता है । अतएव सम्पूर्ण समाजको एक नियमका अनुगामी बनाना अशक्य है । समाजमें प्रयत्नरणकी प्रवृत्ति इतनी उंची होती है कि उसके कारण एक समाज, दूसरी समाजसे शरीर संबंध करनेसे अत्यन्त अप्रसन्न होती है अरब लोगोंकी समाजकी ओर देखने पर विदित होगा कि वे अपनेको ईस ज-शेमके धंधल बतलाते हैं परंतु अपनी जाति दूसरी जातिसे अलग रखनेके कार्यमें वे बड़े दक्ष रहते हैं । स्पेनदेश पादाक्रांत कर वहीं अपने अधिकारकी पताका फहराने पर भी ब्रह्मेन्द्रिया, टॉलेडा, कावोंवा और मेनेडामें इनकी जातियोंके सब एक दूसरेसे घुसक रहते थे । तुर्क, पर्सियन, हिन्दू जादि सब अपने अपने समाज—भिन्नत्वको बनाये रक्षना चाहते हैं । ईसादेशमें भी वहाँ कि विवाह दृष्टिसे सामाजिक बंधन बहुत क्षियित हैं कुछ मुख्य शहरोंको छोड़ कर देशके दूसरे भागके लोगोंकी प्रवृत्ति अपनी छोटी छोटी उपजातियोंके बाहिर विवाह न करनेकी ओर अधिक देखी जाती है । सारांश यह है कि परिस्थितिकी अपरिहार्यताके कारण समाज रचना उच्चगीच भाषणामय—विषमरूप-ही प्रायः दिखलाई पड़ती है ।

शरीरशास्त्र और मानस शास्त्रकी दृष्टिसे भी इस भेद-प्रवृत्तिको सम्पूर्ण-तया विघातक नहीं कह सकते । क्योंकि प्रयत्नरणकी रीति छोड़ देने और भिन्न भिन्न समाजोंके एक हो जानेसे, उनकी स्वतंत्र अवस्थामें उच्छ्रयके

योग्य जो गुण उनमें (समाजोंमें) रहते हैं उनका ह्रास होता जाता है । और उन समाजोंमें एक प्रकारकी शारीरिक एवं मानसिक दुर्बलता आने लगती है । सामाजिक भेदका एक उत्तम उदाहरण हिन्दुओंकी प्राचीन समाज है । इस समाजने भारतीय निर्बंधन और धार्मिक नियमोंके कारण अपनी जातिको शुद्ध बना रखा है इस लिये इसकी बौद्धिक शक्ति भी बनी हुई है । इस विवेचनसे यह सिद्धान्त निकलता है कि कोई भी समाज, रचनाकी दृष्टिसे यदि अविच्छिन्न रहातो उसके नष्ट होनेका भय कभी न ही हो सकता × । यदि अरबोंकी लड़ाईके समय वरायसकी सेनामें शुद्ध रक्तके परिष्करण होते और शैबिआईके युद्धके समान रोमन सेनामें एक जातीय सेना होती तो इन राष्ट्रोंका नाश कभी नहीं होता । और यदि राष्ट्र इतिहाससे नष्ट भी हो जाय तो भी समाज अथवा उसकी संस्कृति कभी नष्ट नहीं हो सकती । चीन देशके उदाहरणसे यह स्पष्ट भाखूम हो जाता है कि उस देशपर अनेक चढ़ाईयाँ होने पर भी उनकी समाज-शुद्धताके कारण ही वहाँकी चीनी समाज अभी तक जीवित है । युद्धके समान यात्रा आपत्तियोंसे समाजका जीवन कभी नष्ट नहीं होता । किंतु समाजकी सूक्ष्मरचनामें अंतर पड़ जानेसे तथा उसकी शुद्धतामें मिश्रण हो जानेसे उसका मरण निश्चित सीखा होता है । समाज अशुद्ध हो जाने पर समझना चाहिये कि उसके अस्तित्वकी एवं उसके साथ साथ समाजके एकत्वकी भी अवधि पूर्ण हो गई

× I can say positively that a people will never die if it remains eternally composed of the same racial elements.

So long as the blood and institution of a nation keep to a sufficient degree the impress of the original that nation exists.

But if like the Greeks and Romans of the latter Empire the people have been absolutely drained of its original blood and the qualities conferred by the blood, then the day of its defeat is the date of "death"

और उसके स्थान पर विसृष्ट समाज उत्पन्न हुई । इस लिये जगतके आरंभसे यही सिद्धान्त अनुभवमें आ रहा है कि जगतमें विषमताका होना अनिवार्य है ।

इस कहनेपर यह आक्षेप होनेकी संभावना है कि ऊपर कहे अनुसार समाजोंके परस्पर मिश्र होने पर भी सुधारणाके मार्गमें जाते समय उनके भेदभाव धीरे धीरे नष्ट होना और उनमें सादृश्य उत्पन्न होना आवश्यक है । किसी खेड़ेसे जब चढ़ाके बहुतसे छोर्गोंको दूसरे गोंध्र जाना होता है, तब कोई गांधी, कोई घोड़ा, कोई ऊट, कोई पैदल आदि मिश्र मिश्र सवारियोंसे जाता है और फिर रेलवेमें चढ़ने पर सब समान हो जाते हैं । इसी प्रकार सुधारणाके मार्गमें सबको समान होना उचित है । सुधारणाके तत्त्व और मार्ग समान होनेके कारण ये प्रगमनशील समाजोंको भी समान कर लेंगे । परंतु यह कल्पना ज्ञानपूर्ण है । क्योंकि प्रत्येक समाजकी सुधारणाके मार्गमें उसके मूल गुण धर्मांशुसार ही प्रगति होती है । इस लिये सुधारणाके मार्गमें भी उनमें समानता उत्पन्न नहीं होती । समांतर पदियोंपरसे जानेवाली दो ट्रेनें कभी कभी थिलकुक पास आई हुई दिखती हैं परंतु उनमें भिन्नताही रहती है इसी प्रकार समाजमें भी भिन्नता ही रहेगी, इतिहासके सिद्धान्तोंका भी यही कहना है । इतिहासके इस संबंधमें कुछ उदाहरण देकर इस विधानकी यहाँ परीक्षा करना उचित होगा ।

युद्धके समय ईरान और ग्रीस, ग्रीस और रोम, रोम और इजिप्त, अरब और अबाधीन यूरोप आदि मिश्र मिश्र देशोंकी संस्कृतिका परस्पर संसर्ग होने पर अपनेको क्या बात दिखलाई पड़ती है ? । देशोंकी उक्त जोड़ियोंमेंसे पहिली जोड़ीकी यहाँ परीक्षा करें । ग्रीस और ईरान देशोंके इतिहास देखनेसे विदित होगा कि ग्रीस देशके कितनेही समृद्ध और स्वतंत्र प्रान्त, ईरान देशके पश्चिमामाहुर और सीरिया इन दो प्रदेशोंके अत्यंत समीप थे । ईराक देशसे इन प्रान्तोंका व्यापार, प्रवास आदि कारणोंसे संबंध भी अत्यंत निकट था । परंतु तो भी इन दोनोंकी संस्कृति कभी एक धर्मीय जगवा एक प्राण नहीं हुई । दोनों देशोंके राजकार्योंका स्वरूप सर्वथा भिन्न था । ईरानकी राजपद्धति, राजसत्ताक, युकतंग्री और बंशापरंपरागत थी और ग्रीसके स्पार्टामें वह मर्यादित राजसत्ताक थी । अथेन्समें प्रजासत्ताक थी, सिसिर्जोनमें अमिजनसत्ताक थी और मेसिओनियामें शुभनी राजपद्धति थी । पर्शियामें सार्वदेशीय धर्मपद्धति देकेअर-

बादकी थी । परंतु प्रीसमें सृष्टिके मित्र मित्र रूपोंको ही विभूति मानकर उनमें एक प्रकारके ग्रेड ग्रेजीके मातृवीय पराक्रम और तेजकी कल्पनाकी जाती थी और इस प्रकार पर्यायांतरसे मातृवीय महत्ताकी पूजा पद्धति प्रचारमें थी । धर्मसंबंधी सब बातें रामदासमने उद्धरा दीं थीं और उस सुताधिक विहित सत्य और स्थान पर आवश्यक विधि कर लेनेसे धर्म कृत्योंका संपादन करना मान लिया जाता था । वहाँ धर्ममें श्रद्धा और भक्तिही आवश्यकता नहीं समझते थे । आचार विचार भी दोनोंके मित्र मित्र थे । और एक देशके द्वारा दूसरे देशके आचार विचार भयवा पहिराव जोदावका अनुकरण होनेपर वह उसका छहोरपनका छक्षण माना जाता था ।

सिकंदर वाइसाहके आगमनसे माछूम पड़ा कि इस स्थितिमें अवश्य कान्ति होगी । उसके द्वारा एक रात्रिमें पर्सियाकी मूर्तियां तथा अन्य स्मरणीय वस्तुओंका नाश और प्रीसके आचार विचारोंको पर्सिया पर छा देनेका उसका लक्ष्य देखकर यह भास होता था कि पर्सियाका सत्य प्रीसके सत्यमें मिल जायगा । परंतु स्वयं सिकंदरकी हुरत ही अपना मार्ग बदलनेकी बुद्धि हुई । और यह स्वयं पर्सिया देशकी संस्कृतिका अनुकरण करनेको तैयार हुआ । शारीरमें लंबा अंगरत्ना शिर पर कैदा और ब्रासपास खोजाओंका परिवार रखकर माछूम हुआ कि सिकंदर अपनी मातृभूमिकी वृषकमातृदेशकी दासी बनना चाहता है परंतु सिकंदरके साथियोंको यह बात पसंद न होनेके कारण सिकंदरको अपना यह नवीन ढंग भी बदलना पड़ा और अंतमें एक आधुनिक वाक्यात्म कथिका यह कथन सत्य उद्धरा कि *East is East and West is West, and the twain shall never meet* अर्थात् पूर्व पूर्व रहेगा और पश्चिम, पश्चिम । इन दोनों देशोंका पूर्ण मिलाप होना असाध्य है ।

यही स्थिति हमने देशोंकी भी हुई । इस संबंधमें एक और नवीन उदाहरण पर विचार करें । अरब लोगोंकी संस्कृति और यूरोपियन अर्वाचीन संस्कृतिका झगड़ा यूरोपमें हुआ । महम्मदने नवीन धर्म स्थापित कर जो लोग मुसलमान बनाने उनके राष्ट्रीकी संस्कृति एक जातीय नहीं है । मूल केन्द्र अरब लोग हैं । महम्मदके लड़ाऊ धर्मका उन लोगोंमें नवीन चैतन्य आनेके कारण उन लोगोंकी सब प्रकारके उन्नति हुई और युद्ध, धार्मिक, निस्वशास्य, कल्प आदि सब गुणोंमें उन्होंने अपनी प्रगति की । प्रगतिके साथ

इन्होंने दिग्विजय करना भी प्रारंभ कर दिया था । जिसके फलसे यूरोपिस और टायग्रीस नदीसे लेकर पश्चिमकी ह्वाइन नदी पर्यंत उन्होंने अपना शासन जमा लिया था । दिग्विजयके इस पूरेके एक जाने पर और उसकी प्रतिक्रियाका प्रारंभ होनेके पहिले कुछ घातादिद्वयोंतक यूरोपियन और अरियन संस्कृतियोंका सहवास रहा । अर्वाँलोगो द्वारा स्थापित कौंटोंवाके विद्यालयमें उस समयके यूरोपियन अपने बालकोंको पढ़ानेके लिये सैकड़ों वर्षोंतक भेजते रहे । तो भी इन दोनोंकी संस्कृतिमें रच मात्र भी सादृश्य नहीं दिखाई पड़ता । अरियन लोगोंकी एक सत्तात्मक राज्यपद्धति, राज्य-रक्षाकी अपेक्षा युद्ध कलाकी कुशलता, अनेक विवाह करनेकी रीति, पुत्रोंकी अपेक्षा स्त्रियोंकी हीन समझनेवाली कुटुम्बपद्धति, अरियन संस्कृतिके मरूने हैं । यूरोपियन संस्कृति इससे सर्वथा विरुद्ध है । वहाँ लोकसत्ताक राज्यपद्धति, राज्य संरक्षणमें कौशल्य, एक विवाह पद्धति और स्त्रियोंको सम्मान देनेकी रीति है । वही अंतर इन दोनोंके साहित्य, आचारविचार आदिमें भी दिखाई पड़ता है । सारांश यह है कि इन सब उदाहरणोंसे पही निष्पन्न होता है कि मानव समाजोंमें गुणधर्मकी विविधताके कारण जो उचकी संस्कृति और सामाजिक संस्थाकी निश्चिता अनुभवमें आती है वह सिद्धान्त रूप ही है ।

जिस प्रकार प्रत्येक समाज एक दूसरेसे भिन्न होते हैं उसी प्रकार उस समाजके अंतर विभाग भी कार्य दृष्टिसे परस्पर भिन्न होते हैं । बहुत समयसे किये हुए एकही प्रकारके उद्योगोंके कारण, आनुवंशिक संस्कारोंके कारण तथा बुद्धि विषयक योग्यायोग्यताके कारण समाजके सब लोग सब धँदे करनेमें समान योग्य नहीं होते । उपन्यासकी घटनाओंके समान जगतमें कोई भी बात असम्भव नहीं है इस सिद्धान्तके अनुसार यदि यह मान भी लें कि प्रत्येक मनुष्यके लिये प्रत्येक बात एकही समयमें सम्भव है तो भी व्यवहारमें यह अनुभवमें नहीं आता और इस कारणसे मनुष्य समाजमें साहजिक रीत्या भेद हो जाता है और इस लिये वे भेद, कितनी ही समाजोंमें जन्मसे कितनी ही समाजोंमें कर्म और गुणसे तथा कितनीही समाजोंमें सांघिक स्थितिसे उत्पन्न हो जाते हैं । कुछ समाजोंमें ऐसी भी है जिनमें भेद होने पर भी बाधा दृष्टिसे वे उसे स्वीकार नहीं करती अर्थात् ऐसी कोई समाज नहीं है जिसमें भेदोपभेद न हों । गिडिंजनामक समाज शास्त्रज्ञके समाज घटनाकी चार अवस्थाएँ बतलाई हैं वह कहता है । कि, "पहिलेही जंगलमें रहने-

वाले जंगली जोगोंम एकीकरणकी हृत्ता होती है । फिर हम जनसमुदायकी अनेक व्यक्तियोंमें मिक कर किसी भी प्रकारकी चर्चा करनेकी बुझि होती है यह दूसरी अवस्था है । फिर उस चर्चाके कारण संघटित वृत्ति होती है जिससे देका गौच आदि संस्थाएं निर्माण होती हैं और समाज अपना उद्योग प्रारंभ करती है यह घटनात्मक तीसरी अवस्था है । हमने बाद प्रत्येक व्यक्ति अथवा व्यक्तिसमुदायके गुण एक दूसरेके प्रत्ययमें आ जानेपर उनके गुणकर्म अथवा श्रमविभागके तत्वोंपर संघ बनते हैं यह अवस्था चौथी दशा है । ” हमी संवन्धमें गिबिन्स साहबने भागे कहा है कि “ धर्मके कारण जो स्वतंत्र संघ बनते हैं वे ही कालांतरमें जातियोंके रूपमें परिणत हो जाते हैं ब्राह्मण अथवा पुरोहित, राजकर्ता अथवा क्षत्रिय, व्यापारी अथवा वैश्य और मजदूर अथवा शूद्र, समाजकी परिणत स्थितिमें मिश्र नहीं होते और हम थिये यदि कोई इनके मिश्रणका प्रयत्न करेगा तो उसे अपयशही प्राप्त होगा ” ।

इस कथनको पढ़ते ही हिन्दुस्थानकी धार्मिकसंस्कृतिकी चालू वर्ण पद्धतिका स्मरण हो जाता है । अतएव इस वर्ण पद्धतिके इतिहासका भारतीय धर्मोंके आरम्भकालसे अवलोकन कर, गतप्रकरणमें सुधारणाशास्त्रका जो व्यक्तिगत स्वातन्त्र्यरूप मुख्य लक्षण माना है उसके द्वारा इस पद्धति पर विचार करना और फिर अपना सिद्धान्त निश्चित करना उचित होगा ।

चिकित्सक पद्धतिके द्वारा किये हुए क्लोर्बोंपरसे प्राचीन धर्म संस्कृतिके साथ वाक्याय-वेद-का काल इसवी सनसे चार पांच हजार वर्ष पहिले माना जाता है । यह सिद्धान्त अब यूरोपियन और अमेरिकन पाठियोंको भी मान्य हो गया है । वर्तमानमें जो इतिहास उपलब्ध हुआ है उस परसे कोई देश इस कालके पहिले सुचरी हुई वस्त्रांमं या यह सिद्ध नहीं होता । इस वेदका-

• Segregations due to vocation become definite class distinctions. The priestly, the ruling, the merchant, the artisan and the labouring classes do not become blended, as societies grow older They become more sharply defined any social reform that hopes for the interblending of classes is foredoomed to failure

—Giddings.

कीन स्थितिको करीब करीब छह सात हजार वर्ष हुए हैं। कल्पनामें भी कठिनतासे जानेवाले इस दीर्घकालसे यहाँकी समाज पद्धति किस तत्पर चलती आ रही है और इसका किस प्रकार स्थित्यंतर होता रहा है इसका विचार उच्चकाळीन साहित्यके द्वारा यहाँ करना उचित होगा ।

वैदिक साहित्यमें ऋग्वेद सबसे प्राचीन है । इस ऋग्वेदके पुरुष सूक्तमें जातिभेदका पता मिलता है । यह सूक्त ऋग्वेद रचनाकी दृष्टिसे प्राचीन है अथवा अर्वाचीन इसके संबंधमें पंडितोंमें मतभेद है । मैक्सम्यूलर, कोल्ब्रुक वगैरहके मतसे यह सूक्त (तुलनात्मक दृष्टिसे देवनेपर) ऋग्वेदके बादका है । और डा. हाग आदि विद्वान् इसे प्राचीन मानते हैं । कुछ भी हो, है यह ऋग्वेदकालका । और इसमें किसीका भी मतभेद नहीं है । चातुर्वर्ण्यका सबसे पहला उल्लेख, इसीमें है और वह इस प्रकार है ।

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ।

सुखं किमस्य कौ वाहू कावूरू पादाङ्घ्र्येते ॥

जिस समय विराट् पुरुषके विभाग किये गये उस समय उसके मुख, हाथ पाँव कौन कौनसे हैं, यह प्रश्नात्मक उपन्यास करके आगेकी ऋषीमें उसका उत्तर इस प्रकार दिया गया है कि:—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् वाहू राजन्यः कृतः

ऊरू तदस्य यष्टैश्चः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ॥

अर्थात् उसके (विराट्पुरुषके) ब्राह्मण मुख थे । क्षत्रिय हाथ थे । वैश्य जात्र थे और शूद्र पाँव थे । इस प्रकार इसमें समाजके चार विभाग स्पष्ट रीतिसे किये गये हैं । कालानुक्रमसे इस सूक्तके बाद जो शतपथ ब्राह्मण, सैत्तिरीय ब्राह्मण, वाजसनेयसहिता आदि साहित्य रचा गया है उसमें भी विभागोंका स्पष्ट वर्णन है ।

शतपथ ब्राह्मणमें प्रजापतिके द्वारा पृथ्वी, अंतरीक्ष, आकाश आदिकी उत्पत्ति होनेके वर्णन के बाद मानव उत्पत्तिके संबंधमें लिखा है कि:—

भूरिति वै प्रजापतिर्ब्रह्म भजनयत ।

भुव इति क्षत्रं । स्वरिति विशाम् ॥

इसके बाद सैत्तिरीय ब्राह्मणमें लिखा है कि ऋग्वेदो जातं वैश्यं वर्णमाहुः । यजुर्वेदं क्षत्रियस्माहुर्षानिम् । सामवेदो ब्राह्मणानाम् प्रसूतिः । पूर्वपूर्वैर्म्यो

वाचा पसदाहुः । अर्थात् अग्नेदत्ते वैश्ववर्णं यजुर्वेदसे क्षत्रिय वर्णं और साम-वेदसे ब्राह्मण वर्णं उत्पन्न हुआ । ऐसी पूर्वाचार्योंकी कथन परंपरा है । इसमें केवल आर्यवर्णत्रयीकाही उल्लेख है ।

इसके पश्चात् वाचसनेयी संहितामें सृष्टिकी उत्पत्तिका प्रकरण दिया गया है । और उसमें लिखा है कि क्रमक्रमसे चारों वर्णोंकी उत्पत्ति हुई ।

फिर उपनिषद्वाक्योंके सहृदारण्यकमें भी यह भेद इस प्रकार कहा गया है कि:-
 अथा वै इवम् अग्ने आसीत् एकम् एव । तदेकं सप्तव्यमपत् । सप्तमेयोर्कर्म अत्यसुमत् क्षत्रं । यानि पृथानि देवमा क्षत्राणि ईन्द्रोवक्ष्य इत्यादीनि ।...स व एव व्यमवत् । स विशां असुमत् । यानि पृथानि देवमातायि जनासः आत्-
 व्यायन्ते । वसवाः सद्वा इत्यादवाः । स न व्यमवत् । स शौरं कर्म अत्यसुमत् । पूयामत् । इव वै पूया । इदं सर्वं पुण्यति यदिदं किंच ।

इस कथनसे साधारणतया प्रत्येक वर्णके गुणकी कल्पना होती है इसमें वेदोंमें पराक्रमी भावे हुये ईन्द्रवक्ष्य आदि देवोंका वर्ण क्षत्रिय कहा गया है । उनसे कम दर्जके वसु आदि देवोंका वर्ण वैश्य माना है । और पृथ्वीके द्वारा भरण पोषण करनेवाले अथवा कृषिकर्मवालोंका वर्ण शूद्र कहा गया है । अर्थात् गुणकर्म विभागपर अवलंबित चातुर्वर्णोंकी उत्पत्तिका उल्लेख इस कथनमें है ।

इस प्रकार सृष्टिकालका संक्षिप्त अवलोकन करनेके बाद सृष्टिकालमें यह पद्धति किस अवस्थामें थी यह जाननेकी आवश्यकता है । मनुस्मृतिकमें कहा है कि ।

सर्वस्यास्य तु सर्गस्य शुत्पथं स महासृतिः

मुखवाहुरुपज्जानां पृथक्कर्माप्यकल्पयत् ।

अर्थात् सर्व सृष्टिके कल्पनाके लिये निम्न निम्न कर्माचरण करनेवाले चार वर्णोंकी उत्पत्ति की । । इसके बाद समाजकी इस पद्धतिमें साथ, राजस् और तमस् इन तीन गुणोंकी घटनी किस प्रकार हुई इसका वर्णन करते हुए लिखा है कि सत्य गुणसे ब्राह्मण होता है । रजोगुणसे क्षत्रिय और वैश्य होते हैं तथा तमोगुणसे शूद्र होते हैं । प्राज्ञवत्त्व सृष्टिकमें भी यही कहा है कि:-

छीकानातु विवृद्धयर्थं, मुखवाहुरुपादतः

ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवतैयत् ॥

स्पृति ग्रंथोंके बादके महाभारतादि ग्रंथोंमें इस पद्धतिपर बहुत जोर दिया गया है और इसका सर्वांगोपांग वर्णन किया है । इन ग्रंथोंके बादके पुराण कालमें तो इस पद्धतिको धर्मकी जड़ ही मानली है । महाभारतकालकी भगवद्गीतामें इस पद्धतिका तत्त्वविवेचन विद्याद रीतिसे किया गया है ।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं, गुणकर्मविभागशः

अर्थात् मैंने गुणकर्मके विभागसे चातुर्वर्ण्यकी रचना की है ” इस प्रकार विनूतिमहत्त्वके अधिकारकी वाणीसे श्रीकृष्णने कह कर इस पद्धतिको डेट मानवजातिकी उत्पत्ति तक पहुँचा दिया है । साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया है कि इस पद्धतिके तत्त्व, मनुष्य जातिके गुणकर्म द्वारा होनेवाले स्वभाविक विभागपर अवलंबित हैं । भगवद्गीताके अठारहवें अध्यायमें इसी कथनकी पुनराक्ति की गई है

**ब्राह्मणक्षत्रियविशां, शूद्राणां च परंतपः
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ।**

अर्थात् इस श्लोकमें यह प्रकट कर कि स्वभाव और आचरणके तत्त्वपर चातुर्वर्ण्यकर्मके विभाग किये गये हैं यह सिद्ध किया है कि केवल जन्मपर ही जाति अवलंबित नहीं है । प्रसंग विशेषपर दूसरे वर्णवाला भी ब्राह्मणोका गुरु हो सकता था । यह उस समयकी चातुर्वर्ण्यकी स्थिति स्थापकताका चिन्ह है । कोपीतकी ब्राह्मण उपनिषदमें गार्ग्यवालाकी की कथा दी गई है । उसमें बतलाया है अपने ज्ञानका अभिमान करनेवाले गार्ग्यवालाकी को काश्यप अज्ञातवाहुनामक राजाने अपनी श्रेष्ठ विद्याके प्रभावसे विवादमें हराया और अंतमें उसे उपदेश दिया उस समय गार्ग्यवालाकीने कहा था कि —अज्ञातशत्रो प्रतिश्लोभरूपम् एव तन्मन्ये यत्क्षत्रियो ब्राह्मणास्त् उपनयन्ते । अर्थात् ब्राह्मणका क्षत्रियसे उपदेश ग्रहण करनेका यह उच्छास भाव मैं स्वीकार करता हूँ । दूसरी एक कथा शतपथ ब्राह्मणमें है कि श्वेतकेतु आरुणेव नामक एक ब्राह्मणुनाम एकवार प्रबाहन जैवालि राजाके दरबारमें आया । राजाने उससे तत्त्वज्ञानसंबंधी कुछ प्रश्न पूछे । जब उन प्रश्नोंका उत्तर वह न दे सका तब अपने पिता गौतमके पास गया और उनसे यह सब बात कही । यह सुनकर गौतम दुरंत राजाके पास गया और उसकी विद्वत्ता देखकर गौतमने दुरंत राजाको अपना गुरु बनालिया । और उससे उपदेश लिया । इस प्रकार

उत्पत्तिकालमें इस पद्धतिके गुणकर्मपर अचलवित्त होनेके और अनुप्यके गुण-
कर्मानुसार वर्णांतरित होनेके प्रमाण मिलते हैं । इनके सिवाय और भी बहुत-
से प्रमाण साहित्यमें जगह व जगह मिलते हैं ।

वाल्मके उल्लेख किया है कि वेदकालमें क्रूरवंशी राजा देवापिने ब्राह्मणत्व
स्वीकार कर एक बड़ा भारी यज्ञ किया जिसके फलसे वर्णों हुई । पुरेव
ब्राह्मणमें भी ऐसा ही एक उल्लेख है कि एक समय ऋषिगण सरस्वती नदीके
तीरपर बज्रकर रहे थे । वहां कचप देख्य नामक अमात्यण आया । उसका
संसर्ग न होने देनेके लिये ऋषिने उसे नदीके रेतीले प्रदेशमें भगा दिया ।
वहीं उसने कुछ सूखे द्वारा सरस्वतीकी उपासना की अतः वह भी मंत्ररक्षा-
ऋषि हो गया । सरस्वती उसके पास बौद्धी हुई आई और उसकी इच्छा
पूरी की । इसके सिवाय विश्वामित्रजी कथा सर्व विहित ही है कि उन्होंने
अनेक वर्षोंतक मोर तपश्चर्याकर ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था, तथा बाल्मिकीकोहीका
तपश्चर्या द्वारा चारमीकि ऋषि होनेकी साक्षी रामायण दे रही है ।

इन उदाहरणोंके सिवाय “ ब्राह्मण्यप्राप्त्यै हीयते ” अर्थात् हीन प्रकारके-
कार्य करनेसे ब्राह्मण ब्राह्मणत्वसे व्युत्पन्न हो जाता है ” यह आशय भी मिलता ही है ।

ऐतिहासिक दृष्टिसे इस वर्ण व्यवस्थामें एक महत्त्वकी बात और ठिकलाई
पड़ती है । चार वर्णोंमें तीन वर्णोंकी द्विज संज्ञा है । तिनका उपनयन संस्कार
होता है, और इस कारणसे जिन्हें वैदिक कर्म करनेका अधिकार है उन्हें द्विज
कहते हैं । इस परसे सिद्ध होता है कि कर्मके कारण तीन विभाग होनेपर
भी तीनमें एकत्वसा है । इसी मतको पुष्ट करनेवाला एक दूसरा लक्षण
यह है कि इन वर्णोंमें परस्पर विवाह होते थे । प्राचीन कालमें अनुजोम,
अर्थात् श्रेष्ठवर्णवालोंका कनिष्ठ वर्णकी कन्याके साथ विवाह करना एक सर्व
मावतण नियम था । कभी कभी अपवादरूपक रीतिसे प्रसिद्धोम विवाह भी हो
जाया करते थे । यथापि नामक क्षत्रिय राजाने शुक्राचार्य नामक ब्राह्मणगुरुकी
कन्या क्षत्रियके नाथ विवाह किया था । इस प्रकार इस वर्णव्यवस्थामें एकत्वसा
थी । इन परसे यह भी स्पष्ट होता है कि हिन्दुस्थानमें आने हुये मूल आर्य
पुराणोंके उद्योगपररक्षणे कारण से विभाग पड़े थे । यज्ञोंकी स्थिति इससे उल्टी
थी । अर्थात् आर्योंके यहां आनेपर वहाँके मूल निवासी अमात्र्योंको उन्होंने
जीसा और उर्द ही अन्न माना तथा द्विजकी कोटिमें उन्हें बाहर रखा ।

इस सम्पूर्ण वर्णनसे यही सार निकलता है कि यह चातुर्वर्ण्यकी पद्धति भार्य संस्कृतिके आरम्भ कालसे ही चाहू है, परन्तु उस समय इसमें इतनी दृढता न होकर केवल भ्रमिस्ति स्थापकताही थी । डाक्टर हॉंग नामक जर्मन पंडितका भी यही मत है । वह कहता है कि " कई लोगोंका कहना है कि जातिभेद पद्धति वेदोके प्राचीन सूक्तोंमें नहीं है । परंतु यह भ्रम है । अंतर केवल इतना ही है कि स्मृति ग्रंथोंमें उसका जो दृढ स्वरूप दिखलाई देता है वह वैशकालमें नहीं था । और न उस समयके साक्ष्यधन अनुल्लभनीय थे । "

चातुर्वर्ण्यके कर्मोंका विभाग भगवद्गीता आदि ग्रंथोंमें विहाद रीतिसे किया गया है । उसमें और इस प्रकरणके आरम्भमें समाज शास्त्रके प्रसिद्ध विद्वान् कोटके मतानुसार किये हुये समाजके विभाग और उनके कार्योंमें आश्रय जनक समानता दिखलाई पडती है ।

भारतकी वर्णपद्धतिका इतिहास उक्त प्रकार है । दूसरे देशोंमें भी इस पद्धतिका किसी न किसी रूपमें अस्तित्व अवश्य था और रोटीवेटी व्यवहार जो इसके स्पष्ट लक्षण है वे भी थे । आधुनिक विद्वान् डॉ. भांडारकर कहते हैं कि " रोमन साम्राज्यके समयमें पेंटेथियन और प्लेथियन नामक समाजोंमें परस्पर विवाह नहीं होते थे । इन्ही प्रकार विवाह और सहभोजनके संबंध ग्रीक, जर्मन और रशियन लोगोंमें भी नहीं थे । परंतु कालांतरमें यह बात दूसरे देशोंमें तो भट हो गई केवल हिन्दुस्थानमें बढ़ गई । भारतनिवासी इस पद्धतिके मूलतत्त्वको भूल गये हैं और वह केवल उपचार मात्र बची हुई है । "

* It has been asserted that the original parts of the Veda do not know the system of castes But this conclusion was prematurely arrived at without sufficiently weighing the evidence It is true it was not to be found in the later developed state..... But nevertheless the system is already known in the earlier parts of the Veda...the barriers only were not so insurmountable as in later times.

Dr Hang's Essay on the origin of Brahmanism

× Dr. Bhandarkar's Presidential address at a meeting of the Aryan Brotherhood Conference.

जगत्के दूसरे किसी भी समाजमें वर्ण व्यवस्थाकी पद्धति भारतके तत्त्वोंके अनुसार नहीं रची गयी। इस लिये इस पद्धतिके उद्गमके सम्बन्धमें चिकित्सा करनेकी इच्छा समाजशास्त्रके विद्वानोंमें और भिन्नका इस पद्धतिले नित्यका परिचय है उन्हें छोड़कर मिन्हें इसका परिचय नहीं है उनमें हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इस लिये मिश्र मिश्र परवैशी विद्वानोंने इस पद्धतिके उद्गम और प्रसारके सर्वधर्म अनेक उपपत्तियाँ निकाली हैं।

इस पद्धतिके अभ्ययन और विवेचनके लिये यूरोपियन लोगोंका एक वर्ग ऐसा निकला था जो वर्ण व्यवस्थाको केवल बहमासी और फँसानेवाली समझता था। इस वर्गका कहना था कि ब्राह्मण लोगोंने अपना बर्चस्व बन्दे रखनेके लिये यह धात फँकाया है। किसी भी बातका पूर्ण विचार न कर और उसकी परिस्थितिका सूक्ष्मावलोकन न कर जो बात अपनेको माहूम न हो अथवा ग्रहण करनेमें न था सकती हो तो उसे असत्य कह देनेवाले लोगोंके वर्गमेंसे ही उक्त लोगोंके होनेके कारण इनके मतका कुछ बहुत मूल्य नहीं है। यह बात अस्मभवनीय है कि ब्राह्मणोंके हठारों वपोंसे फँसाने पर भी उनही चाहाकी लोगोंके ध्यानमें न आवे अथवा आज्ञा पर भी वे उसका प्रतीकार न करें। इसके सिवाय वर्ण व्यवस्थाके पूर्वतिहास, उसकी वृद्धिके कारण आदि बातोंका शास्त्रीय पद्धतिले इन लोगोंने विचार नहीं किया है अतएव उनका मत उपेक्षणीय है।

इस उपपत्तिके बाद नेसकीरुने एक उपपत्ति निकाली है। इसका मत है कि आर्य लोग जब भारतमें आये तब उनमें वर्ण व्यवस्था बिल्कुल नहीं थी। पुरपसूक्त पीछेसे मिलाया हुआ है। आर्य लोगोंके यहाँ जानेपर उनका और मूलनिवासियोंका क्रम क्रमसे शरीर संबंध होने लगा जिससे शीघ्रही आर्य और अनार्यका भेद नष्ट हो गया और फिर वर्णोंकी श्रेष्ठता, कनिष्ठताका प्रभेद ही नहीं रहा। यहकि जातिभेदका संबंध वर्ण व्यवस्थासे न होकर कर्म और धर्मसे है। और न इसके सिवाय इस पद्धतिको दूसरा आधारही है। बहती हुई लोक संख्या, नवीन अधिकृत किये हुये प्रदेश, चर्चमि विशेष कौशल्यकी

* Function and function alone, as I think, was the foundation upon which the whole Caste-system of India was built up

आवश्यकता जादि कारणोंसे प्रमत्तः प्रत्येक धर्मवालोंके समूह बनने लगे और वे समूहही जाति बन गये । फिर काळांतरमें ये जातियाँ हट हो गई और आपसमें संबंध करना बंद हो गया । उक्त विद्वानने इसके अनेक उदाहरण दिये हैं । वह कहता है कि तेली, कोली, चम्हार, गहीर, कुम्हार, सुनार, गढ़रिया, डोम जादि जातियाँ धर्मोंपर से ही बनी हैं । इस लिये जातिभेदका मुख्य तत्व धर्म है ।

दूसरे लोगोका इस पर यह आक्षेप है कि यदि यह तत्व ठीक है तो यह जातियाँ हट बंद क्यों और कैसे हुई ? यदि धर्मोंसेही जातियाँ बचती हैं तो युक्त मनुष्यके दूसरी जातिका धर्म करनेपर उस मनुष्यको उस जातिमें क्यों नहीं प्रविष्ट करते । जैसे कि एक भोधी दर्जीका काम करने लगे तो उसे दर्जियोंको अपनेमें प्रविष्ट करना चाहिये पर वे नहीं करते इसका कारण क्या है ? और फिर इन जातियोंमें परस्पर विवाह करनेका प्रतिबंध होनेकी आवश्यकता क्यों हुई ? इस प्रश्नका उत्तर मैलफील्ड भी यही देता है कि यह सब 'प्राणियोंकी करनी' का फल है । प्राणियोंने अपने श्रेष्ठत्वको बनाये रखनेके लिये इस प्रकारके विबंध किये । और फिर बादमें दूसरोंने उनका अनुसरण किया । सर हरबर्ट रिस्केके मतानुसार यह कहना विशुद्ध असमाधान कारक है । रिस्के कहते हैं कि जिस प्रकार ईगिस प्रवेशका ज्ञान न होनेपर भी अठारहवीं शताब्दिमें लोगोंने उनके धार्मिक साहित्यके संबंधमें यह अभिप्राय प्रकटन के बाका था कि "बह (साहित्य) केवल इन्डिक्विपन पुरोहितोंका उत्पन्न किया हुआ कपोल कल्पित साध है उसी प्रकार मैलफील्डका भी उक्त मत है । जो चम्हारे, डोम, तेली जादि जातियोंकी उत्पत्तिके तत्वके अनुसारही कायस्थ, खत्री जादि जातियोंकी उत्पत्ति समझते हैं उन्हें अपनी बहुतासा ज्ञान संपादन करना चाहिये ।"

भारतीय जातिभेदके संबंधमें दूसरी एक कल्पना सर डेंड्रिक इवेटसनने की है । इनका मत है कि जगतकी अन्य सब समाजोंके समान धर्म लोगोंने भी विशिष्ट धर्म बने । उसके बाद धर्मोंके कारण उनमें अधिक विभाग होकर दूसरी व्यवस्था हुई फिर इन विभागोंकी आनुवंशिकताके कारण उन्हें दृढता प्राप्त हुई । इस दृढताकी स्थायी बनावके कर्तव्यमें उपाज्याय जबदा प्राणोंने धर्म संबंधोंसे सहायता दी । अंतमें उक्त मार्गसे बनी हुई समाजपद्धतियों उक्त नीच भाग हुये और जाति विशिष्ट अभिमानके कारण

प्रकार एक जासिका दूसरी जातिले बेटी व्यवहार नहीं होता उसी प्रकार वेनीसिय-नीजके समयमें रोमन अधीनियन लोगोंमें गीच वर्ग (प्लेबियन) के लोगोंकी इच्छा पैट्रिशियन (उच्चवर्ग के) लोगोंके साथ विवाह संबंध करनेकी होती थी उसे रोकनेके लिये कानून बनाया गया था । यज्ञ धागादिमें किस प्रकार हिन्दुस्थानमें छद्मोंको रोकते है उसी प्रकार रोमन लोग भी यज्ञके समय प्लेनियनलोगोंको नहीं आने देते थे । देवताओंको अर्घ्य प्रदान करना, आन्ध विधि करना, जातिके कथने सोइनेवालोंको जातिले बाहिर निकालना जादि भारतकी रिवाजोंसे मिलती जुळती रोमन लोगोंमें रिवाजे थी । वहाँ भी उपाध्याय वगैरि देवताको अर्घ्य चढ़ाता था । और केरिस्टिया नामक जातिभोजनमें जातीय कथने सोइनेवाले शामिल नहीं किये जाते थे । हिन्दुस्थानकी जातीय पंचायतियोंके समान रोमन लोगोंमें भी पादियों पोटेस्तास की पद्धति थी इसके द्वारा जातिके सब झगड़े निवटारे जाते थे । इन समानताओंसे सेनातन्त्रे यह सिद्ध किया है कि भारतवर्षका जातिभेद आर्य लोगोंकी उन्नतिका स्वाभाविक परिणाम है ।

सेनारतकी इस उपपत्ति पर यह एक महत्व पूर्ण प्रश्न उत्पन्न होता है कि आर्य संस्कृतिके स्वाभाविक परिणामके अनुसार ही अब यूरोपमें भी जातीय भेदका प्रचार था तो वहाँ यह भेद उत्तरोत्तर कम होता गया और उपजातियों मुख्य जातियोंमें मिलती गई परंतु भारतवर्षमें उपभेदोंकी संख्या दिन पर दिन बढ़ती गई तो यह परस्पर विरुद्ध परिणाम क्यों हुआ ? इस प्रश्नकी सीमांसा सेनारतकी उपपत्तिले नहीं होती । अथपि सेनारतकी इस शास्त्रीय उपपत्तिले जाति, बंधा वैशिष्ट्य, देश-भेद अथवा पुरोहितोंकी लुचाईसे जातिभेदकी उत्पत्ति माननेवाली सर्व कल्पनाएँ गूढ हो गई हैं तो भी उक्त प्रश्न इस पद्धतिले हल नहीं होता ।

उपरकी सब उपपत्तियोंका विचार कर सर हर्बर्ट रिस्केने अपना मत निश्चित किया है । इनके मरुसे जाति-भेद संस्थाकी जड़मे दो तत्व हैं । एक परिस्थिति और दूसरी हिन्दुस्थानकी विभिन्न-विचार-पद्धति । रिस्के साहबका कहना है कि इन दोनोंमें पहिला तत्व सम्पूर्ण मानव जातियोंमें पाया जाता है । और दूसरे तत्वका संबंध प्रायः भारतवर्षसे ही है । अगतके इतिहासको देखनेसे सिद्ध होता है कि जब एक मानव-वर्गके लोग चढ़ाई कर या देशविस्तार करनेकी इच्छाके कारण दूसरे देशमें जाते और वहाँके निम्न वर्गके लोगोंसे मिलते

हैं तब यदि वे लोग परस्परमें समान वर्गके होते हैं तो उन दोनोंका परस्पर मिश्रण होकर दोनोंकी एक ही जाति बन जाती है। परंतु यदि विभिन्नजाती लोग और विभिन्न देशके लोग परस्पर भिन्न वर्गके होते हैं और उन विजयी लोगोंमें उनके ही वर्गके लोग उनके मूलस्थानसे आ आकर उनमें बसते जाते हैं तो फिर उनकी सामाजिक उन्नतिका ओष दूसरी ही दिशामें बहने लगता है। और फिर दोनों परस्पर भिन्न वर्गके मिश्रणसे एक तीसरा ही वर्ग उत्पन्न हो जाता है। यह वर्ग मूलके दोनों वर्गोंसे गुण अथवा रूपमें भिन्न होनेके कारण दूसरी जाति भिन्न ही मानी जाती है। इस प्रकार जातियोंकी वृद्धि होती है। हिंदुस्थानके समान दूसरे देशोंमें भी इसी प्रकारके उदाहरण देखनेको मिलते हैं। यूरोपियोंका अमेरिकाके मूल निवासियोंसे संबंध होनेके कारण जो म्यूटेटो, नर्वाइड, अक्टोरुम वगैरह जातियाँ उत्पन्न हुईं वे बिल्कुल भिन्न मानी जाती हैं। इनमें विवाह संबंध बिल्कुल नहीं होता। अमेरिकाके कनाडा देशमें और मैक्सिको देशमें भी यही बात पाई जाती है। इस उपपत्तिके अनुसार हिन्दुस्थानमें आर्योंका प्रवेश होने पर वे ज्यों ज्यों भिन्न भिन्न प्रदेशोंमें फैलते गये त्यों त्यों वहाँके मूल निवासियोंसे उनका संबंध होकर भिन्न भिन्न जातियों निर्माण होती गईं। आये हुये आर्योंके साथ किया कम होनेके कारण तथा उद्योग बंधोंके कारण उनका अपने पहिले निवास स्थानके लोगोंसे संबंध टूट गया और वहाँके मूल निवासीयोंके साथ हो गया। वे जहाँ रहते वहाँ अपने चक्षुष्यका अभिमान रखते थे। इस लिये उन्होंने परस्परमें भी बहुतासी भिन्न भिन्न जातियाँ बना लीं थीं। इस प्रकार ज्यों ज्यों हिन्दुस्थानके दूर दूरके प्रदेशोंमें आर्य लोगोंका प्रवेश हुआ त्यों त्यों वहाँकी परिस्थितिके अनुसार भिन्न भिन्न जातियाँ बन गईं। यह परिणाम ऊपर कहे हुये दो तर्कोंमेंसे पहिले सत्यका है। और यह परिणाम न केवल हिन्दुस्थानमें ही किन्तु सब समाजोंमें एक समान हुआ है।

परन्तु हिन्दुस्थानकी विचारसरणीके कारण वहाँके जातिभेदको एक विशेष प्रकारका स्वरूप प्राप्त हुआ है। आर्योंके वहाँ आनेपर उनकी तत्त्वविषयक विचार सरणीका जिस ओर झुकाव हुआ, उनमें ऐहिक बातोंमें संबंधमें जो एक प्रकारकी उदासीनता उत्पन्न हुई, उस उदासीनताके फलस्वरूप जो व्यवहार पराङ्मुखता एवं दैव पर आभार रखनेकी प्रवृत्तिने उनमें स्थान पाया और पुनर्जन्मका तत्त्व माननेके कारण हीन कुलमें उत्पन्न होना पूर्वजन्मका फल मान कर उनका प्रतीकार करनेकी भिन्न प्रवृत्तिने उनमें जड़ पकड़ी उन सब बातोंका

परिणाम यह हुआ कि हिन्दुस्थानमें जाति-पद्धति अधिक स्थायी हो गई । इस जन्मकी परिस्थिति पूर्वजन्मके कार्योंका फल है और इस जन्ममें जो कर्म किये जायेंगे उनका फल अविद्य जन्ममें मिलेगा तथा उन्हीं पाप-पुण्य-रूप-कर्मके फलानुसार उच्चनीच जातियोंमें उत्पन्न होना पड़ता है, यह नियम माननेके कारण जातियोंका परिवर्तन होना अक्षम्य हो गया और अपनी जातिमें रहकर “ सहजं ब्रह्म यद्विनिर्म्यतम् । न ब्रह्मतत्कर्म विचर्मनीयम्, इस प्रकार कालिदासके शाकुंतल नाटकमें धीवरके कहे अनुसार अपने कर्म करनेमें समाधान माननेकी प्रवृत्ति उत्पन्न हुई । रिस्ले साहबका कहना है कि इस कारणसे पाश्चात्यादि देशोंमें पहिले तत्त्वका जो परिणाम हुआ उसमें और हिन्दुस्थानके परिणाममें भेद पड़ गया । +

समाहरचनाके इस इतिहासके निरीक्षणसे यह निश्चित होता है कि समाजमें उच्चनीच भाव किसी न किसी तत्त्वके आधारपर और किसी न किसी रूपमें रहताही है । पुष्कारणा शास्त्रीकी दृष्टिसे समाजकी किसी भी व्यक्तिकी उन्न-तिमें सामाजिक प्रतिबंध न होकर स्वतंत्रता होना ही उच्चत समाजका लक्षण माना गया है । यह लक्षण ध्यानमें रखनेसे यह निष्कर्ष निकलता है कि जिस समाजकी व्यक्तियाँ अपनी समाजकी पद्धतिके कारण कर्तृत्व-शक्ति-संपन्न होनेपर भी अपनी उन्नति नहीं कर पातीं उस समाजकी पद्धति सद्बोध है । इसके विरुद्ध जिस समाजमें गुण और कर्मसे प्रेम नहीं रहता और इन दोनोंसे हीन व्यक्तियों केवल समानताकी सात्त्विक कल्पनापर गुणकर्म विशिष्ट व्यक्तियोंकी बराबरी करतीं है वह समाज भी प्रगतिके लिये सम्पूर्णतया विघातक है । और संस्कृति तथा व्यवहारके तत्त्वोंके विरुद्ध है । क्रान्तिकेसकी राज्यक्रान्तिके समय इस समाजताके तत्त्वसे जो दुष्परिणाम हुआ वह इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है । इसलिये समाजमें यदि हजारों वर्षोंसे चका भाया हुआ भेद रहेगा ही तो वह भेद मनुष्य-कृतिपर ही होना चाहिये और प्रत्येक व्यक्तिको वैयक्तिक स्वातंत्र्य होना चाहिये । वेणी संहार नाटकमें कहे अनुसार यदि “ दैवायत्तं कृते जन्म ” माना जाता है तो उसके साथ साथ “ मदायत्तं तु पौरुषम् ” भी माना जाना उचित है । तभी कहा जा सकेगा कि समाज संस्कृतिशास्त्रके नियमानुसार चल रहा है और सभी उसकी उन्नति होती रहेगी ।

+ Sir Herbert Risley's " Essay on Caste Tribe and Race " in the Census Report of India 1901.

प्रकरण दूसरा ।

जनता धर्म ।

सुधारणाशास्त्रका यह सिद्धांत निश्चित हो जानेपर कि व्यक्तिको स्वतःकी परिणति करनेमें स्वतंत्रताका होना ही सुधारणा है, यह जाननेकी आवश्यकता होती है कि सुधारणाशास्त्रकी इस गुरुकिछीसे धर्म, समाजरचना और राजकारणादि रूप समाज व्यवहारकी आलमारियोंके ताले किस प्रकार खोले जा सकते हैं ? इनमेंसे समाज-रचनाका विचार गत प्रकरणमें किया जा चुका है । और उस विचारसे यह निश्चित हो चुका है कि मनुष्यप्राणीको परिस्थिति और बोन्यतासे किसी अंशमें जकड़े हुए होनेके कारण समाजमें कुछ समयतक जातिविशिष्ट होकर रहना पड़ता है, परंतु सत्कर्म और सद्गुणोंके द्वारा यह जातिके कबचको तोड़कर बाहिर निकल सकता है और सर्व-स्वतंत्र-स्थिति प्राप्तकर सर्व श्रेष्ठवर्णका हो जाता है । जब धर्मके संबंधमें इसी गुरु किछीका विचार इस परिच्छेदमें करेंगे ।

जगत्का इतना भारी विस्तार देखकर प्रत्येक शास्त्रज्ञके मनमें यही आवे-गा कि इसका वर्गीकरण कर इसकी व्यवस्था की जाय । चिह्नोंके अंशमें हजारों लोग भिन्न भिन्न गांवोंको भेजनेके लिये चिह्नोंका डालते हैं, उन्हें भिन्नान्तर पोस्टके अधिकारी उनका वर्गीकरण करते हैं । एक गांव, एक प्रान्त, एक इलाका और अंतमें एक प्रवेशमें जानेवाली चिह्नोंको न्यारी न्यारी थोकियोंमें अंश कर फिर उन सब थोकियोंको एक देणकी थेलीमें भर देते हैं और इस तरह थेलीमें डाले हुए असंख्य थिलनेवाले पत्रोंका संबंध हो जाता है । इसी प्रकार जगत्में थिलनेवाले असंख्य और अनंत पत्रोंका कार्यकारण भाव मिछानेकी ओर धाराज्ञोकी प्रवृत्ति होती है । रसायन धात्री रासायनिक पदार्थोंकी परीक्षा कर उनमें मिश्रित द्रव्योंका निश्चय करता है । पदार्थ-विज्ञान धात्री पदार्थकी रासिका वर्गीकरण कर उनमें उष्णता, विद्युत् औरह भाव रासियां कितनी है यह निश्चित करता है । इसी प्रकार धर्मशास्त्री जगत्का आधिकारण बूढ़कर उस कारणसे कार्य-रत्न क्या संबंध है ? और यह संबंध किस

प्रकारका होना चाहिये ? इसकी चिकित्सा करता है । यह धर्मका स्पष्ट कार्य कहा जा सकेगा । इसके सूक्ष्म भेद करने पर केवल जगत्के आधिकारणकी चिकित्सा करनेवाला शास्त्र तत्त्वज्ञान, केवल आचरणको प्रधानता देनेवाला भाग आचार शास्त्र आदि अनेक प्रकारके भेद होंगे । परंतु धर्मका सर्व-साधारण लक्षण ऊपर कहे अनुसार यही हो सकेगा, कि जो जगत्के आदि कारण और उससे उत्पन्न होनेवाली सृष्टिके संबंधका नियमन करे । धर्मके इस लक्षणसे प्राचीन पंडितों द्वारा किये हुए धर्मके लक्षण कहाँ तक मिलते हैं इसकी यहाँ तुलना करना उचित होगा ।—

जगत्का मिलना इतिहास उपलब्ध है उसपरसे मान्य होता है कि पहिलेसे इस बातपर विचार होता रहा है कि जगत्का कोई आधिकारण है और उसका सर्व जगत्से संबंध है । इस कार्य-कारण संबंधको धर्म कहना या नहीं, इसकी चिकित्सा भिन्न भिन्न पंडितोंने की है । जर्मन तत्त्ववेत्ता इमॅन्जु-अल कैंटने कहा है कि “ नीतिशास्त्रही धर्म है । परमेश्वरने मनुष्यके व्यवहारके लिये नीतिके नियमोंका जो प्रकीर्णन किया है वही धर्मशास्त्र है ” । कैंटकी इस व्याख्यासे यह सिद्ध होता है कि जगत्का आधिकारण परमेश्वर है वही संपूर्ण नीतिशास्त्रका पर्यायवाचक भी है । और इसीलिये उसकी नीति-सत्त्वकी आज्ञापर मनुष्यका संबंध अवलंबित है । अर्थात् नीतिपूर्ण व्यवहार करना ही परमेश्वरकी आज्ञा पालन करना है अथवा धर्मका आचरण करना है ।

इस व्याख्याके विरुद्ध विरुद्ध व्याख्या कैंटके बाद होनेवाले जर्मन तत्त्व वेत्ता फिल्टेने की है । यह किञ्चित्ता है कि धर्मका और व्यवहार अथवा आचारका कुछ अनेक संबंध नहीं है । आचार अथवा व्यवहारकी सुव्यवस्था करनेका काम नीतिशास्त्रका है धर्मका नियम ज्ञान है । जगत्के आदि कारणका और जगत्के संबंधका ज्ञान ही धर्म है । ”

सात्त्विक कल्पना और व्यवहारके अनुरोधसे की हुई इन दो भिन्न व्याख्याओंके समान दूसरे एक तत्त्वके अनुरोधसे दो भिन्न भिन्न व्याख्याएँ अन्य पंडितोंने और की हैं । उनमें “ क्लायर सेकर ” नामक तत्त्वज्ञने यह व्याख्या की है कि जिसके द्वारा अपना (मनुष्यके) नियमन होता है परन्तु जिसका ग्रहण मनुष्य नहीं कर सकता ऐसे आद्य तत्त्वपर संपूर्णतया अवलंबित रहना ही धर्म है । यह व्याख्या पढ़ने पर भौतिक-शास्त्रके गत प्रकर-

जमें जो ब्रह्मवाक्यक उपनिषदमें ब्राह्मवदन्यकी की हुई आत्माकी व्याख्या प्रमाण दिया है उसका स्मरण हुए बिना नहीं रहता। ब्राह्मवदन्यका भी यही कहना है कि "प्राथिवी मंतरायमपतिर्यं पृथिवीम् वदे।" अर्थात् जो संपूर्ण पृथिवीका अंतरसे नियमन करता है परंतु पृथिवी जिसे नहीं आवती वह आत्मा है। परंतु इस व्याख्यापर प्रतिपक्षियोंका यह आक्षेप है कि यह व्याख्या ठीक नहीं है क्योंकि इसमें परतंत्रताका तत्त्व गमिष्ठ है। उस वस्तुपर जिसके स्वरूपका अपनेको भान न हो सके अवलंबित रहना एक प्रकारसे अपनी स्वतंत्रता भंग करना है। और यदि यही धर्म है तो फिर कृताको सबसे अधिक धर्मात्मा मानना पड़ेगा। इस प्रकारके आक्षेप करनेवालोंका विचित्र द्रुष्य पुरस्कर्ता हेतु है कहना है कि पूर्ण स्वतंत्रताका ही नाम धर्म है। सृष्टिके अपरिमित आद्य तत्त्वका परिमित प्राणियोंके द्वारा व्यक्त होना अर्थात् उनका निज स्वभावाजुसार पूर्ण स्वतंत्र रहना ही धर्म है।

इन दोनों व्याख्याओंमें भी सृष्टिके आद्य तत्त्वको गृहीत किया है। और साथ ही साथ उस आद्यतत्त्वको अक्षेप भी माना है। इस कारण प्रत्यक्ष प्रमाण बाकी उस तत्त्वको नहीं मानते। उनका कहना है कि जिसका आवना कठिन है वह माना कैसे जाय ? इसलिये इन भौतिक शास्त्र-वादियोंके अनुसार मि० केंदने आद्य तत्त्वके स्थानपर मानव समाजकी प्रतिष्ठापना की है। केंदने कहा है कि अच्छे कार्य करना धर्माचरण माना जाता है अतएव व्यावृद्धसे व्यावृद्ध मनुष्योंकी सेवा करना और उपकार करना ही धर्म है। सबसे व्यावृद्ध मनुष्योंकी समाज मानव समाज है। इस समाजको छोड़कर अन्यत्र और अकल्पनीय परमेश्वरकी ओर मुक्तकी आवश्यकता ही क्या है ? फॉयर बेंकने इसके भी विरुद्ध धर्मकी कल्पना की है। केंदने तो ईश्वरको त्यागकर मानव समाजको धर्मका आदिस्थान माना और इस प्रकार वह अथ पतनकी एक सीढ़ी बीचें उतरा, परंतु फॉयर बेंक उससे भी बीचें उतरा है। उसका कहना है कि, धर्माचरण परोपकार आदि सब कल्पनाएँ निजमुक्तके लिये हैं। जिस प्रकार किसी क्षुद्र वस्तुकी प्राप्तिसे क्षुद्र मनुष्यको आनंद होता है उसी प्रकार दूसरे की सहायता करनेसे श्रेष्ठ मनुष्यको आनंद होता है, परंतु दोनोंका साथ निज सुख ही है। अतएव मनुष्यको ऐसा कार्य करना चाहिये जिससे निजमुक्तकी प्राप्ति हो। यही धर्म है। और इसीलिये मनुष्य ही मनुष्यका देव है।

धर्मके संबंधमें ऊपर लिखलाई हुई अनेक कल्पवापुं हैं। इन सबकी अर्द्धमें एक यह बात अवश्य है कि सृष्टिका कोई न कोई आद्यतत्त्व है। उस आद्य-तत्त्वका और सृष्टिका संबंध जानकर उस तत्त्वके अनुसार आचरण करना ही धर्म है। ऊपरकी कल्पनाओंमेंसे यदि फॉयरबैककी कल्पना निकपयोगी समझकर छोड़ दी जाय तो भी कैंटकी व्याख्या अवश्य विचार करने योग्य है क्योंकि उसके अचिंतनीय परमेश्वरकी कल्पनाके स्थानपर सूर्तिमानव मानव समाजकी स्थापना करनेके कारण बहुतसे विचारवान लोगोंमें मतभेद होनेकी संभावना है। समाजरचनाके प्रकरणमें कैंटके मतका प्रतिपादन करते हुए हम बतला चुके हैं कि यह मानव समाजको एक दूसरेसे प्रथम अलंकार मुख्य प्राणियोंका समूह न मानकर एकात्मक चैतन्य रूप ही मानता है। निम्न निम्न कार्य करनेवाली और प्रत्यक्षमें प्रथम दिखनेवाली शक्तियाँ जिस प्रकार एक ही प्राणशक्तिते प्रेरित होती हैं उसी प्रकार मानव समाजकी दशा है, यह मि. कैंटकी कल्पना है। इस प्रकार एक ही चैतन्यसे प्रेरित "अनेक बाह्यदरवर्तनेत्र" अनंत बाह्य, उदर, मुख, नेत्र आदि सहित मानव समाजका विश्वरूप देखकर और उसे ही परमेश्वरके स्थानपर प्रतिष्ठित कर भगवद्गीताके अर्जुनके समान "ततः सविस्मयाविष्टो हृष्टरोमा" हो कैंट विश्वसेवात्मक धर्मका उपदेश देने लगा। उसकी इस विचारसरणीको आधुनिक भौतिक विचारसरणी बहुत अनुकूल हुई। कैंटने सोचा कि मनुष्यने परमेश्वरका आश्रय इसी लिये लिया है कि जिससे वह बुद्धिके अगम्य चमत्कार किसी कर्तृत्वकी कल्पनासे समझ सके। और यह समझ सब अगाह पाई जाती है कि अगम्य वस्तुओंका कर्ता अपने ही समान परंतु अपनेसे भेद कोई न कोई होना चाहिये। अर्थात् सृष्टिके आरंभकालसे ही सृष्टिके जिन जिन चमत्कारोंका प्रस हूँ नहीं होता था उन उन बातोंमें उस समयके लोगोंने परमेश्वरकी कल्पना की। परंतु अब धीरे धीरे भौतिकशास्त्रकी सहायतासे उन चमत्कारोंका रहस्य प्रगट होने लगा है। निरंतर भेदगतिसे चलनेवाली वायुको झंझावातका रूप धारण करते हुए, धाम्य पकानेके लिये तथा उष्णकालका ताप घांत करनेके लिये मोतियोंकी विद्युत्ओंके समान पड़नेवाली अरुणाराको हाथीकी सूँठके समान मूलकधार पृथ्वीपर पड़ते हुए, शीत, गर्मीर और काँचके समान जिसका पृष्ठभाग होता है उस समुद्रकी लहरोंको पर्वतके समान पृथ्वीके प्रलयकालका रूप धारण करते हुए, प्रतिदिन नियमानुकूल

निश्चित रीतिसे प्रकाशित होनेवाले चंद्रमाको किसी पौर्णिमाके दिन (ग्रहणके समय) काका होते हुए और दिके हुए फुलोंके समान तारागणोंसे युक्त आकाशमें एक प्रचंड मच्छीके समान भूजकेतुको उदय होते हुए देखनेसे आकाशज्ञानके अभावमें मनुष्यने परमेश्वरके कर्तृत्वकी कल्पना की होगी । परंतु जब यह ज्ञान हो जाता है कि यह सब सृष्टिके चमत्कारोंके ही नमूने हैं, इसमें ऐसी कोई बात नहीं है जो अगम्य और अतर्क्य हो तथा इनका हाल मानव बुद्धिसे समझा जा सकता है तब उन चमत्कारोंके कारण परमेश्वरकी आति-पूर्ण कल्पनाको कोई आधार नहीं रहता और मानव समाजकी बुद्धि-पर ही आश्रय होने लगता है । जब परमेश्वरके साम्राज्यके एक एक प्रदेशपर मनुष्य इस प्रकार कमसा-अधिकार करने लगेगा तब एक पुरुषपुत्रवत् अथवा कईके शोधके समान परमेश्वरकी कल्पना गढ़ हो जायगी । यह केंद्रका धर्म-विषयका सिद्धांत है ।

केंद्रके इस सिद्धांतके अनुसार अन्तिम दशापर पहुंचनेके पहिले मनुष्यको चार अवस्थाओंमें भ्रमण करना पड़ता है जिनमें पहिली अवस्था चिन्ह पूजा है । ऊपर बतलाये अनुसार सृष्टिके जिन जिन अगम्य रूपोंका मनुष्य आकलन नहीं कर सकता उन्हीं रूपोंको वह देव मानने लगता है वह उसकी चिन्ह पूजा है । नदी, पर्वत, समुद्र, वर्षा आदि सबोंमें प्राण है, बुद्धि है और इनकी सहायतासे ही अगस्तमें वे कार्य करते हैं, यह मानना मानवीय धर्म-बुद्धिके पहिली अवस्था है । चिन्ह पूजाके किये केंद्रने " फेटिशिज़्म " शब्दक उपयोग किया है । फेटिश शब्द मूलसे पोर्चुगीज भाषाका है । इसका अर्थ है कृत्रिम चिन्ह । आफ्रिका औरह बंगाली प्रदेशोंमें बहुत प्रवास कर वहाँमें रहवासियोंमें धार्मिक बुद्धिके चिन्ह कौन कौनसे हैं, इसकी खोज करनेवाले दि प्रोसस् नामक एक गृहस्थने " फेटिशिज़्म " नामका एक ग्रंथ लिखा जो ई. स. १७६० में प्रकाशित हुआ है । सबसे यह शब्द और यह कल्पना प्रचारित जाई है । दि प्रोसस्ने अपने ग्रंथमें- 'किसी जाति विशेषके लोगोंका पदार्थोंके पूज्य मानना ' यह फेटिश शब्दका अर्थ बतलाया है । पदार्थोंकी पूजां उदाहरणमें उसने लिखा है कि जैसे वृक्ष, पर्वत, समुद्र, लकड़ीका टुकड़ा सिंहाकी दूदी हुई रंछ, गार, पत्थर, छीप, मच्छी, छता, पुष्प, गाय, चकरा हाथी आदि पदार्थ या प्राणियोंको देव मानना उनकी पूजा करना, उनमें

आगे यज्ञ करना, आर्चना करना और महत्त्वके अचर पर नैवेद्य लगाना पदार्थ पूजा है ।

परंतु जब बुद्धिके विकासके कारण मनुष्यको इन पदार्थोंका वास्तविक मूल्य माहूम हो जाता है जैसे झाड़ूका गिरना, पत्थरका फूट जाना, आभूषणोंका भ्रंश, नदीका सूख जाना आदि तब वह अपनी मूल समझने लगता है । और वह इन पदार्थोंको अत्यक्ष देव न मानकर इनमें धास करनेवाले देवोंको भिन्न भिन्न रूपसे मानने लगता है । इस प्रकार हमारे देवोंकी कल्पना प्रचलित होती है । यह कल्पना मनुष्यके द्वारा ही प्रचलित होनेके कारण वह अपने ही समान देवोंमें भी रागाद्वेषादि विकारोंकी कल्पना करता है । इस स्थितिको केटने अनेक देवपूजा अथवा ' पॉलिथीअम् ' कहा है ।

कुछ समयके बाद इस कल्पनाकी मूल भी समाजके ध्यानमें आने लगती है । जब मनुष्य, सृष्टिके सत्त्वोंमें एक दूसरेकी घटती बढ़ती देखता है तब उन सत्त्वों संबंधी देवोंमें भी वह उच्च नीचकी कल्पना करने लगता है और फिर सबने जोड़ किमी एक देवको मान कर धाकीके देवोंको उसीके भिन्न भिन्न रूप मानने लगता है । और इस प्रकार एक देवपूजाका प्रचर प्रारंभ होता है । यह भाव बुद्धिकी तीसरी अवस्था है । केट कहता है कि इस अवस्थामें भी मृष्ट चमत्कारों के दृश्यका पूर्णतया आकलन न होनेके कारण इन्डो-सक्ति-युग कर्त्तोंकी इच्छासे एक देवत्वकी कल्पनाका आशय करना पड़ता है । परन्तु जब भौतिक-बान्ध, परमावधिको पहुँचकर सृष्टिके रहस्यका उद्घाटन करने लगता है

‡ These fetishes are any thing which people like to select for adoration; a tree, a mountain, the sea, a piece of wood, the tail of lion, a pebble, a shell, a fish, a plant, a flower, certain animals such as cows, goats, sheep, elephants or any thing like these. These are the gods of the Negroes. The Negro offers them worship.....performs sacrifices..... addresses prayers to them and consults them on great occasions.

" The Cult of the Fetish " by De Brosses.

और मनुष्यकी सामुदायिक बुद्धिका महत्त्व मनुष्य जातने लगता है तब वह परमेश्वरकी झूठी कल्पनाके आशयको तोड़ डालता है और जनताहीको सर्व श्रेष्ठ आधिभौतिक (Positivism) धर्म मानने लगता है। यही धर्म बुद्धिकी परभावधि है।

ऊपर कही हुई विचारसरणीमें परमेश्वरकी कल्पनाको कहीं भी स्थान नहीं है। अठारहवीं शताब्दीसे ज्यों ज्यों भौतिक-शास्त्रकी प्रगति होने लगी त्यों त्यों बहुतसे विद्वानोंकी विचारसरणी इसी प्रकारकी होने लगी और वे जनीश्वर वादी होने लगे। इसी विचारसरणीको शास्त्रीय-रूप देकर कैंटने व्यवस्थित रीतसे जमाया। अब यह ठेकना उचित है कि कसोटीपर यह कर्होतक ठरती है। यदि यह कल्पना ज्ञान पूर्ण हुई तो फिर परमेश्वरके अस्तित्वकी कल्पनाका विचार भी करना पड़ेगा।

विश्वास करनेसे यह बात मालूम होगी कि कैंटने धर्म-विचारके कर्पा-सरोका जो क्रम नियत किया है और उस परसे मनुष्य समाजकोही सर्व श्रेष्ठ पथ सेव्य वस्तु माना है तो ज्ञान-पूर्ण है। इस ज्ञानकी जड़में एक सत्य है। कैंटका तर्कशास्त्र संक्षेपमें इस प्रकार है कि मनुष्य जिस समय धर्म-विचारकी सीढ़ियोंपर चढ़ने लगता है उस समय वसतका सेव्य विषय स्थूल ही होता है। पहिली सीढ़ीपर वह चिन्ह पूजा अथवा सूर्यपूजा जर्षोत् स्थूल और ह्रस्व वस्तुहीकी पूजा करता है। दूसरी सीढ़ीपर चढ़नेपर भी स्थूल पदार्थोंमें शक्तिकी कल्पना कर उन्हें ही देव मानता है। तीसरी सीढ़ीपर उस शक्तिका यद्यपि वह एकीकरण करता है तो भी वह शक्ति भी आधिभौतिक ही होती है और अतने उस शक्तिका कर्तृत्व मानव समाजमें है यह जानकर वह मानव समाजहीको परमेश्वर मानने लगता है। जर्षोत् भारतमें अंततक मनुष्य, सर्व कल्पनाओंका अधिष्ठान स्थूलमें ही समझता है। यही कैंटकी विचारसरणीमें मूल है। किसी भी धर्मके इतिहासकी देगनेसे यह बात सच नहीं मालूम होती कि मनुष्य स्थूल भूमिकापर प्रतिष्ठित पदार्थोंको मानता हो। किंतु धर्मके इतिहासमें यही प्रकट होता है कि प्रत्येक धर्म और प्रत्येक समयमें मनुष्यके श्रेष्ठत्वकी कल्पना अतीन्द्रिय भूमिकापर ही अधिष्ठित रहती है। धर्म कल्पनाके प्रारम्भकालमें देगनेपर विहित होता है कि जिस समय मनुष्य, वृद्ध, सता, पापाण आदि चिन्होंकी जगया सूर्यकी पूजा करता है तब समय क्या यह इन पदार्थोंको वृद्ध, सता, पापाण अथवा पत्थर मानकर ही

करता है ? यदि वह वृक्ष पापाणादि मानकर ही पूजता है तो सोचकर जलानेको लाने हुए वृक्ष, पापानेमें लगा हुआ पत्थर आदिको क्यों नहीं पूजता ? किसी राजा अथवा साधुका कागजी चित्र और राष्ट्रीय ध्वजासे अंकित कपड़ेकी चिन्दी क्या कागज और चिन्दीके कारण पूजी जाती है ? इसका उत्तर सिवाय नहींके और क्या हो सकता है ? इन वस्तुओंमें रहे हुए परमेश्वरीय अंशकी कल्पनाही को लोग मानते और पूजते हैं। इस संबंधमें प्रसिद्ध विद्वान पंडित मैक्स मूलरने इन प्रकार उद्गार निकाले हैं कि “वृक्षमें भी आदरणीय और आश्चर्यजनक तत्त्व है। जिस समय लोग वृक्षकी पूजा करते हैं उस समय उसमें रहे हुए अंतर्गत तत्त्वको ही वे मानकर पूजते हैं। इसी प्रकार गगन सुंदर पर्वत, बड़ी बड़ी नदियां, सूर्य चंद्र आदि तेजो-गोल आदिको भी उदार तत्त्वके कारण ही लोग आदरणीय मानते हैं। झाट और मूर्त पदार्थोंके द्वारा मनुष्यको अज्ञान और असूत परमेश्वरकी कल्पनाका ज्ञान होता है। * इसी प्रकार तत्त्ववेत्ता कार्लोइलने भी अपनी “विमूर्ति पूजा” नामक ग्रंथमें कहा है कि पूर्वकालीन लोगोंको हरित वृणादुर पुष्क भूमि, वृक्ष, पर्वत, नदी, मेघ, महासागर आदि सब परमेश्वरके तेजके चिन्ह प्रतीत होते थे। आधिभौतिक ज्ञानसे फूले हुए हम लोगोंको उन लोगोंकी मान्यताका सूक्ष्म नहीं मालूम होता। और वह क्यों ? इस छिपे नहीं कि हमें इन सब वस्तुओंका वास्तविक ज्ञान हो गया किंतु हमें इनका विच्छिन्न ज्ञान न होते हुए भी ज्ञान हो गया है, यह बतलानेवाली प्रतिनिधित्व धूर्त्ताके कारण। x भगवद्गीतामें भी परमेश्वरकी व्यक्त और अव्यक्त अथवा सगुण और निर्गुण रूप उपासनाके संबंधमें कहा है कि —

केशोधिकतरस्तेषां, अव्यक्तासक्तचेतसाम्’ भावार्थ परमेश्वरका वास्तविक स्वरूप अव्यक्त है, परंतु मनुष्यकी स्थूल बुद्धिकी पहुँच एकदम सूक्ष्म तेज वस्तुके ग्रहण करने तक न हो सकनेके कारण चिन्तोंमें वह उस तेजकी स्थापना करता है। इसी अर्थका और भी अधिकतया बोध करानेवाला योग-वाशिष्ठका एक श्लोक गीता एवस्थमें दिया है कि:—

* Maxmuller's "Lectures on the Origin of Religion" Lecture IV.

x Carlyle's 'Heroes and Hero-worship,' chapter I.

अक्षरावगमलब्धमे यथा । स्थूलचर्तुल्लहपत्परिग्रहः ।

शुद्धबुद्ध परिलब्धये तथा । वारुमृण्मय शिला मयाचैनम् ॥

अर्थात् (छोटे बालकोंको) जिस प्रकार चिथें जमा जमा कर अक्षर ज्ञान कराया जाता है । उसी प्रकार शुद्ध बुद्ध परमेश्वरका ज्ञान होनेके लिये लक्ष्य, मिट्टी, पत्थर, अथवा मूर्तिकी उपासना की जाती है ।

सारांश यह है कि विन्ध पूजाके समय लोग उसमें रहे हुए तस्बोहीकी पूजा करते हैं । परन्तु कंट जिस समय मानवीय समानको ही पूजाका स्थान मानता है उस समय उसमें वह वैसी अथवा अतीन्द्रिय शक्ति कल्पना न कर केवल कार्य शक्तिका उत्कर्ष स्थान कह कर ही उसका महत्त्व प्रतिपादन करता है । अर्थात् इन दोनों कल्पनाओंमें तत्त्व भेद है । एकके जावरका स्थान देवी है और दूसरीका भौतिक । यह तत्त्व भेद कंटके ध्यानमें न आनेके कारण उससे वह भूल हुई है । व्यवहारमें भी यह भूल अनुभवमें आती है । कंटके मतानुसार यदि मानव समाजहीको पूजाके योग्य मानलें तो कोई भी एक मनुष्यके लिए एक समयमें सम्पूर्ण मनुष्य समाजकी सेवा करनी अशक्य है । जब कल्पना कर कि भूख प्याससे व्याकुल मनुष्यको एक मनुष्यने जल अथवा पानी देकर सुखी किया तो वही माना जायगा कि उसने मानव समाजके एक बहुत सूक्ष्म भागकी सेवा की । और यदि शैराशिक लगाकर हिसाब जोड़ा जाय तो उसे अपने किये हुए सत्कृत्यके बदलेमें पुण्य और संतोष बहुतही कम होगा । और फिर उस उपकारका करना न करना समानही होगा । परंतु हु की मनुष्यमें देवी शक्ति मानकर यदि उसकी सेवा की जायगी तो सेवा करनेवालेको उससे पूर्ण समाधान होगा । धाहधिलमें इमी भाषको प्रगट करनेवाली यीशु क्रिस्तकी एक छोटीसी कथा है वह बहुतही अर्थपूर्ण है । वह इस प्रकार है कि “ एक बार यीशु एक मन्दिरमें गया हुआ था वहाँ एकशिशु मनुष्य गरीबोंकी सहायताार्थ शिक्षापात्रमें पैसे डाल रहे थे । एक धनी गृहस्थने उस पात्रमें एक हजार रुपये डाले । और एक गरीब स्त्रीने एक रुपया डाला । उस समय यीशुने कहा की श्रीमन्तके एक हजारकी अपेक्षा गरीब स्त्रीका एक रुपया अधिक मूल्यवान है । क्योंकि स्त्रीके पास वही एक रुपया है और इस दृष्टिने उसने अपना सर्वस्व दान कर दिया है । और श्रीमन्तने अपनी पूजीका थोडासाही हिस्सा दिया

। यद्यपि उस धर्मके दानसे मानव समाजके अधिक भागका काम हो जाता था । परन्तु जिस परमेश्वरीय भावनासे दान किया जाता है उस भावकी तीव्रता सर्वत्र दावमे-फिर चाहे वह एक रुपया हो या हजार रुपया अधिक है । और इसी लिये उस धर्मके एक रुपयके दानका मूल्य भी अधिक है । इस मुछनामें तत्त्व यह है कि परोपकार, दया, प्रेम, आदर भक्ति आदि भिन्न विकार जो उत्पन्न होते हैं वे केवल पदार्थके बाह्य स्वरूप परसे उत्पन्न हो कर उसके अंतर तत्त्वके कारण उत्पन्न होते हैं । उस बाह्य रूपके द्वारा पदार्थके अंतर तत्त्व की पूजा की जाती है । सुंदर फूल देनेसे जो नंद उत्पन्न होता है उसकी जड़में सृष्टिकर्ताके कर्तृत्वका आश्चर्य भी पाया हुआ रहता है । उत्तम चित्रको देखनेपर जो आनंद होता है वह रंगोंके कारण नहीं होता । रंगोंसेही होता तो किसी एक रंग पर चों ही रंग चिपक देनेसे भी हो सकता था । किंतु उस चित्रके आनंदकरणमें जो उदार और श्रेष्ठ कल्पनाएं उत्पन्न होती हैं उनसे होता । अंग्रेजीमें एक कहावत है कि Things more excellent than any symbol are seen through symbols अर्थात् हैं अथवा चिन्होंके द्वारा उनसे भी अधिक सुंदर वस्तु दिखाई देती है । जगत्की प्रत्येक सुंदर, श्रेष्ठ और उदार वस्तुओंसे संबन्ध रखनेकी अपने मनकी उदात्त भावना उस वस्तुमें रहे हुए ईश्वरत्वकी साक्षी है । र हमी लिये मगधरीतामें कहा है कि,

यद्यत्विभूतिमत् सत्त्वं, श्रीमदुजितमेव वा ।

तत्तदेवावगच्छ त्वम् मम तेजोशंसंभवम् ॥

भावार्थ है अर्जुन, तू बड़ी समझ कि पृथ्वीपरकी प्रत्येक विभूति और तेमय उदात्त वस्तु मेरे ईश्वरीय अंशसे युक्त है ।

इस प्रकार परमेश्वरके स्थानपर मानव समाजकी प्रतिष्ठा करनेवाली कैंटकी चार सरणीकी प्रथम मूल है । उसकी दूसरी एक मूल और है । उसके मतानुसार मानव समाजको ईश्वरके स्थानपर मान देनेसे ही काम हो जायगा र लोग उसकी पूजा करने लगेंगे । पत्थरको सिंघूर रगा देनेसेही उसकी आर्था दोने लगेंगी ? परन्तु वस्तु स्थिति ऐसी नहीं है । मनुष्यके अंतःकरणमें प्रथम उत्पन्न करनेवाला जो गुण परमेश्वरमे होता है वैसा गुण और प्रत्येक में सर्वश्रेष्ठ माने हुए ईश्वरकी कल्पनामें चित्रको सद्गुणोंके उत्कर्षसे स्तंभित

करनेवाली जो सामर्थ्य होती है वह सामर्थ्य मानव-समाजमें जब तक न हो तब तक उसे कोई माननेको तैयार न होगा । दूसरे मानव समाजका ध्यान किया किस तरह जा सकता है ? मित्र मित्र व्यक्तियोंका सकलित रूपसे तो ध्यान हो नहीं सकता । और इस किये काकाईइसके कथानानुसार मानव समाजमेंसे सर्वोत्तम व्यक्ति चुनकर उसकी पूजा करना ही धर्म्य हो सकता है । परंतु यह मार्ग पूर्ण विकासवाह पढ़नेपर भी अपूर्ण ही रहेगा । कोई भी पदार्थ सृष्टिकर्ताके समान परिपूर्ण नहीं हो सकता । अतः जिसे पूर्ण मानते थे वह जब समय पढ़ने पर अपूर्ण मालूम होगा तब माननेवालोंकी कितनी निराशा होगी ? और उसे जिसे अगाध समुद्र मान रहे थे समय आनेपर पानीके डबकेके समान धुड़ सिद्ध हो जानेपर फिर उसके सर्ववर्षे कितना उत्साह शेष रह सकेगा ? सारांश यह है कि उस समय अपरंपार निराशा होगी । अतएव यदि इस प्रकारकी कल्पना नहीं होगी कि अगलका विद्यन्ता, अगलोंका नाथ, दुष्टोंका शास्ता, सज्जनोंका आधार, सत्यका रक्षक, असत्यका नाश, कृमिकीटकेसे लेकर हाथी तक कृत्तियोंपर ध्यान देकर ध्याप करनेमें समर्थ परमेश्वर है तो सम्पूर्ण अगल बंधकारमें निमग्न हो जायगा । यह बातें करनेकी सामर्थ्य मनुष्य समाजमें नहीं है अतः वह परमेश्वरका स्थान खेनेके भी योग्य नहीं हो सकता ।

इसके सिवाय और विचार करने पर इस प्रकारके प्रश्न उत्पन्न होते हैं कि क्या मनुष्य समाज, नामक कोई पृथक्प्रथक् पदार्थ है ? किंतु इस प्रश्नका उत्तर देता है कि 'है' । प्रश्न उत्पन्न होता है कि किस प्रकार है ? यह फिर उत्तर देता है कि ऐतिहासिक प्राणियोंके समान वह मित्र मित्र व्यक्तियोंके द्वारा कृति करता है । यदि यह बात ठीक है तो कब्रिडोस्कोप अथवा सिनोमे, टोप्राक नामक यंत्र जो एक समयमें विविध प्रकारके चित्र दिखाता है को भी पृथक्प्रथक् कहना चाहिये क्योंकि इसके द्वारा भी कागजके अनेक दुकड़े मित्र मित्र कार्य करते हुए एक ही चित्र रूपसे दिखते हैं । तो जिस प्रकार यह यंत्र पृथक्प्रथक् मशीन प्राणी नहीं माना जा सकता उसी प्रकार मानव समाज भी पृथक्प्रथक् नहीं माना जा सकता । किंतु फिर करता है कि आजतक उपलब्ध हुए ज्ञानविधिके कारण मानव समाजको अष्टम प्राप्त हुआ है । यदि यह ठीक है तो यही ज्ञान अपनेको उच्चान्तिके द्वारा यह सिद्धांत है कि मनुष्य प्राणी बंधरके द्वारा उत्पन्न हुआ है तो क्या

बंदरको ज्ञानका निधि मानकर परमेश्वरके स्थानपर प्रतिष्ठित करनेको मनुष्य समाज तैयार है ? ।

इस आश्लेषके सिवाय कंटके विचारसरणीपर एक सबसे बड़ा आश्लेष यह है कि यदि कंटका ही कहना सच माना जाय तो किसी विभूतिरूप मनुष्यके-किये भी जो बातें अगम्य होंगी उनका कर्तृत्व परमेश्वरके अभावमें किसके ऊपर रहेगा ? समय, दिशा आदि मनुष्यको मर्यादित करती हैं ? परंतु इन्हें मर्यादित करनेवाला कौन है ? । सभीव पदार्थोंमें माण उत्पन्न कौन करता है ? । *Men can make a box, can they make a tree* ? मनुष्य लकड़ीसे पेटी बना सकते हैं, पर क्या वे वृक्ष भी बना सकते हैं ? । इस प्रश्नोंका यह एक ही उत्तर होगा कि मनुष्यमें व्यक्तिगत अथवा समष्टिशः यह सामर्थ्य नहीं है । ऐसी दशामें कंटकी विचारसरणी अमपूर्ण सिद्ध हो जाती है । अर्थात् परमेश्वरने फैलाये हुए चोपटके सेठमें मनुष्यका महत्त्व चोपटकी सारसे अधिक नहीं है और इस किये वह खेदनेवालेका स्थान प्राप्त नहीं कर सकता ।

हिंदुस्थानमें इस बातको बहुत महत्त्व प्राप्त नहीं हो सकता । इस देशमें मानव समाजको ही ईश्वरके स्थानपर बैठानेवाला कंटके समान पक्ष अभी उत्पन्न नहीं हुआ है । परंतु यूरोपमें कंटके द्वारा आधिभौतिकशास्त्रकी अमर्यादित तक जो प्रचारित हुई है उसकी यहाँ परीक्षा करनेपर यह प्रगट हो गया है कि वह कलौटीपर उहरने लायक नहीं है । अतः यहाँपर परमेश्वरके अस्तित्वका ज्ञान किस प्रकार और कितना होता है इसका विचार करना उचित होगा । पर्यायि इस प्रकरणके आरंभमें कहे अनुसार धर्मका स्थान बड़ी है । उसका व मनुष्यका संबंध क्या है ? और उस संबंधके अनुरूप व्यवहार किस प्रकार करना उचित है इसका ज्ञान होना ही धर्मका मुख्य लक्षण और सार है । मैक्समूलरके भी धर्मकी व्याख्या इन प्रकार की है कि " धर्मके द्वारा मनुष्यको अनेक रूप धारण करनेवाले सृष्टिके एक आवरणका ज्ञान हो वह धर्म है ॥ *

* Religion means a mental faculty which enables man.....to apprehend the Infinite under different names and under varying disguises.

Maxmuller's "Lectures on the Science of Religion"

कैंटकी विचार-सृष्टि द्वारा ईश्वरके स्थानपर प्रतिष्ठित मानव समाज, उस स्थानके अयोग्य सिद्ध होनेपर कैंटकी ही विचारसरणीके द्वारा ईश्वरके संबंधमें नया ज्ञान होता है, यह वहाँ देखना है। ईश्वरके विरुद्ध पहिला हेतु यह है कि जब कि उसके स्वरूपका ज्ञान किसी मातृके द्वारा नहीं होता तब उसकी मिथ्या कल्पना करनेमें कुछ सार नहीं है। इसके उत्तरमें कहा जा सकता है कि यह जो कहा गया है कि मनुष्यको ज्ञान होना शक्य नहीं है इस कहनेका प्रयोजन क्या ? मनुष्यको जो ज्ञान होता है वह इंद्रियोंके द्वारा होता है। तब एक प्रकारमें ज्ञान होनेकी क्रियाका वर्णन इस प्रकार किया गया है कि मनुष्यकी इंद्रियाँ उनके द्वारा ग्रहण हो सकनेवाले पदार्थका संयोग करती हैं। फिर वह संस्कार बुद्धिपर संकमित होता है। और फिर मनुष्यको ज्ञान होता है। सरासरी यह कि इस प्रक्रियामें ज्ञान होना संपूर्णतया इंद्रियोंपर अवलंबित है। इंद्रियोंमें यदि कोई इंद्रिय दुर्बल हुई तो उससे होनेवाला ज्ञान भी कम होता है या बिल्कुल नहीं होता है। यदि मनुष्यको आधा ज्ञान होनेका ज्ञान नहीं होता। अधिको पदार्थके स्वरूपका ज्ञान नहीं होता। कच्चा सारे हुएको स्पर्शका ज्ञान नहीं होता। इसी तरह मनुष्यके प्राणियोंकी जितनी भेगीका ज्ञान मनुष्यको होता है उस भेगीका नहीं होता। क्योंकि उसकी मनकी इंद्रियाँ मनुष्यकी अपेक्षा स्थानमें और शक्तिमें कम होती हैं। सारांश यह है कि मनुष्यका ज्ञान और तज्ज्वल्य विश्वास उसकी इंद्रियशक्तिके कारण मर्यादित रहता है। जमी जितनी इंद्रियाँ हैं उससे यदि एकाध इंद्रिय मनुष्यमें व्याप्त होती तो उसे आधकी अपेक्षा ज्ञान भी अधिक होता। इस विवेचनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि इंद्रियोंके द्वारा जो ज्ञान होता है उसके सिवाय दूसरी बातें प्राणी नहीं जान पाते। आधिनौसिक विचार सरणीका सिद्धांत है कि मनुष्यको इंद्रियोंके द्वारा जिस बातका ज्ञान नहीं होता वह असत्य मानी जाना चाहिये। परंतु व्यवहारमें यह सिद्धांत सत्य नहीं उदरता। इसके संबंधमें कुछ उदाहरणोंपर विचार करना उचित होगा।

१ अपने स्वतः के व्यतिरिक्त दूसरे पदार्थोंका ज्ञान किस प्रकार होता है ?

मानलो कि अपने पास एक मैच है। उसके अस्तित्वका ज्ञान अपनेको किस प्रकार होता है ? और उस ज्ञानको अपन सत्य किस प्रकार मानते हैं ? जब अपन उसे देखते हैं और उसका स्पर्श करते हैं उस समय उसके अस्तित्वके संबंधमें जो मातृकारी होती है वह अपने अंता-

करणमें उत्पन्न होती है बाहिर नहीं होती। आँसुकी पुतली नष्ट हो जाय तो मेंजके पास होनेपर भी अपनेको उसका ज्ञान नहीं होगा। स्पष्टज्ञान चाकि नष्ट होनेपर उसके स्वर्णका ज्ञान नहीं हो सकेगा और यदि सब इन्द्रियों नष्ट हो जायँ तो पदार्थका बिलकुल ही ज्ञान न हो सकेगा। सारांश यह है कि यद्यपि पदार्थका ज्ञान सबसे पहिले अंतःकरणमें होता है तो भी उस मेंजको अपन अपनेसे बाहिर-व्यतिरिक्त-शुद्ध मानते हैं। नहीं तो उसके शुद्ध होनेके विद्यासके सिवाय उसके शुद्धत्वके ज्ञान होनेमें प्रत्यक्ष साधन कोई नहीं है।

२ अपनेसे निम्न मनुष्योंमें भी मन है, यह अपन किसपरसे ठीक मानते हैं ?

१- वास्तवमें देखा जाय तो न तो यह मन विद्यता ही है और न उसका स्पर्श ही हो सकता है। यहाँतक कि सूक्ष्मदर्शक यंत्रके द्वारा भी नहीं देखा जा सकता। और न रसायन शास्त्रकी सहायतासे काँचकी नलीमें उतारकर वायुके समान बंधे जाना ही जा सकता है। ऐसी अवस्थामें यदि आधि-भौतिक विचारसरणीका आशयकें तो मनुष्य अपनेसे इतर मनुष्यके मनके अस्तित्वको कभी मानही नहीं सकेगा। परन्तु व्यवहारमें एक मनुष्य दूसरे मनुष्यमें मनके अस्तित्वको जरूर मानी जाती है और वह भी एक कल्पना ही है। तो अब कि मनके अस्तित्वकी एक कल्पना मानी जाती है तो उसीके समान परमेश्वरकी दूसरी कल्पना माननेमें क्या हानि है ?

३ यह अपन किस तरह मानते हैं कि स्थूल पदार्थोंकी अभिज्ञान मन श्रेष्ठ है ? उसी प्रकार पापवासना और दुष्टेच्छाओंकी अपेक्षा सद्वासना और सद्दि-च्छाको श्रेष्ठ माननेका ज्ञान अपनेको किस तरह होता है ?

वास्तवमें ये दोनों ही वास्तवार्थ मनकी इन्द्रियों हैं परन्तु वे आधिभौतिक साधनोंके गन्ध नहीं हैं। अतएव इनकी कल्पनाकर अंध नीच कतकावेकी कोई तराजू भौतिक साक्षके पास नहीं है। परन्तु अब कि व्यवहारमें उन्हें मनुष्य उच्च नीच मानता है तो यह किस ज्ञानकी सहायतासे मानता है इसका कोई उत्तर नहीं है। ऐसी अवस्थामें कौनकी उक्त विचार सरणीके अनुसार तो एव बातोंको भी नहीं मानना चाहिये। और फिर नीतिशास्त्रकी भी कोई प्रावश्यकता ही नहीं रहेगी। तथा नीतिशास्त्रके तत्त्वोंके परिणामोंको दिखानेवाले साहित्यको भी अंक समाधि देना होगी। इस प्रकार पितृभक्ति, मित्रेम, अनुमिद्वय, देवसेवा औरह व्यवहार अवैरहित समझकर त्याग्य कर

देना होंगे। सारांश यह है कि यह सब बातें जानी नहीं जाती किंतु जानी जाती हैं और ऐसी दृष्टिमें अपन स्वीकार करते हैं कि आधुनिक ज्ञानसे जगत् भी मनुष्य विश्वासकी सहायता है।

४ जगत्में शक्ति (Force) नामक कोई तत्त्व है और उसका प्रमाण निश्चित एवं नियमित है, इसका ज्ञान अपनेको किस प्रकार होता है ?

भौतिक शास्त्रज्ञोंका यह सिद्धांत बहुत महत्वका है कि जगत्में शक्ति नामक कोई पदार्थ है और उसका परिणाम निश्चित है। झाड़ुपरके फल टूटते ही नीचे गिरते हैं इसका कारण क्या है ? उत्तर होगा गुरुत्वाकर्षण। पृथ्वीके घूमनेपर भी मनुष्य उस परसे गिरते नहीं है इसका कारण ? उत्तर होगा कि उसमें आकर्षण शक्ति है। छोड़ चुम्बक छोड़ेको आकर्षण करता है। क्यों ? इसलिये कि उसमें शक्ति है। प्रश्न होता है कि ये शक्तियाँ क्या किसीने देती हैं ? या इन्द्रियों द्वारा इसका ज्ञान होता है ? इसका उत्तर सिवाय नहीं के और कुछ नहीं है। परन्तु आधुनिक शास्त्र इस शक्तिको और शक्तिके परिणामोंको गृहीत करके ही आगे बढ़ता है, यदि वह ऐसा न करे तो जगत्की स्थिरता ही न रहने पावे क्योंकि शक्ति कम होने पर जगत्के व्यवहार पद हो जावेंगे और यदि शक्ति बढ़ गई तो जगत् कहीं जायगा कह नहीं सकते। इसलिये शक्तिको नियत प्रमाण स्वरूप मानना ही पड़ता है। हम दृष्टादृष्टसे भी यही सिद्ध हुआ कि शक्तिको जाननेकी अपेक्षा जानते हैं। क्योंकि उसके जाननेके साधन नहीं हैं।

५ यह सिद्धान्त माना जाता है कि सम्पूर्ण जगत्, आकर्षण और अपकर्षण नामक दोनो शक्तियोंके, पदार्थोंपर एक समयमें होनेवाले परिणामोंके कारण अस्तित्वमें है।

शास्त्रज्ञोंको इस तत्त्वा परिचय पद पद पर प्राप्त होता है। किसी लकड़ीके समान घन पदार्थमेंसे उसका टुकड़ा निकालनेमें इसी तरह उसे दबानेमें बहुत कठिनाता होती है। क्योंकि उस पदार्थके परिमाणुओंमें आकर्षण और अपकर्षण दोनों प्रकारकी शक्तियाँ हैं। क्रिया और प्रतिक्रिया रूपसे दृश्यमान होनेवाले परिणाम इसी दृष्टिके कार्य हैं। बन्दूकमेंसे गोली छूट जानेपर बन्दूक पीछे हटती है इसका कारण भी यही है। प्रश्न होता है कि क्या ये सब शक्तियाँ प्रत्यक्ष दिग्गती हैं। स्पेन्सरसे यह प्रश्न पूछने पर उसने उत्तर दिया

या कि "बचापि यह ठीक है कि आकर्षण और अपकर्षणके परिणाम दिखलाई पड़ते हैं परन्तु उन शक्तियोंका रूप दिखाना शक्य नहीं मालूम होता ।"

इ भौतिक शक्तियोंकी मापी हुई कार्य-कारण-मीमांसा यह भी प्रत्यक्षमें नहीं दिखालाई देती । एक कारणसे कार्य उत्पन्न होते समय अमुक कार्य हुआ यह कहनेमें सिवाय कल्पनाके और दूसरी किसी बातकी सहायता नहीं होती । सदाचरणका अमुक अच्छा परिणाम हुआ, ऐसा कहते समय उसके कार्य-कारण-सम्बन्धकी कही नहीं दिखालाई पड़ती; परन्तु उदाहरणों परसे उसके अस्तित्वकी कल्पना करते हैं । और इसी क्रिये Induction अथवा भूयोदर्शनसे किसी सिद्धान्तको ठहरानेकी पद्धति सर्वे शास्त्रमें मापी गई है । यदि कार्य-कारणका सम्बन्ध स्पष्ट दिखता होता तो किसी भी बमकारके एकही बार देखने पर उसके सम्बन्धमें ज्ञान विशुद्ध न रहने पाता परन्तु यह न तो दिखता है और न प्रत्यक्ष प्रतीतिमें जाता है इसी क्रिये किसी बमकार को एक बार देखनेके बाद अनुपपन्न कुछ कल्पना करता है । और फिर अनेक बार उस प्रयोगको अपनी कल्पना के अनुसार होते हुए देख-नेके बाद उस सम्बन्धको वास्तविक मान कर अपने मनको आपसी समझा लेता है ।

सारांश यह है कि ऊपर बतलाये हुए आधिभौतिक शास्त्रके सिद्धान्तोंमेंसे एक भी सिद्धान्त अब कि प्रत्यक्षतया इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण नहीं हो सकते और ऐसी बातोंमें भी भौतिक शास्त्रकी इमारत इन सिद्धान्तोंपर खड़ी करते हैं, तो फिर यह कहनेमें क्या सार है कि भौतिक शास्त्र प्रत्यक्ष प्रमाणके सिवाय दूसरे प्रमाण नहीं मानता । इसी तरह भौतिक शास्त्र द्वारा बमकार कल्पना हमें मान्य नहीं है, यह कहनेमें भी कुछ सार नहीं है । भौतिक शास्त्रसे सिद्ध न होने पर भी ओ हम, हमसे व्यक्तिगत जगत् है, अपने सिवाय दूसरे अनुपपन्नमें जन्म है, अद् प्रकृतिकी अवस्था मन केन्द्र है, जगत्में घुंटेच्छा, घुंटेच्छासे डूरी है, विश्वमें शक्ति नामक कोई वस्तु है, और यह नियमित प्रमाणमें है और कार्य-कारण सम्बन्धके सिवाय कारणसे कार्य नहीं होता है इन सूत्र सिद्धान्तोंको बिना प्रत्यक्ष प्रमाणके माननेको तैयार होते हैं तो इन सब सिद्धान्तोंके आदि कारण स्वरूप परमेश्वरको, आधि-भौतिक न होनेके कारण न माननेका जो केंद्रका सिद्धान्त है वह निरर्थक ठहरता है ।

ईश्वरके अस्तित्वके विरोधमें हमारा हेतु यह है कि ईश्वर, मनुष्यकी बुद्धिको फँसानेके लिये आलके समान है। मनुष्यका यह स्वभाव है कि जिस चमत्कारका उसे बोध नहीं होता उसका कर्तृत्व वह अपने ही समान किसी दूसरी काष्पनिक व्यक्तिपर रजता है। इस नियमके अनुसार जब सृष्टिके अनेक रहस्य मनुष्योंको अगम्य दिष्टे तब उन्होंने अपने ही जैसे चैतन्य युक्त काष्पनिक व्यक्तिको उनका रचयिता माना और उसका नाम ईश्वर रखा। परन्तु शास्त्रीय पद्धतिले जब इन रहस्योंका उद्घाटन होने लगता है तब ऐसे काष्पनिक कर्तृत्वकी आवश्यकता नहीं रहती और फिर परमेश्वरकी कल्पनाकी भी आवश्यकता नहीं होती। कॅटका कहना है कि अपने समान काष्पनिक व्यक्तिपर वस्तुत्वका भार रखनेकी जो आशय मनुष्यमें पड़ी हुई है उसके कारण ईश्वर-रूपी भ्रमको बहुत कुछ आधार मिल जाता है। परन्तु कॅटकी इस विचार सरणीसे ही ऊपर यतलाये हुए अनुभविक तत्वोंके कारण परमेश्वरकी अस्तित्व न होकर किस प्रकार सिद्ध होती है यह जोसेसे विचारके वाद माहूम हो जायगा। यह जानकर पाठको को आश्चर्य होगा कि एक ही तत्वसे दो विरोधी परिणाम उत्पन्न होते हैं। अर्थात् जिस तत्वके द्वारा कॅट ईश्वरका अस्तित्व अस्तिष्ठ करता है उसीसे हम अस्तित्व सिद्ध करते हैं। परन्तु हमारा कहना कहीं तक ठीक है यह आगे चलकर प्रगट होगा।

जिस सिद्धान्तसे यह विवाद प्रारम्भ करना है वह दोनों पक्षोंको मान्य है। यह अनुभव प्रसिद्ध है कि जिस समय भौतिक ज्ञानकी बुद्धि नहीं हुई थी उस समय सृष्टिके चमत्कारोंका कर्तृत्व मनुष्य, काष्पनिक व्यक्तिपर रजते थे। भारत-वर्ष में जिस समय रेलवे चलना शुरू हुई उस समय कई लोग उसके आगे नादियक, फल, फूल आदि चढाते थे और मानते थे कि कोई अदृश्य शक्ति कार्य कर रही है। जिन्होंने यह घटना प्रत्यक्ष देखी है ऐसे लोग अभी मौजूद हैं। इसका कारण यही है कि उस समय लोग, माफकी शक्तिये परिचित नहीं थे। इसी प्रकार जोह पुत्र्यकने अदृश्य कर्णोंके सम्बन्ध में ज्ञान न होनेके कारण संझालके घाटपर जो एक चमत्कार हुआ था वह भी जानने लायक है। इस घाट पर एक बार एक इतिहासक बोधे पर बैठ कर जा रहा था कि एकदम घोड़ा अड गया। बहुत प्रयत्न करनेपर भी जब वह आगे नहीं बढ़ा तब इतिहासक साहब उतरे।

बस इंगितियर साहब भी अंदू गये और उन्हे भी कदम बढ़ाना मुश्किल हो गया । मजदूरोंके फावड़ा, कुल्हाड़ी, गेंती आदि सामान भी अहांके तहां अंदू गये, जमीनसे ऐसे थिपके कि कितने ही प्रयत्न करने पर न उठ सके । सब मजदूरोंने समझा कि यहाँ अवश्य कोई भूत है जिसने इंगितियर वगैरह सबको पकड़ लिया है । बड़े स्रोच विचारके बाद इंगितियरके दिमागमें जुम्हककी कल्पना आई उसने तुरन्त ही अपना पॉव बूतमेंसे बिकाळा और चलने लगा फिर उसने इसका रहस्य सबको बतलाया । हम उदाहरणसे यह बात माझूम होगी कि मूल सिद्धान्त तो ठीक है परन्तु इस परसे जमीशर ज़ादी जो यह कहते हैं कि इस उदाहरणके अनुसार जो बातें जमी श्राद्धके द्वारा हल न हो सकी हैं, वस्तुके कार्य-कारण सम्बन्धका जो पूर्ण ज्ञान न हो सका है इसी किये मनुष्य ईश्वरको कर्ता मानते हैं सो यह कहना ठीक नहीं है । वे कहते हैं कि मनुष्यको जमी वस्तुओंके कार्य-कारण संबंधका ही सिर्फ ज्ञान नहीं हुआ है बौकी वह सब समझ गया है । अर्थात् श्रृंखलाकी केवल कड़ियाँही जानना बौकी हैं नहीं तो सर्व श्रृंखलाका ज्ञान कैसे हो ही गया है । परंतु जमीशरवादियोंका यह कहना ठीक नहीं है । जाननेकी मुख्य बात तो यही है कि सम्पूर्ण श्रृंखला ही किस प्रकार बनी । और यही उन्हे माझूम नहीं है । उदाहरणार्थ भौतिक शास्त्रवादी सतावके जन्मके संबंधमें सिर्फ यही नहीं समझते कि माता पितारूपी कारणसे संतान-जन्मरूपी कार्य कैसे हुआ ? बौकी माता, पिता, बाळक आदि सब समझते हैं । परंतु वस्तु स्थिति इससे बिकर है । बाळक क्यों हुआ और उसका व माता पितका जन्म होनेमें क्या संबंध है इसका ज्ञान पहले और अवश्य होना चाहिये । शंकराचार्यके कहे अनुसार "कृत-भावातः" कहासे आया ? के प्रश्नके पहिले 'कस्य ?' हम कौन इसका ज्ञान होना उचित है । अथपि जी पुरुषके संबन्धसे भौतिक शास्त्री, बाळकोंकी उत्पत्तिकी प्रक्रिया कह सकेंगे परंतु उस संबन्धसे लकड़ाही क्यों उत्पन्न हुआ ? और उसका साध्य क्या है ? हम प्रश्नोंको वे हल नहीं कर सकते । एक दूसरे उदाहरणपर विचार करें, भाव खीबिये कि मैं सुत्तारके औजार लेकर लकड़ीके टुकड़ोंकी पेटी बनाने बैठा और लकड़ीके टुकड़े काटने व जोड़ेके खीले आदिके द्वारा जोड़ देनेसे पेटी बन नी गई । अब इस काँवेकी उत्पत्ति लकड़ी कौनी कारणसे हुई यह शिर्षणाकी सिद्ध करेगा परंतु यह यह नहीं बता सकेगा कि यह पेटी ही

अस्तित्वमें क्यों आई ? क्योंकि शिक्षणशास्त्र मेरी उस इच्छाशक्तिको नहीं जानता है जिसके कारण यह पेटी मैंने बनाई है। उसी तरह मातापिताके द्वारा लड़का उत्पन्न होनेमें जो एक बड़ी भारी इच्छाशक्ति कारणीभूत होती है, उसका हिसाब अनीश्वरवाणी नहीं करते। इसी प्रकार कार्य कारण परंपरा डेढ़ते डेढ़ते सब आद्यतत्त्वतक जा पहुँचेंगे तब वह क्यों अस्तित्वमें आया यह प्रश्न सदा ही रह जायगा और वहाँ फिर अपनेको मानवीय इच्छाशक्तिके अनेक गुणी बड़ी इच्छाशक्तिकी कल्पना किन्ने बिना गलतरही नहीं रहेगा। इस मूलकी इच्छाशक्तिके लेकर अंतके परिणाम तक प्रत्येकके अस्तित्वका उत्तर भौतिकशास्त्री नहीं दे सकते। अतएव इस प्रकारकी इच्छाशक्तिकी कल्पना करना अनिवार्य है। एक और उदाहरणसे इसका स्पष्टीकरण करके उचित होगा। वर्तमानमें मिजकीके प्रवाहसे तोप छोड़ी जाती है। तब समय यह धात्रीय कल्पना लोगोंको विदित नहीं थी उस समय तो ऐसी प्रक्रिया देखकर लोगोंने बड़ी समझा होगा कि इसमें भूतपिशाच ही की कृपामात्र है। वर्तमानमें यह रहस्य प्रगट हो जानेपर भूतपिशाचक कल्पनाको स्थान नहीं रहा है। परंतु भौतिकशास्त्रसे यह मालूम हो जानेपर कि विद्युत्प्रवाहसे तोप छूट सकती है, यह नहीं मालूम होता कि क्यों छूटती है ? क्योंकि छोड़नेवालेकी इच्छा शक्ति सम्पूर्ण मिश्र वस्तुओंका संबंध जोड़ती और तोप छूटनेकी क्रियाका ज्ञान करानेमें सहायता देती है। बिना उ जाने तोप छूटनेके चमत्कारका पूर्ण ज्ञान होना, नहीं कहा जा सकता सारांश यह है कि कंटकी विचार सरणीसे ही किसी न किसी अदृशशक्ति कल्पना करना ही पड़ती है। अंतर इतना ही रह जाता है कि कंट प जो पीरियोडरु ही पीछे छे जाकर छोड़ देता है और हम उसे डेढ़त पहुँचा देते हैं। इसका अनीश्वरवादी धारण यह उत्तर देंगे कि जिस प्रकार उत्तरोत्तर प्रगति करनेवाला भौतिकशास्त्र उंडा उत्तरकर एकके बाद एक कड़ीकी गोज करता है उसी प्रकार अधिक शोध होनेपर यह ठठक पहुँ मकेगा। परंतु यह कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि आधिभौतिकशास्त्रोंसे (नो) होती है यह मृष्टिचमत्कारोंके नियमोंकी ही होती है, कारणका प नहीं लगता। ज्यों ज्यों गहरें जायेंगे त्यों त्यों अधिकाधिक नियमोंका ज्ञ हो सकेगा परंतु सम्पूर्ण चमत्कारोंका आधि कारण जो इच्छाशक्ति अथ सौंदर्यात्मक पितामह-मन है उसका बोध नहीं हो सकेगा। अतएव अनीश्वरवादीका यह दूसरा आरोप भी निराल्प सिद्ध होता है।

उक्त विवादानें यह भाव लिया गया है कि आधिभौतिक वादी ईश्वरको बिल्कुल नहीं मानते । वास्तविक स्थिति यह है कि यद्यपि ईश्वर व माननेका ही उभका हेतु रहता है परंतु भौतिक-शास्त्रकी सहायतासे कारण परंपराको हटते हटते जब भादि कारणकी भीमांसा करनेका भार उभ पर जाता है तब वे कबूल करते हैं कि जगत्का भादि-कारण मानना ही पड़ता है और ऐसी अवस्थामें वास्तविक वादी होनेकी अपेक्षा किसी निर्वंताका अस्तित्व मानना ही तर्क शास्त्रकी दृष्टिसे अधिक समुक्तिक है । इन लोगोंका भौतिक-शास्त्र पर पूरा भरोसा होनेके कारण इन्हें विश्वास रहता है कि निर्वंताका अस्तित्व माननेका प्रयत्न कभी आवेगा ही नहीं लेकिन जब निजके विश्वास और तर्क शास्त्रकी कैचीमें वे फँस जाते हैं तब इनकी स्थिति “ हर्द व नास्त्येवं परं न लभ्यते ” के समान हो जाती है । यदि परमेश्वरको मानते हैं तो प्रत्यक्ष पदार्थको माननेके सिद्धान्तपर इतराका फिरती है, नहीं मानते तो जगतका भव विस्तार क्यों है और वस्तु क्यों उत्पन्न होती है ? यह प्रश्न इस नहीं हो पाते । ऐसी भाषणिते विकलनेका वे एक ही मार्ग निकालते हैं अर्थात् परमेश्वर का दूसरा ही नाम रखा कर वे उसका अस्तित्व स्वीकार करते हैं । कोई उसे सृष्टि कहते हैं । और कोई कुछ । हर्बर्ट स्पेंसरने उसका नाम जगत काकि रखा है । बात यह है कि नाम कुछ भी रखा जाव परंतु भादिकारण स्वीकार किये बिना छुटकारा नहीं ।

जब ईश्वरके अस्तित्वके संबंधमें विचार करवा उचित होगा । ईश्वरके अस्तित्वके संबंधमें अनेक उपपत्तियां हैं । और वे अनेक स्थानोंपर प्रगट की गई हैं । उनका नामनिर्देश करना भी कठिन है तो भी क्षाकीय रीत्या वर्गीकरण करवैले उन उपपत्तियोंके तीन भेद होते हैं और वे निम्नलिखित तीन पारिभाषिक नामोंसे उल्लिखित किये जा सकते हैं । पहिला भेद है कारण वाद 'Cosmological argument' दूसरा भेद है Teleological argument अर्थात् कर्तृवाद और तीसरा भेद ontological argument अर्थात् स्वरूपवाद । ये तीनों भेद एक दूसरेके पोषक हैं । अर्थात् एक वादके द्वारा कोई सिद्धान्त निश्चित हो जानेपर दूसरा वाद उसकी पुष्टि करता है और तीसरा उसे पूर्ण करता है । पहिले कारण वादका विवेचन आक्षेप निरसन करते समय ऊपर किया गया है । भाचि भौतिक शास्त्रका सिद्धान्त है कि प्रत्येक कार्यके किये कारणकी आवश्यकता होती है । और इस प्रकार

कारणकी भीमांसा करते करते अंतमें ऐसी स्थिति प्राप्त होती है कि सबका आवि कारण भावनेको छादार होना पड़ता है। इस विचार प्रवृत्तिसे परमेश्वरका अस्तित्व सिद्ध करनेके लिए ग्यासगो विश्वविद्यालयके त्रिन्सिपाळ केमरने एक धार्मिक प्रत्यक्षज्ञानकी प्रस्तावना नामक ग्रंथ लिखा है। इस ग्रंथमें कारण वादके संबंधमें यह लिखाता है कि "शास्त्रके द्वारा कारणसे कार्य उत्पन्न होनेके नियमोंका स्पष्टीकरण हो जानेपर भी मूल कारणके विना उनकी उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती। इस लिये आवि कारण माननाही आवश्यक है। इस प्रकार सर्व जगतका आवि कारण मानना यह कारणवाद हुआ। 4

परंतु यह कारण वाद अपूर्ण है। क्योंकि कारणकी आवश्यकता माननेपर भी इस कारणके संबंधमें इस वादसे कुछ ज्ञान प्राप्त नहीं होता और न इस कारणका स्वरूपही साधुम होता है। इस कमीको पूर्ण करनेवाला दूसरा वाद कर्तृवाद है। इसका विवेचन भी ईश्वरके अस्तित्व संबंधी दूसरे आक्षेपका निरसन करते समय संक्षेपमें किया गया है। किसी भी कार्यके आरम्भमें किसी कर्ताकी आवश्यकता मानना इस वादका मूल तत्त्व है। पहिले वादसे केवल यह निष्पन्न होता है कि सृष्टिका कोई आवि कारण होना चाहिये। परन्तु कारण अनेक प्रकारके होते हैं। साधारणतया कारणके तीन भेद होते हैं। एक कर्तु कारण दूसरा उपादान कारण और तीसरा निमित्त कारण। मिट्टीका बड़ा तैयार करनेमें कुंभार कर्तु कारण है। मिट्टी उपादान कारण है और बड़ा बनानेरूप कार्यके उपयोगमें आनेवाली परन्तु उनके न होने पर भी जिनसे काम चट सके वे वस्तुर्ण निमित्त कारण हैं। तो कारण वादके द्वारा यदि यही समझ लिया जाय कि ईश्वर सृष्टिका किसी न किसी प्रकारका कारण है तो उसका वास्तविक ज्ञान नहीं होगा। क्योंकि यदि उसे निमित्त कारण मान- लेंगे तो उसकी अपरिहार्यकी आवश्यकता न रहेगी। बार उसके बिना भी

* The cosmological may be put as an argument; from the world viewed as phenomenal to an absolute substance, out of which all phenomena spring, or from the world viewed as an effect to a first cause.

Caird's Introduction to the philosophy of religion Chap V.

काम चल सकेगा । बड़ा बनानेके लिये एकाच गाड़ीमें मिट्टी कानेसे उस गाड़ीकी गिन्ती विभिन्न कारणमे हो सकती है परंतु गाड़ी नहीं हो तो भी काम चल सकता है । अतएव परमेश्वर इस प्रकारका कारण नहीं हो सकता । यदि उपादान मानें तो मिट्टीके स्वभावानुरूपही बड़ा तैयार होता है उसी प्रकार परमेश्वरके गुणसमानही सम्पूर्ण जगत चैतन्यमय होना चाहिये । क्योंकि उपादान कारण जिस प्रकारका होता है उसी प्रकारकी वस्तु उससे बनती है । तथा अपने आप नहीं बन सकती । जगतमें अब्द और चैतन्य दोनों प्रकारके पदार्थ होनेसे तथा उनके लिये किसी कर्ता विशेषकी आवश्यकता होनेसे कर्तृ कारणकी जरूरत होती है । इस प्रकार कारण हूँवते हूँवते अतिस कारण तक पहुँचना पड़ता है । और सबसे प्राचीन सबका आदि स्वरूप एवं दूसरे कारणकी अपेक्षा न रखनेवाले कारणकी विशिष्टता करनेमें दूसरे एकाच नवीन कारणका मानना ठीक नहीं हो सकता । अतएव अंतका कर्तृ कारण परमेश्वर ही होना चाहिये, यह सिद्धान्त तर्क साक्षके अयुक्त-सिद्धिके मार्गसे निकलता है । और यह सिद्ध होता है कि परमेश्वर ही सृष्टिका आदि कारण है और उसीकी इच्छा शक्तिले जगत्की रचना हुई है । यही कर्तृवाद प्रिन्सिपल केमंडने निम्न लिखित शब्दोंमें प्रगट किया है:—

The attempt (to reach the idea of the first cause) is an argument which conceives of the relation of God to the Finite world, as that of creator and contriver.....In this idea of an allwise creator or designer we have the conception of a cause, which is not merely the correlative of an effect outside of itself, but which is self-conscious and self determined, before it determines else प्रत्येक चर्मकी परमेश्वर संबंधी कल्पनाओंमें प्रयुक्ततासे उसकी कर्तृत्व और इच्छा-शक्तिका उल्लेख किया गया है । ईसाई चर्ममें जगत्की उत्पत्तिका प्राथमिक वर्णन इसी प्रकार किया गया है कि "In the beginning, God created the Heaven and the earth, and the earth was without form and void and darkness was upon the face of the deep..... Then god said, 'let there be Light'"

and was Light अर्थात् जगत्के प्रारंभमें जब पृथ्वी और स्वर्ग निर्माण किये उस समय पृथ्वी धूम्र आर जाकार रहित थी । और समुद्रतल पर अंधकार था । उस समय परमेश्वरने आज्ञा दी कि अब सम्पूर्ण स्थान पर प्रकाश हो " अतः सर्वत्र प्रकाश हो गया । " इसमें भी ईश्वरका कर्तृत्व और उसकी सामर्थ्यका ही वर्णन किया गया है । उपनिषदादि आर्य-धर्म-ग्रंथोंमें भी इसी प्रकारका वर्णन किया गया है । सबसे प्राचीन छांदोग्य उप-निषद्में कहा है कि " सदेव सौम्य इदमग्र आसीत् । तदैक्षत बहुस्यां प्रजा-येय ॥ सत्तैजः असुमत् । " सबके प्रारंभमें केवल परब्रह्म ही सबके आवि कारण थे अब उन्हें अनेक होनेकी इच्छा हुई तब उन्होंने तेज विभाज किया " यह वर्णन भी उक्त वर्णनके ही समान है । और परमेश्वरकी उक्त दोनों शक्तियोंका प्रतिपादन करता है । भगवद्गीतामें श्रीकृष्णने यही कहा है कि " अद्भुतस्वल्प अगस्तः प्रभवः " अर्थात् सम्पूर्ण जगत्का उत्पन्न-स्थान मैं ही हूँ । इस परसे भी ऊपरका विचार स्पष्ट होता है । इस प्रकार आधिभौतिक कारण-वादसे यह सिद्ध हुआ कि सम्पूर्ण जगत्का आवि कारण कोई है । और यह इच्छा शक्ति एवं मित्या शक्ति युक्त है, यह बोल भावस शक्तकी सहायतासे कर्तृ वाक्के द्वारा हुआ । अब ईश्वर संबंधी ज्ञानका सीसरा परंतु अंतिम भाग शेष रहा और वह यह कि ऐसे परमेश्वरके स्वरूपके संबंधमें क्या ज्ञान हो सकता है । इस प्रश्नका उत्तर देनेके पहिले एक बात ध्यानमें रखना चाहिये कि परमेश्वर सम्पूर्ण जगत्का आवि कारण है । इस आवि कारणके द्वारा कुछ कार्य हुये फिर उन कार्योंके द्वारा अनेक और फिर उन अनेकोंके द्वारा अनेक कार्य हुए और इस प्रकार जगत्का अनंत विस्तार हुआ । इस अनंत विस्तारमें ही असुखकी व्यक्तित्व शुद्धि भी एक निवामित कार्य है और इसी सिधे इस शुद्धिके द्वारा ग्रहण होने योग्य क्षेत्र भी विव-मित हैं । ऐसी निवामित शक्ति सत्त्व इन्द्रियोंके द्वारा अनियमित और अनंत कर्तृत्व शक्ति-युक्त परमेश्वरके स्वरूपका ज्ञान कैसे हो सकता है ? तो भी समुद्रका पृष्ठ भाग देखनेवाला व्यक्ति जिस प्रकार महासागरके पूर्ण स्वरूपको नहीं जान सकने पर भी उसके अस्तित्व और ऊपरका ज्ञान प्राप्त कर सकता है उसी प्रकार ईश्वरके संबंधमें ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है । और इस दृष्टिसे हर्बर्ट स्पेन्सरकी अज्ञेय मीमांसा जिसमें उसने बतलाया है कि ईश्वरके संबंधमें असुख कुछ नहीं जान सकता, अत्र पूर्ण सिद्ध होती है ।

क्योंकि ईश्वरका बोधा बहुत स्वरूप जाना जा सकता है । हौं यह ठीक है कि उसका पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता । मित्रिसपाल केमर्ड भी यही कहता है कि " मनुष्यका ज्ञान जिसका भाग है परंतु मनुष्य ज्ञान जिसका भागलन नहीं कर सकता वह परमेश्वरका स्वरूप है ।" प्रसिद्ध कवि टेनिसनने संक्षेपमें यह स्वरूप इस प्रकार बतलाया है कि, It is the sum of the glory of all things अर्थात् सम्पूर्ण सुन्दर और वैभवशाली वस्तुओंका एकीकरणही ईश्वर है । सप्तदशवीं शताब्दिमें धर्मिनी नामक एक तत्त्ववेत्ता हुआ है वह उस समयके ईसाई धर्मके विश्वासोंके अनुसार नहीं चलता था । इसलिये उस समय वह पापलोंके विद्रोहमें राखकीय भागले जला दिया गया । परंतु उसने ईश्वरके संबंधमें जो उद्गार प्रगट किये हैं वे उसके स्मारक रूपसे सदा रहेंगे । वह कहता है " तुम मुझसे पूछते हो कि परमेश्वर कैसा है ? । पर यदि उसका स्वरूप मुझे भाष्टूम हो जायगा तो मैं स्वतः परमेश्वर हो जाऊंगा । क्योंकि उसके स्वरूपका ज्ञान पूर्ण रीतिसे उसके सिवाय दूसरेको नहीं हो सकता । जिस प्रकार मेघाच्छादित सूर्यका तेज अपनेको किंचिद् मात्र दिखलाई पड़ता है पूर्ण नहीं दिखलाई पड़ता उसी प्रकार मानवीय बुद्धिके अक्षयत्वके परदेके कारण ईश्वरके पूर्ण स्वरूपका ज्ञान मनुष्यको नहीं होता, परन्तु इतना कहा जा सकता है कि वह सर्वोत्तम कथ्यमान, सबका आविष्कारण, सर्व शक्ति मान और सर्व व्यापी है ।" ईश्वरके संबंधमें आधि-भौतिक वस्तुओंकी सहायतासे किये हुये विचारोंके बारेमें कईसर्व कवि कहता है कि

Obstinate questionings
Of sense and outward things,
Faling From us Vanishings,
Are Blank misgivings of a creator
Moving about in a world
not realized.

अर्थात् अज्ञान विषयमें अन्याय करवेवाले कर्ता संबंधी भौतिक प्रश्न, अज्ञान युक्त और दुराग्रह पूर्ण होते हैं । इस तत्त्वको आर्बतत्त्वज्ञानने किस प्रकार जाना है इसका संक्षेपमें उल्लेख कर यह प्रकरण समाप्त करेंगे । अगवहीतासे कहा है कि

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।

यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यभ्यय ईश्वरः ॥

अर्थात् लोकत्रयमें प्रविष्ट हो कर सबका भरणपोषण करनेवाला परम-पुरुषही परमेश्वर है ।

विष्णुपुराणमें कहा है कि

तेजोबलैश्वर्यमहाबोध, सुवीर्यशक्त्यादिगुणैकराशिः ।

स ईश्वरो व्याप्तिसमष्टिरूपोऽन्यक्तः स्वरूपः प्रकटप्रभाधः ॥

अर्थात् तेज, बल, ऐश्वर्य, ज्ञान, पराक्रम, शक्ति आदि सम्पूर्णगुणोंकी एकताधि, स्वरूप ईश्वर, एकत्व और सर्व व्यापित्व रूपसे रहता है । उसका प्रभाव प्रगट होनेपर भी उसका स्वरूप अन्यक्त ह ।”

इस सब विवेचनसे यही सार निकलता है कि धर्मका आदि विषय भाग्य समान जगत्वा इती प्रकारकी कोई दूसरी जगत् संकितान् जस्तु न होकर सर्व व्यापी, सर्व शक्तिमान् और सर्वान्वर्षामी ईश्वरही है । और वह ज्ञानमय है । एवं सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तःकरणमें वास करता है । और सम्पूर्ण मृत प्राणियोंके अर्पणी इच्छा शक्तिले किरासा हुआ जगत्का व्यवहार करता है ।

करण तीसरा, धर्म साधन ।



व्यवहारमें धर्म शब्दके अनेक अर्थ किये जाते हैं । पदार्थमें विशेष-रीतिले दिखाई देनेवाले गुण अथवा उसकी कृतिको भी धर्म कहते हैं । सृष्ट-पदार्थोंका भाव होना उनका धर्म माना जाता है । प्रकाश देना सूर्यका धर्म मानते हैं । इत्यादि प्रकारसे धर्म शब्दकी योजना की जाती है । इसी प्रकार कभी कभी मनुष्यके आचरण-नियमोंको भी धर्म कहते हैं और इसके-विरुद्ध गतप्रकरणमें सिद्ध किये अनुसार भगतके आदि-कारणसे कार्य-कारणका जो संबंध है उसके ज्ञानको भी धर्म कहते हैं । अर्थात् धर्म शब्दका पहला अर्थ लक्षणात्मक होनेपर भी वास्तविक अर्थसे यह ब्रह्मी कल्पनाको किये ही उपयोगमें आ सकता है यह सिद्ध किया जा चुका है । अब यह देखना है कि मानसशास्त्र रीत्या धार्मिक कल्पनाकी उत्पत्ति किस प्रकार होती जाती है । ।

एक समय यह माना जाता था कि मनुष्यके मनसे धर्मका कुछ संबंध नहीं है । परमेश्वरने अपनी सेवाके मार्ग नियत कर दिये हैं उन मार्गोंके अनुसार मनुष्यके कार्य करनेपर धर्मका साधन हो सकता है । अर्थात् अथवा धार्मिक धर्ममें आवश्यकता नहीं है । परन्तु यह कहना अस-पूर्ण है । क्योंकि अर्थात्क लक्षणात्मक बुद्धि है । सेव्य वस्तुके महात्मपर बुद्धिको विश्वास हुये बिना अर्थात् उरपन्नही नहीं होती । इसी लिये व्यवहारमें ज्ञानके इतर विष-योंके समान भक्ति-आत्मन भी मनसे माना गया है । और इसीलिये मानसिक शास्त्रके नियमोंपर धर्म-विचारके समय मुख्यतया ध्यान देना पड़ता है । इस बातकी जानकारी लोगोंको सब हुई अब कि धार्मिक विचारोंके अधिष्ठान स्वरूप मनके नियमोंकी खोज होने लगी । इस खोजके मार्गका संक्षिप्त दिग्दर्शन गतप्रकरणमें किया जा चुका है । मानस-शास्त्रके सांगोपांग अध्ययनसे यही निष्पन्न हो गया है कि मानवी विचार, कल्पना और सिद्धान्त, इन सबका

अधिकरण मन है। इस मनके कुछ स्वामाविक गुणधर्म हैं और वे पद्यपि संस्कारसे बद्ध सकते हैं, परन्तु कुछ स्वामाविक ब्रह्मपि इस प्रकारकी भी होती है जो संस्कारोंसे बद्ध नहीं सकती। मानसशास्त्रका यह सिद्धान्त निश्चित हो जानेपर धर्म विषयक चिन्तित करनेके पाहिले यह प्रश्न साहजिक उत्पन्न होता है कि क्या मनपर धर्म विषयक ज्ञानका कोई भाग अवलंबित है ? और यदि अवलंबित है तो यह कौनसा भाग है ?।

इस प्रश्नका स्वरूप अच्छी तरह ध्यानमें जानेके लिये इसका विषय विवेचन करना उचित होगा। धर्म चिन्तितकी दो उपपत्तियाँ उपस्थित की जाती हैं। पहिली उपपत्ति तो यह है कि धर्म, अर्थात् विषयक मनोविकार है और अर्थात्का अधिष्ठान मन होनेसे मानस-शास्त्रके अध्वयनसे धार्मिक तथ्योंका स्पष्ट ज्ञान हो सकता है। दूसरी उपपत्ति यह है कि धर्म और अर्थात्का नियमित संबंध बिल्कुल नहीं है। यदि कोई अज्ञानी धर्म और अर्थात्का संबंध मानते हों तो वह बुद्धिमात्रका परिणाम है। धर्मका वास्तविक अधिष्ठान बुद्धि है। इस लिये यदि धर्मकी यह उपपत्ति मानी जाये कि बुद्धि जो स्वीकार करे और उसकी सहायतासे जो ग्रहण किया जा सके वह धर्म-है तो यह उपपत्ति ज्ञानी और सुसंस्कृत लोगोंको मान्य हो सकती नहीं तो केवल बुद्धि हीन अर्थात् अंतमें अध-अर्थात् अथवा लोक-अन्यका रूप धारण करेगी। अतएव बुद्धि विषयक ज्ञानसे ही धर्मका वास्तविक स्वरूप ध्यानमें आ सकता है।

इन दोनों उपपत्तियोंको और अधिक स्पष्ट करनेके लिये कुछ उदाहरणों पर विचार करना उचित होगा। ईसाई धर्मके कुछ प्रमेय देते जाय तो विदित होगा कि वे बुद्धिको बिल्कुल प्राण नहीं है। इस धर्मका एक प्रमेय है कि मानवीय सृष्टिके आरंभमें परमेश्वरने आदम नामक पुरुष उत्पन्न किया। और उसीकी पुत्रीम वसकी स्त्री ईश्वर उत्पन्न हुई। इन दोनोंके लिये जो नंदन-यन निर्माण किया गया था, उसमें वे दोनों आनंदसे रहते थे। इन्हें जिन फलोंको ग्रहणकी मनाई थी उन्हें स्वानेके लिये वीतानने इन्हें सुखि दी। और उनके कारण निरिद्ध किये हुए ज्ञान वृक्षका फल इन्होंने खा लिया जिसे स्वाने ही अनुप्य जागिका अध-पतन हो गया। उसी ईश्वरीय—भाज्ञा भंग धरनेका परिणाम अनुप्य जागिको भोगना पड़ता है।

यह ईसाई धर्मका सिद्धान्त है। इस सिद्धान्तकी बुद्धि द्वारा परीक्षा करनेपर इसमें अनेक दोष दिखलाई पड़ेंगे। अर्थात् प्रश्न होगा कि परमेश्वर जैसे दयालु और ज्ञानमय विभूतिने मनुष्य जातिको ज्ञान वृक्षका फल खानेसे मनाही क्यों की? क्या उसके मनमें यह था कि मनुष्यजाति अज्ञान कीचढ़में फंसी रहे? यदि उसकी यह इच्छा थी तो क्या यह कहना अनुचित होगा कि ईश्वरको ज्ञानका महत्त्व ही विदित नहीं है। साथमें उसे निर्दयी भी कहना होगा। यदि यह मान भी लिया जाय कि उसने यह आज्ञा अपने अधिकारसे दी तो फिर उसका पालन न होने पर वह अप्रसन्न क्यों होता है? यदि यह क्रोध करता है तो उसे विकारी मानना पड़ेगा। दूसरे यह कि आदम और हव्वाके अपराधका फल उन्हें मिलना चाहिये। उनकी अनजानत पीड़ियोंने ऐसा क्या बिगाड़ा है जिससे आदम और हव्वाके कृत्योंका फल उन्हें दिया जाय। इत्यादि अनेक प्रश्नोपेक्षाएँ जाईबिलके उक्त विश्वास पर उत्पन्न होती हैं। इसी प्रकार पाद्री लोगों के मतका पर पानी छिड़क देनेसे मनुष्य परमेश्वरका प्रेम प्राप्त कैसे हो सकता है? पीछे आइस्टके रकते सम्पूर्ण जगत्के पानका प्रस्तावन कैसे हो गया? एक विशेष दिन पी हुई दारु और खाई हुई रोटीमें पीछुके रक्त और मांसका तत्व कैसे प्रतिबिम्बित होता है? आदि अनेक बातें हैं जो कि चिकित्सक बुद्धि स्वीकार नहीं कर सकती परन्तु वे ईसाई धर्मकी आधारस्तम्भ हैं। इनके सिवाय इस धर्मको धर्मत्व ही नहीं प्राप्त होगा। वे कल्पनाही इस धर्मकी विशेषतायें हैं क्योंकि इन्हें छोड़कर बाँकीके जो नीतिके तत्व हैं वे सब धर्मोंमें समान हैं। केवल नीतिके तत्वोंकी दृष्टिसे किसीभी धर्ममें अंतर नहीं दिखलाई देगा। धर्मोंमें जो अंतर रहता है वह सिद्धान्त विशेषोंमें ही होता है जैसे कि ईसाई धर्मके सिद्धान्त ऊपर कहे हुये हैं। यह कल्पनाएँ ऊपर कहे अनुसार बुद्धिप्राप्त नहीं होतीं। किन्तु अज्ञानमय होती हैं। हिन्दूधर्ममें भी जो इस प्रकारकी मान्यताएँ हैं कि वेद अपौरुषेय हैं, जगत्के कल्याणार्थ ईश्वर अवतार लेता है, पशुरूपमें भी वही दिखलाई पड़ता है, सृष्टिके बाद मनुष्य यम लोकमें जाता है; फिर अपने अपने पाप पुण्यके अनुभवार्थ दूसरा जन्म धारण करता है, सो अज्ञाही की कोटि की हैं। धार्मिक मुसलमानोंके स्वागतके लिये आकाशमें सुंदर परिधियाँ तैयार रहती हैं, यह मुसलमानोंकी कल्पना और अनेक जन्म सुख सुख भोगवैके बाद निर्वाण प्राप्त करने अथवा ऐसी स्थिति प्राप्त करने जो कुछ नहीं है यह आधिनैतिक शास्त्रसे बिल्कुल विरुद्ध बौद्ध धर्मकी कल्पना,

शुद्धि की भाँवपर नहीं उठर सकेगी। इनका आधार केवल श्रद्धा है और इस लिये धर्म अज्ञानमय ही है। यह पत्रिणी उपपत्ति हुई।

दूसरी उपपत्ति इसके बिलकुल विरुद्ध है। इसके अनुसार मनुष्य और दूसरे प्राणियोंमें महत्त्वका अंतर शुद्धि है। और इस लिये प्रत्येक मानवीय कल्पनाके अनुसार धर्म-कल्पना भी शुद्धि प्राप्ति होना चाहिये। और शुद्धि की कसौटीपर झूठे और सच्चे, लोकजन धर्म विचार, और अस्तनी अथवा नकलीकी परीक्षा होना चाहिये। खाली लोगोंकी धर्म कल्पनाको देख सुनकर अपन क्यों हसते हैं? इसी लिये कि वे कल्पनाएँ अपनी निर्णायक शुद्धि स्वीकार नहीं करती। भूत वीररहकी कल्पनाको अपन झड़ी क्यों कहते हैं? इस लिये कि बहुतेके अनुभवसे वे झड़ी हैं और केवल विश्व धर्म हैं। ईसाई धर्मके रोमन केथोलिक पपकी यह कल्पना कि मनुष्य अपने जीवनमें किये हुए पापोंकी उबलानी भरते समय यदि अपने गुरुके सम्मुख कर दे तो वह पापसे छूट जाता है, सब शुद्धिमें नहीं जँचने लगी तब इस कल्पनाको दूर करनेवाके प्रॉटेस्टेंट पपका अवतरण हुआ। केवल यज्ञकर्मसे मनुष्यको उत्तम गति प्राप्त हो सकती है। इस वेदकाशीन कल्पनासे जब शुद्धि संतुष्ट नहीं हुई तब उपनिषदोंके विचारोंका प्राहुर्भाव हुआ। कुछ भी कार्य न कर जंगलोंमें वैदिके समान भट्ठसे रहनेकी बौद्ध धर्मकल्पना जब लोगोंको डीक नहीं जँची तब इस कल्पनाके पंथको ही 'हीनयान' उठराकर बुद्धालुप्राणियोंने कर्म प्रवृत्ति मूलक "महायान" पंथकी प्रतिष्ठा की। इत्यादि धार्मिक कल्पनाओंके इतिहास और स्थित्यंतर शुद्धि प्रचलताहो की साक्षी देते हैं। इन व इन जैसे अन्य अनेक उदाहरणोंपरसे यह दीखलाई पड़ेगा कि प्रभुद्ध लोगोंके आदर और सेवा भावके प्राथ होनेके लिये धार्मिक कल्पनाओंको शुद्धिराम्य होना चाहिये। इतना ही नहीं किन्तु उनमें भी कायंतरानुसार परिवर्तन होता रहता है और जीर्ण वस्त्रका त्याग व नवेका ग्रहण करनेके समान समयानुसार नवीन कल्पनाओंका ग्रहण होता रहता है।

अतएव धर्म कल्पनाका आधारस्थान श्रद्धा न होकर शुद्धि है यह सिद्ध होता है। यह दूसरी उपपत्ति हुई।

इन्हीं दोमेंसे एक सीधरा पक्ष और उत्पन्न हुआ है। इस पक्षका कहना है कि धर्म कल्पनाका वास्तविक आधार मनुष्यनामके इत्युपकी भावना अथवा

बिकार है (emotion) है । बुद्धि प्रमाण मानने वालोंके मतानुसार धर्म-को ज्ञानसे संस्कारित बुद्धिका भाग्य रहता है । और अज्ञानवादियोंके मतानुसार उसकी आवश्यकता न होकर अधिकारी पुरुषोंके द्वारा ठहराई हुई कल्पनाओं और नियमोंको भावरपूर्व स्वीकार करनेमें ही धर्मका बीज है । भावनावादी इन दोनों कल्पनाओंको ठीक न मानकर धर्मका आधार भावनापर ही अवलंबित करते हैं उनका कहना है कि मनुष्यका हृदय, स्वरमें मिळाने हुये एक तंतु वाद्यके समान है । ऐसे वाजोंके तारोंपर बुरसे किसी भी स्वरका आघात होनेपर उसमेंसे तदनुकूल प्रतिध्वनि होती है । हुदरे तारों की सितार बहुतेरी देखी होगी । साधारण सितार पर आका जगा हुआ पीतलका पट्टा होता है और इस पट्टेपरसे फदे तार छुदे हुये होते हैं परन्तु इस प्रकार की सितारमें पीतलके पट्टेके भीचे भी ऊपरके समान तार छुदे हुये होते हैं । इन तारोंको ऊपरके तारोंके सुरसे मिळा देते हैं । और फिर ऊपरके तार बजाते ही भीचेके तारोंमेंसे भी वही ध्वनि होने लगती है । उन्हें बजानेकी जरूरत नहीं होती । इसी प्रकार मातृ-पितृ भक्ति, स्वदेशभेम, संतान वात्सल्य, पतिपत्नी प्रेम आदि बिकार या भावनाओंके समान धर्मबुद्धि भी भावनाजन्य बिकार है । अपने अंतःकरणमें धार्मिक बुद्धिका न्यूनाधिक अंश रहता है । यद्यपि वह सदा जागृत अवस्थामें नहीं रहता परंतु निमित्त मिळनेसे—उत्कट भक्तिपूर्वक गाने हुये मजन, कीर्तन आदि निमित्तोंसे—जागृत होता है । उस समय मनुष्योंकी जो बुद्धि लक्ष्मी हो जाती है उसका कारण यह है कि उस समय उनके हृदयमें सात्विक भाव जागृत होता है । कोई ईसाई-योंका धर्मगुरु यदि रविवारको चर्चमें जो उत्तम प्रवचन करता है तो उससे श्रोतागणोंमें इतना भक्तिभाव उभड़ता है कि उसका असर सुसावस्थामें भी रहता है । सारांश यह है कि धर्म विचारको जागृति, मेरणा और कार्य कर्तृत्वका रूप भावनाके विकारोंसे ही प्राप्त होता है । अज्ञा होनेपर भी वदे वदे धर्म कृत्य करनेके लिये भावोंके जागृत करनेकी आवश्यकता होती है । गौतमबुद्धके संबंधमें ऐसी ही एक कथा कही जाती है कि यद्यपि वे पहिलेसे ही परोपकारी और उदासीन बृत्ति थे परंतु एक दिन राजमहलमें बैठे हुये थे कि उनके आगेसे एक शव निकला । वस उसके देखते ही उनके हृदयमें भावना जागृत हुई और शरीरकी अस्थिरता व झुलुकी स्थितिमें राजा व रैंककी समानताका पूर्ण विनाशकर उन्होंने राजकाज छोड़ वैराग्य चरण कर लिया । इससे यही

सिद्ध होता है कि बुद्धि अथवा सहज अज्ञा पर धर्मभावना अवलंबित न होकर मानव-विकार पर ही अवलंबित है ।

पंडित मेक्समूलर पहिली उपपत्तिके संबंधमें कहते हैं कि " धर्मविषयक बुद्धिको भाषना अन्य माननेवाले एक पक्ष और बुद्धि प्रमाण माननेवाले दूसरे पक्षके होते हुए भी किसी धर्ममें इन दोनोंके सहभागित्व अथवा समानाधिकरणसे परंतु इन दोनोंकी अपेक्षा अधिक महत्वका एक तीसरा अज्ञा वादीपक्ष है । इस पक्षका अस्तित्व भी आश्चर्याय है यह अज्ञा बुद्धिही सुव्यवस्था धर्मकी अज्ञ है " *

बुद्धि-वादीपक्षका समर्थन करनेवाले अनेक पंडितोंमेंसे एक पंडितका मत उसीके शब्दोंमें प्रगट करनेसे दूसरोंके मतोंकी भी कल्पना हो सकेगी । धर्मके आधारकी विविक्षा करते हुए काइचनिद्दले कहा है कि " *Nihil inai intellectus n. s. yes nothing but intellect* अर्थात् धर्मकल्पनाके लिये बुद्धिके सिवाय दूसरा आधार नहीं है । यदि यह बात नहीं होती और धर्मका पाया केवल अज्ञा पर उठाना हुआ होता तो सिद्ध सिद्ध धर्मोंकी पुष्टना ही नहीं हो सकती थी । अज्ञाकी दृष्टिसे तो सिद्धकी दृष्टि हुई पूँछ अथवा एकहीके सूँठको पूँजनेवाले धंकी आधुनिक खोगोंका धर्म भी अज्ञ तत्त्व-ज्ञानसे कुछ अन्य धर्मोंके समान ही महत्वपूर्ण माना

* If then there is a philosophical discipline which examines into the conditions of intuitional or sensuous knowledge and another discipline which examines into the conditions of rational or conceptual knowledge, there is clearly a place for a third philosophical discipline that has to examine into the existence and the conditions of that third faculty of man, co-ordinate with yet independent of sense and reason, the faculty of..... ..faith In German they call it vernunft as opposed to Verstand-reason, and sinn-sense

Maxmuller's "Lectures on the Science of Religion."

प्रायगा और देवताके आगे अच्छे झुरेकी मेढ़-कल्पना ही नहीं रहेगी । जीते मनुष्यकी बलि देनेवाली—और वह बलि कमी कमी एक पिता अपने पुत्र-सफ्ती दे सकता है—चाल, नीति, समाजहित और राजकीय दृष्टिसे घातकी चाल, होते हुए भी विस्वार्थ-बुद्धि-पूर्वक आत्मम परोपकार करनेके समान ही मानी जावेगी । सार यह है कि परमेश्वरने मनुष्यको जो बुद्धि दी है उसे लभ करनेसे धर्मका पर्यवसान हो जानेका भय है ।

अंतका अर्थात् तीसरा भावनावादी दृष्टका मत प्रवृत्त करनेवालोंमें टिंडा-लका मत उल्लेख योग्य है । मित्र मित्र धर्मपर्यायके विषयमें इसने कहा है कि " यदि इन पंथोंका अतिक्रमण आधिभौतिक ज्ञानके विषयमें होने लगेगा तो यह ज्ञानकी प्रगतिके लिये हानिकारक होगा । और यदि मनोभावनाकी ओर उसकी योजना होगी तो एकाध बड़ा सटकार्य हो जानेकी संभावना है । क्योंकि धर्म पंथका योग्य विषय हृदयकी भावनाही है । "

इस प्रकार धर्म कल्पनाकी उपपत्तिके संबंधमें तीन प्रकारकी कल्पनाएं बतलाई जाती हैं । इनमें सब कौनसी हैं, इनकी जड़में मानस शास्त्रका सिद्धान्त कौनसा है और वह सत्य क्यों है इसका यहाँ विचार करें ।

उन्नीसवीं शताब्दिमें उच्छ्रंतिवादने एक विद्रोहसा जड़ कर दिया था । जकसे इवर्ट स्नेसर नामक अलौकिक विद्वानने अपनी बुद्धिसामर्थ्यसे इस तत्त्वका प्रति-पादन किया और आधिभौतिक शास्त्रकी कितनीही कार्य—परंपराओंको उच्छ्रंति-वादकी विचारसरणीके द्वारा सत्य ठहराया तबसे किसी भी कार्य-कारणकी चिकि-त्साकी उच्छ्रंतिवाद ही एक सर्व सामान्य ऊसौटी बन गई है। और धीरेधीरे कहा-नियोंमेंसे सोनामुखीके काठेकी कहानीके समान इस उपपत्तिकी स्थिति होने लगी है । वह कहानी इस प्रकार है कि एक पोथीके भटे हकीमको सिर्फ सोना-मुखीके काठेका नुस्खा माखूम या । वह प्रत्येक रोगपर इसी नुस्खेका उपयोग करने लगा । एक बार उसके देशपर बुरा रामा चढ़कर आया तब उसने अपने देशकी सेनाको लभ मिलानेके लिये भी इसी काठेकी योजना की । इस योजनासे सम्पूर्ण सेनामें संप्रहणीकी बीमारी हो गई तब बुरे रामाकी सेवाने यह विचार कर कि कहीं यह बीमारी अपनेमें न फैल जाय विना छुटे ही अपने देशको परस्थान कर दिया । इस कथामें निम्नकी हानि बतलाते हुये भी दूसरेको भाग जानेका परिणाम निकालकर अंतिम भाग भीटा कर दिया

है। यही दृष्टा उन्नीतिके तत्त्वकी हुई है। परंतु इसका अंत हुईवसे इतना सरस नहीं हुआ। इसका एक उदाहरण इतिहास प्रमाणकी चिकित्साके समयमें दे जाये हैं। सब जगह इसी कलौठीसे काम लेते लेते कहीं कहीं यह विरयक नी सिद्ध हुई है और धर्म कल्पनाकी चिकित्सामें भी इसी प्रकारका पराभव इसे स्वीकार करना पड़ा है। इस उपपत्तिके पुरस्कर्ताने इसकी सहायतासे धर्म चिकित्सा करना प्रारंभ किया था और अनेक देशोंमें प्रचलित अनेक धर्म कल्पनाओंका संग्रहकर उसने यह निष्कर्ष निकाला था कि दृष्टपूर्वनोंकी आत्माका पूजन अथवा श्राद्ध सबसे पहिली धर्म कल्पनाका मोद है। और फिर इसपर एक चलाते चलाते अंतमें उसने यह सिद्धांत गांथा कि स्वप्न दिखना और उसके कारण मानसिक दुर्बलताका विकार होना, यह धर्म-कल्पनाका ही परिणाम है। स्वप्नोंमें दृष्ट पुरुषोंकी आत्माएँ जाती हैं और वे सुपुत्र मनुष्यको इधरसे-उधर एक छोकरे दूसरे छोकरे-जाती जाती दिखलाई पड़ती हैं। इसपरसे मनुष्य यह मानता है कि प्रत्येक प्राणियोंमें शरीरसे निश्च कोई बस्तु है। यह बस्तु कभी शरीरको छोड जाती है और कभी फिर जा जाती है। इसी अपने निश्चय परसे यदि कभी किसी मनुष्यपर धीमारीका दौरा होकर वह बेहोश होने लगता है—या उसे बेहोशीके दोरे चार चार आने लगते हैं तो वह यह समझता है कि इस रोगी मनुष्यके किसी वैरीकी आत्माने इसके शरीरमें प्रवेश किया है। इस परसे उस आत्माके द्वारा शास न होनेके लिये लोग उस कल्पनिक आत्माकोही देव मानने लग जाते हैं। और उसकी पूजा करना प्रारंभ कर देते हैं। इस प्रकारकी विचारसरणीके द्वारा उन्नीतिके धर्मोंके धर्मोंकी चिकित्सा करनेका उपक्रम किया परन्तु इस उपक्रमके द्वारा केवल धर्मकी बाह्य विधिकी ही चिकित्सा हुई। उसके द्वारा धर्मके अंतरद्वकी-तत्त्वज्ञानकी-चिकित्सा न हो सकी। और इसी प्रकार अज्ञात और बुद्धिवाचके झगडेका भी निर्णय न हो सका। अंतमें स्वत-स्वेसरने यह कबूल किया कि बुद्धि और अज्ञातवाचका समझौता बही है कि सम्पूर्ण ज्ञानका अन्त अज्ञेयमें और सर्व विचारोंका अन्त विचारोंके कुंठित होनेमें ही होता है। यही तत्त्व उसने अपने First Principles नामक ग्रन्थमें Theory of the Reconciliation of Science and Religion) अर्थात् "धर्म और आधिर्मातिक शास्त्रका समझौता"के नामसे प्रतिपादन किया है। यह टीका ही है कि रसायन अथवा पदार्थ विज्ञान

शास्त्रके विषयोभूत स्थूल द्रव्योंकी चिकित्सा करनेवाली पद्धतिसे सजीव, सचेतन और विकारयुक्त मानव प्राणियोंकी चिकित्सा किस प्रकार हो सकती है ? । धाम्य नापनेवाले मापोसे ही यदि मोती भाणिक भी मापे जाय तो व्यापार कैसे चलेगा ? । सज धान याबीस पंसेरी, होना जिस तरह व्यवहारमें अक्षम्य है उसी प्रकार विचार क्षेत्रमें भी है । गत इतिहास विषयक प्रकरणमें यह निश्चित किया गया है कि किसी भी कालके इतिहासकी उल्लेखने सुलझानेके लिये दो बातोंकी जरूरत होती है एक तो तत्कालीन परिस्थितिका ज्ञान और दूसरे गतकालकी शिक्षापरसे उहराये हुये सिद्धान्त । इनमेंसे केवल एक बातसे ही इतिहासका पूर्ण—ज्ञान नहीं हो पाता । उसी प्रकार धर्मकल्पनाकी चिकित्सांम भी दो बातोंके ज्ञानकी आवश्यकता होती है । एक तो धार्मिक कल्पनाओंके उस काल संबंधी स्वरूपका ज्ञान दूसरे उन कल्पनाओंके अवस्थान्तरकी अङ्गमें रहनेवाले मानस-शास्त्रके सिद्धान्तोंका ज्ञान । उत्क्रांतिवादियोने पहिली बातकी चिकित्सा तो बड़ी अच्छी तरह शास्त्रीय पद्धतिसे की । परन्तु दूसरीकी ओर प्रायः उपेक्षाही दिखलाई । इस लिये उनकी विचारसरणीके द्वारा धर्म की कल्पनामें गर्भित रहनेवाली सय बातोंका समाधानकारक स्पष्टीकरण नहीं हो सका । यह करनेके लिये मानस-शास्त्रके सिद्धान्तोंकी भी परीक्षा करना होती है । धर्म-कल्पनाओंके विशेष २ रूप, अनेक प्रकारके और परिस्थितिके अनुसार बदलनेवाले होनेके कारण उनके संबंधमें कोई सामान्य सिद्धान्त निश्चित करना बहुत कठिन है । इस लिये धर्म-कल्पनाओंकी अङ्गमें रहनेवाले स्थायी नियम निश्चित कर लेना आवश्यक है क्योंकि उन नियमोंके अनुरोधसे फिर किसी भी धर्म-कल्पनाके रूपका स्पष्टीकरण करना सुलभ हो जाता है । आगे उन्हीं नियमोंपर विचार करेंगे ।

धर्म-कल्पनाओंके सार्वत्रिक अचलोकनसे यह पहिला सिद्धांत निकलता है कि अगतका भाष्य कारण—जिसका कि नाम ईश्वर रखा गया है—के स्वरूपकी कल्पना, अनुप्यप्राणी अपने निजके ज्ञान और विमकी बुद्धिके प्रमाणानुसार तथा नैतिक व सामाजिक मतकी पद्धतिसे करता है । इतिहासपर दृष्टि डालते हुए अगतके निम्न निम्न धर्मोंकी परीक्षा करनेपर यह अगत होता है कि उन धर्मोंमें जो अंतर पड़ता है वह केवल तीन बातोंके संबंधमें पड़ता है । अर्थात् देवताओंकी संख्या, देवताओंका स्वरूप तथा देवता व अनुप्यके परस्पर संबंधमें ही विशेष अंतर पड़ता है । गतप्रकरणमें यह दिखलाया जा चुका है

कि धर्म-कल्पनाकी आरंभिक अवस्थामें भौतिकशास्त्रके जन्मावके कारण जगत्के प्रत्येक अज्ञेय घटनाकारोंमें देवताओंकी कल्पना की जाती है । और इसी क्रिये ज्यों ज्यों उन घटनाकारोंका अंतर-रहस्य प्रगट होता जाता है त्यों त्यों उन स्वतंत्र देवताओंकी संख्या भी कम हो जाती है । और इस प्रकार मनुष्यके बढ़ते हुए ज्ञान और देवताओंकी संख्याका प्रमाण स्पष्ट हो जाता है । इस सिद्धांतकी गत प्रकरणमें विवेचना हो जानेसे यह सहजमें समझमें आ सकेगा ।

दूसरा अंतर पड़ता है देवताओंके स्वरूपका । स्वरूपसे मनोजन बाह्य रूपसे नहीं है किंतु जिन जिन गुण धर्मोसहित देवताओंकी कल्पना की जाती है उन गुण धर्मोंके विवेचनसे है । किसी अंगकी मनुष्यके अंगोपर होनेवाली विस्तृत क्वाण्टी शक्तियोंके मछे भुरे पनकी कल्पना यह उनके द्वारा होनेवाले सुखदुःख परसे ही करता है । क्योंकि उस समय उसके पास भौतिक पदार्थोंकी शक्तियोंके सर्वांगीण स्वरूपको जाननेके साधन नहीं होते । उसे तो शक्तिके किसी अज्ञेय विशेषका ही सोचनी प्रसंग पड़नेपर परिशय मिळता है । उसी परसे यह शक्तिके मछे भुरे पनकी कल्पना निश्चित करता है । जैसे कि सूफानी हवा चलनेसे और उससे अधिक तास होनेसे यह वायु देवताको भुरा मानेगा । जिसकी गिरनेसे कुछ अथवा मनुष्यके जल जानेपर यह विपुल देवताको दुःखदायक मानेगा । इसी तरह अकम्पा महापूर, भूकम्प, उल्कापात, व्याजसुखी आदिको दुष्ट-देवता होनेकी कल्पना करेगा । इनके विपुल अंगुष्ठीको प्रकाशित करनेवाले सूर्य, सायकाल और रात्रिमें आनंद व प्रकाश देनेवाले चंद्र, जल देनेवाली नदियाँ मिर्हूर आदिको सौम्य देव मानेगा । इसनाही नहीं किन्तु एक स्थानपर अच्छी भागी जानेवाली देवता दूसरे स्थानपर भिन्न परिस्थितिके कारण दुष्ट मानी जाती है । " डोरविनी " नामक प्रेक्षक प्रवासीवे स्थान स्थानपर देखी हुई सूर्य-पूजाके लक्षणमें लिखा है कि " तातार " जैसे वर्षोंके प्रदेकमें सूर्यका इतना महत्त्व है कि शीत ऋतु समाप्त हो जानेपर जब सूर्यकी किरणें पृथ्वीपर पड़ती हैं तब वहाँके निवासी अपने अपने अपने अधिक प्यारे घोड़ेको सूर्यके पक्षमें बलि कर देते हैं । * और उसी सूर्यको आफ्रिकाके मध्यवर्ती जंगलमें निवास करनेवाले अटलेटिस लोग मनुष्यजातिका शत्रु समझते हैं । और उदय होते ही उसे गाछियोंकी पुष्पाच्छाति चढ़ाते

हैं। ईसप नीतिमें एक कथा है कि एक जनगर आकाशके मनुष्यके विप्र विविध दृश्यसे प्रतिबिम्बित शान्त समुद्रकी स्तुति करने लगा पर जब उसने उसी समुद्रसे भवास किया और बादलोंके घिर जाने और समुद्रके स्फावसे उसकी हुँदका हुँद तब वह समुद्रको विश्वासघाती कहने लगा। इस कथासे सृष्टिके चमत्कारोंका शास्त्रीय ज्ञान होनेके पहिलेके मानवीय स्वभावकी स्थितिका अच्छा बोध होता है। इस सब विवेचनका सारांश यह है कि देवताओंके स्वल्प और गुण बर्न संवंची कल्पना मनुष्य अपने ज्ञान और अनुभवपरसे करता है। जब ज्ञान बढ़ता है, भौतिक पदार्थोंकी शक्तिके रूपकी जानकारी हो जाती है और पहिलेके अनुभवसे विरुद्ध अनुभव किसी दूसरे समयमें अथवा दूसरी प्रक्रियासे होता है तब उसकी पहिलेकी मूल संकल्पित कल्पना नष्ट होकर उसके स्थानपर सत्य कल्पना उत्पन्न होती है। जब मनुष्यको भौतिक पदार्थोंके गुणबर्नका ज्ञान हो जाता है तब धर्मोंकी सहायतासे मनुष्य पदार्थोंकी शक्तिपर अधिकार करने लगता है। और फिर पहिलेकी देवताकी कल्पना नष्ट होकर उसके स्थानपर यह कल्पना उत्पन्न होती है कि सर्वश्रेष्ठ परमेश्वरने उत्पन्न की हुई यह सर्व शक्ति मनुष्यके कल्याणार्थही है। प्रसंग विशेषपर वृक्ष अथवा मनुष्यपर गिर कर उन्हें स्वाहा कर देनेवाली बिजली जब मनुष्यके आधीन हो जाती है तब वह उसके द्वारा हजारों कर्म करता है। अपार सागरको क्षीत्रतासे पार करनेवाले महासागदिके साधन प्राप्त हो जानेपर मनुष्य दूर दूरके देशोंसे व्यापारिक अथवा राजकीय संबंध कर लाभ उठाता है पर्वतपरसे गिरनेवाले बल प्रताप-प्रवचन—जो कि शास्त्रीय ज्ञानके अभावसे महा भयंकर माना जाता था—से स्वतंत्र शक्ति उत्पन्न करता है और उसके द्वारा मनुष्य, पुरुषके अनेक साधनोंकी वृद्धि कर सकता है और भयंकरसे भयंकर शक्तियोंका विन्यास परमेश्वरको मानकर पहिलेकी दृश्य और सृष्ट कल्पनाओंको छोड़ देता है। इस प्रकार मनुष्य प्राणीका ज्ञान अपने अपने बढ़ता जाता है त्यों त्यों ऊपर कहे अनुसार अनेक देवताओंकी कल्पना नष्ट होती जाती है और एक देवताकी कल्पना स्थान पाती है। यह ऊपर कहे हुए मानससाधके सिद्धांतही की साक्षी है।

अंतमें यही सिद्धांत मनुष्य और देवताओंके परस्पर संबंधमें भी उपयोगी होता है। मानवीय संस्कृतिके पूर्वकालमें सृष्टिकी शक्तियोंके स्थानपर मनुष्य

जिस प्रकार देवताकी कल्पना करता है उसी प्रकार यह अपने स्वभावशीलकी प्रतिमा-भूत अनेक देवताओंकी भी परपना करता है । उस समयकी कल्पनाके अनुसार सृष्टि देवता सभमे यही और श्रेष्ठ देवता होती है परंतु इसके साथ ही साथ उस समय मनुष्य, जातिविशेष, स्थलविशेष मनुष्यविशेष संबंधी देवताओंकी भी परपना करता है । और इस प्रकार अमंग्य देवताओंकी सृष्टि हो जाती है । स्थलदेवता, ग्रामदेवता, कुलदेवता आदि इसी प्रकारके देवताओंमेंसे हैं । ग्रामदेवताका कार्य ग्रामकी रक्षा करना, कुलदेवताका कार्य कुलकी रक्षा करना आदि भिन्न भिन्न नियमित कार्योंके लिये देवताओंकी कल्पना होती है । फिर चाहे उस कर्मसे संबंध रखनेवाले मनुष्य कुछ हों अथवा कुछ हो । यहूदी लोग जिहोश्दा नामक देवताके संबंधमें मानते हैं कि यह यहूदी लोगोंकी रक्षा करता है । ऐसे देवताओंके गुण धर्म भी उनके शासनमें रहनेवाले मनुष्य समुदायके गुण धर्मनुसार ही माने जाते हैं । प्रत्येक मनुष्य समुदायमेंके श्रेष्ठ व्यक्तिके स्वभावकी पर्याप्त उल्लेखसे देवताका स्वभाव माना जाता है । बीच जातियोंके ग्राम देवताकी प्रशंसा करनेके लिये मैंसेकी यज्ञ आवश्यक होती है और जहिसा धर्माच्छ्रेष्ठियोंकी ग्रामदेवता झुईकोकेको फाट देनेसेही समझ जाते हैं । भिन्न भिन्न कुलदेवताओंमें भिन्न कुलके रक्षणार्थ कड़ाई भगवते भी होते थे । परंतु ज्ञान प्रसारके कारण इन बातोंकी विसंगतता लोगोंको भासूम होने लगी और ईश्वर व देवताओंमें माने जानेवाले विप्लवपात, सहृदयता, क्षमाशीलता, आदि श्रेष्ठ गुणोंका क्रोध, मत्सर, भगवते आदि झुज्रमनोधिकारोंके साथमें मेल कैसे बैठ सकता है ? यह सोंका लोगोको होने लगी । जब लोगोंने देखा कि जिन्हें अपने देव मानते हैं उनका परस्पर आतपीय कलहके कारण परामर्श भी हो सकता है तब लोगोका विश्वास बगमगाने, लया । और अंतमें यह प्रकरणमें कही हुई धर्म विचारकी परंपराके अनुसार छोटे छोटे देवताओंकी अपेक्षा श्रेष्ठ और सब प्राणियोंको उनके सुकृत दुष्कृतको पकड़ी तराजूसे तोलनेवाला ईश्वर कोई भिन्न ही है ऐसा ज्ञान लोगोको हुआ । इससे स्पष्ट होता है मानवीय ज्ञान और अनुभवकी गभीरताके साथ साथ उनकी देवत्वकी कल्पनाको भी गंभीरता प्राप्त होने लगती है । इससे यह भी सिद्ध होता है कि देवताओंकी कल्पना, उनके शुभ धर्म और उनके मनुष्य जातिले माना जानेवाला संबंध इस धर्म विचारका अन्तर्गत देवताओंकी

दृष्टिसे देखनेपर मनुष्यकी देवताविषयक कल्पना उसके तात्कालीन ज्ञान, अनुभव व शारीरिक और नैतिक परिस्थितिपर अवलंबित है ।

इस तत्त्वके समर्थनके लिये यदि दूसरे धर्मोंके समान हिन्दू धर्मका निरीक्षण किया जाय तो बहुत कुछ प्रमाण मिल सकेंगे । आर्य संस्कृतिके प्रथम आवर्ष स्वरूप वेदोंमें सृष्टिकी प्रत्येक शक्तिको देवता मानकर उन्हें पूजनेका आदेश है । एक गुलाबी-वर्णकी स्त्रीके समान अंचकार रूपी पर्ववाले रथमेंसे धीरे धीरे अपना सुंदर चदन दिखा देनेवाली उषा, उसके पीछे आकाश पुरुषके समान नित्य-नियमसे आगमन करनेवाला सूर्य, आकाशके मेघरूपी वृकासुरका ताड़न कर झरझरी वर्षा करनेवाले और जल, वृण, धान्य, फल, पुष्पको उत्पन्न करनेमें सहायक इन्द्र, संपूर्ण वस्तुओंको प्रबंध वेगसे उड़ाकर छेजानेवाले मरुदेव, अपने अर्धकर रूपसे बनके बन जलाकर स्वाहा कर देनेवाले और सौम्यरूपसे अपने ज्वालारूपी करोंके द्वारा यात्रकोंका हविर्भाग ग्रहण करनेवाले अग्निदेव आदि सब सृष्टि-देव थे । पीछे धीरे धीरे इनकी संख्या कम होने लगी और काळा-सममें केवल पंचासुतोके मुख्य पाचही देवता रह गये । इसके बाद सबका "सूक्ष्म पुण्य पृथ्वी ईश्वर है यह विश्वास दृढ़ हुआ और " सर्व सूतानां हृदये-र्धुन तिष्ठति " का सिद्धांत सर्व मान्य हुआ । इससे भी आगे जाकर उस ईश्वरकी स्वरूप चिकित्साका पर्यवसान ब्रह्म तत्त्वमें होता है, वह माननेवाले औपनिषदिक तत्त्वज्ञानका उद्भव हुआ । इसका विवेचन आगे होगा; परन्तु इस प्रणालीके द्वारा उक्त सिद्धान्तका समर्थन होता है । इस सिद्धांत अथवा तत्त्वको प्रतिबिंब तत्त्व (Law of Reflexion) कह सकते हैं क्योंकि मनुष्यकी धर्म भावना इस तत्त्वके अनुसार तत्कालीन ज्ञान, अनुभव, आदिके प्रति-बिंबरूप होती है । यह प्रतिबिंब तत्त्व ही धर्मभावनाका पहिला आधार है ।

उक्त प्रतिबिंब तत्त्वके समान एक और दूसरा महत्त्वका तत्त्व धर्मभावनाकी जड़में है । इसका नाम " समीकरण तत्त्व " (Laws of Balance) रखा जा उचित होगा । इसके संबंधमें पीछे विवेचन किया जा चुका है । पर-मेश्वरके निर्माण लिये हुए आस्तिक विश्वमें हजारों प्रकारकी शक्तियाँ अपनी ओरसे और अपनी दिशासे कार्यकर रहीं हैं परन्तु सबके समीकरणसे ही जगत्को स्थिरता प्राप्त हुई है । एक तराजूके दोनों पलकोंमें अवतक विषम वजनकी वस्तुएँ होती हैं तबतक तराजूको स्थिरता प्राप्त नहीं होती । अधिक-वजनके समीकरणके लिये कम वजनकी ओर उतगना ही वजन मिला देनेसे

उसे स्थिरता प्राप्त हो जाती है । रेलवेके इंजिनमें उत्पन्न होनेवाली भाफसे रेलवे ट्रेन चलती है परन्तु यदि पीछेसे ब्रेक नहीं कमा जाय तो वह स्टेशन आनेपर भी चलती ही रहेगी, उदरेगी नहीं । पृथ्वीके अंगमें आकर्षण शक्ति होनेसे मनुष्यके वर्तुलाकार चलनेसे मनुष्य नहीं गिरता सूर्य आलोकिके ग्रह यदि केवल अपनी अपनी ही गतिसे चलने लगे तो ग्रहमाला कभी नहीं टिक सके क्योंकि फिर ग्रह आकाशमें कहीं न कहीं अंतर्धान ही हो जाँव परंतु एक ग्रहके आकर्षणसे दूसरे ग्रहका समीकरण होता रहता है । स्थूल सृष्टिमें भी डिस्कार्ड पड़ता है कि मनका वेग किसी मार्ग विशेषमें दौड़ने लगता है उस समय उसे रोकनेकी यदि दूसरी प्रतिबंधक शक्ति न हो अथवा उस मनुष्यके मस्तिष्ककी उष्मा बिना श्लेष्टियाकी चौकाके समान हो जाय । जैसे कि व्यावहारिक मनुष्यकी यह स्वाभाविक इच्छा होती है कि, सुप्रशासिके अर्थ ब्रह्म संपादन किया जाय । इस इच्छाका नियमन करनेवाली यदि सारासार विचारशक्ति नहीं हो तो मनुष्य ब्रह्म प्राप्तिके लिये चोरी, डाँके खून आदि दुरुष्कृत्य करनेमें भी आगा पीछा नहीं सोच सकेगा । यदि कानूनके द्वारा यह नहीं उद्धारया जाता कि कोई मनुष्य अन्य मनुष्यका अपकर्षण करेगा तो उसे दंड होगा तो मनुष्य प्रवृत्तिमें रोक कभी न हुई होती । सारासा यह है कि मानसिक, शारीरिक, भौतिक आदि प्रत्येक शक्तिको नियमन करनेवाली यदि दूसरी शक्ति न हो तो अंततमें स्थिरता ही नहीं आ सकती । और इन्हींलिये सृष्टिमें आकर्षण शक्तिकी योजना की गई है । नहीं दो परस्पर विरुद्ध शक्तियोंका समीकरण करनेवाला, अगतता अतत अस्तित्व संबंधी महत्त्वका उत्पन्न है ।

यह उत्पन्न धर्म-साधनाकी कल्पनाके लिये प्रयुक्ततासे आचारसूत्र है, इसकी परीक्षा करनेके पहिले एक धर्मका निरक्षण कर लेना आवश्यक है । ऊपर समीकरण एक स्वतंत्र तत्त्व माना गया है । परन्तु उत्क्रान्ति-सत्त्व-वादि-चौका इसके विरुद्ध यह आक्षेप है कि यह स्वतंत्र तत्त्व न हो कर उत्क्रान्तिके तत्त्वसेही निकलनेवाला उपसिद्धांत है । यह आनेके लिये यहाँ उत्क्रान्ति तत्त्वकी पुनरावृत्ति करना होगी । इस उत्क्रान्ति तत्त्वके पुरस्कृत-ओंके मतानुसार विश्वका अत्यल्प घटक परमाणु है । पहिले अनेक परमाणु मिलकर एक समूह बनता है फिर अनेक समूहोंके एकत्रित होनेपर कुछ आकृति धारण करनेवाले पदार्थकी रचना होती है । इस तत्त्वके मतानुपायियोंका

कहना है कि इन परमाणु और परमाणु समूहके एकत्रित होनेकी क्रियामें ही समीकरण तत्त्वका अंतर्भाव होता है क्योंकि परमाणु समूह इसी प्रक्रियासे एकत्रित होते हैं कि परमाणुको एकत्रित करनेवाली आकर्षण शक्तिका उन्हें धृक् करनेवाली अपकर्षण शक्तिसे समीकरण होता है । जैसे मान लो कि एकद्वीके दो टुकड़े एक दूसरेमें मिलाकर एक बीच करना है इनमेंसे एक चौकोन है और दूसरा गोला है । गोल टुकड़ेमें बहुत परिवारके सरल न होने रूप अपकर्षण अथवा प्रतीकार शक्ति, आकर्षण शक्तिकी अपेक्षा अधिक रहती है इसलिये वस्तुकी परिवार सरल न होनेके कारण उन दोनों टुकड़ोंका मेल नहीं बैठता परन्तु वेही दो टुकड़े यदि चौकोन हों तो दोनोंका कुछ मात्र समान होनेके कारण आकर्षण अथवा अपकर्षण शक्तिका समीकरण हो सकता है और दोनों मिलाकर एक हो सकते हैं । इस प्रकार उच्छ्रंतिके तत्त्वमेही सहजरीत्या समीकरणके तत्त्वका अंतर्भाव हो जाता है । अनुकूल प्रतिकूल परिस्थितिके समीकरणसे ही उन्नत आरम्भ आदि सृष्टियों निर्माण होती हैं । जैसे कि शिलापर वृक्ष उत्पन्न नहीं होते क्योंकि वृक्षको पोषण करनेवाली परिस्थिति शिलाकी अपकर्षण शक्तिके कारण अतिकूल हो जाती है । परन्तु मिट्टीकी अपकर्षण शक्तिका वृक्षकी आकर्षण शक्तिसे समीकरण हो जाता है । और वृक्ष उत्पन्न होता है । अतएव उच्छ्रान्तिवादी समीकरण तत्त्वको स्वतंत्र न बना कर उत्क्रान्ति तत्त्वकाही उपनियमन करता है ।

वास्तवमें देखा जाय तो उनके इस आक्षेपमें ही उनका उत्तर है । उच्छ्रान्तिकी प्रत्येक क्रियामें जो पूर्णतया समीकरण तत्त्व दिखालाई पड़ता उसका अर्थ ही यह है कि समीकरण रूपी आद्य-तत्त्वके अनुसारही उच्छ्रान्तिकी प्रक्रिया होती है इस कारण समीकरणको ही आद्यत्व और महत्त्व प्राप्त होता है । आन्विक समाधानकी अपेक्षा दूसरा भी इसका एक सबल कारण है । यह यह कि उच्छ्रान्ति तत्त्वकी व्याप्तिकी अपेक्षा समीकरण तत्त्वकी व्याप्ति अधिक विस्तृत है यह एक ही बातसे ध्यानमें आ जायगा । गत आधि-भौतिक शास्त्रके विवेचनमें सर आल्फ्रेड हार्ले के निष्कर्ष स्वरूप उद्गार उद्धृत किये गये हैं कि परमाणुओंके द्वारा विश्वके जड़ पदार्थोंकी वृद्धि और प्रक्रिया उच्छ्रान्ति तत्त्व प्रकट कर सकता है । परन्तु यह तत्त्व जलपतन रजो विन्दुके द्वारा प्राण तत्त्वका उत्पन्न सिद्ध नहीं कर सकता । प्राण, बुद्धि, मन, आदिके जड़ सृष्टि द्वारा उत्पन्न होनेकी सिद्धि करनेवाले सब प्रबल निष्कर्ष-

होते हैं । सारास्य यह कि उच्छ्रान्ति तत्त्वकी व्याप्ति बड़ सुदृष्टि भाने गयी है । परन्तु समीकरण तत्त्वपर बड़ और चैतन्य, स्थूल और अतीन्द्रिय सृष्टिके भी व्यापार चकते हैं ऐसी दृश्यां उच्छ्रान्ति तत्त्व, समीकरण तत्त्वके महात् कैसे हो सकता है ? कमी नहीं हो सकता, किन्तु उच्छ्रान्ति तत्त्वकी समीकरण तत्त्वका एक उपसिद्धान्त है यही कहना उचित होगा ।

इस प्रकार समीकरण तत्त्वका स्वरूप और उच्छ्रान्ति तत्त्वसे उसका अन्वित महत्त्व सिद्ध हो जाने पर देखना है कि यह तत्त्व धर्म फलपनाके लिये आधारभूत किस प्रकार हो सकता है ? प्रत्येक मनुष्य यदि स्वतन्त्रे अनुभव परसे देखेगा तो उसे विदित होगा, कि इच्छा, आत्मा, कल्पना, महत्त्वाकांक्षा आदि प्रत्येक मनुष्यमें अपार होती हैं । परन्तु उसकी पूर्तिकी शान्पता, जगतकी परिमितता इव, चारों ओरकी परिस्थितिकी अनुकूलतापर अवलंबित है । प्रत्येक मनुष्यको राजा महाराजा अथवा बाबूसाह होनेकी इच्छा होती है । परन्तु वेसे होनेकी शान्पता न होनेसे मनुष्य अपनी इच्छा कम कर उसका क्षयवादाशयतासे समीकरण करता है । यदि ऐसा न होता तो अमात्य वस्तुकी भाष्टिके अर्थ किसे गये प्रयत्नसे और अंतमें होनेवाली निराशासे मनुष्य हताश हो गया होता । इवाहं विकृतपर चढकर मनुष्य अब ऊपर जाता है । तब वह विमानको भारी रहनेके लिये बाह्य रेशसे भारी हुई बेकिया अपने साथ रखाता है । सब ऊपर चढते चढते उसे यह भावम हो जाता है कि जिस वेगसे चढ रहे हैं वह वेग ऊपर जानेपर भी सहन हो सकेगा तब वह बाह्यकी उन बेकियोसे कुछ बेकिया भीचे फेंक देता है और इस प्रकार अपना बोझ कम कर देता है । और जब उसे यह भावम होता है कि वेग सहन नहीं हो सकेगा । तब वह उन बाह्य रेशकी बेकियोसे वेग कम करता है । अर्थात् विमानकी गति और वेग सहन करनेकी शक्तिका यह प्रति सम्य समीकरण करता रहता है ।

सामाजिकतत्त्वका विचारकर मनुष्य भौतिक सृष्टिके सुदोपभोगके स्वयंसे अपने मनको शोकता है । यद्यपि उसकी दिक्कावादिसे परिमितता न होनेवाली अनन्त सुखकी आकांक्षा नष्ट नहीं होती । तो भी मनुष्य यह भी दिन निकल जाँवगे, यह कहकर अपना समाधान कर लेता है । उसकी इस अन्तमें कमी भी प्राप्त न हो सकनेवाले सुखोंकी इच्छाका समाधान करनेका साधन धर्म है । जिस प्रकार मनुष्य अपनी हृति और भौतिक सुखसाधनोंकी म्यून ताको कलावाक्के द्वारा पूर्णकर मानसिक सुखकी कमतरताको कल्पने

आस्वादनमे पूरी करता है । और अपनी दृष्टा य परिधिमानका समाकरण करता है । उसी प्रकार हम योगीनी व उनके साथ उन्निधानीत अर्थात् सुखकी कमीको अनुप्य धर्मरक्षणाने पूरी कर अपनी दृष्टाकी अपरिमितताका विधके अर्थात् सत्त्वसे समीकरण करता है । जब जरा भयम्भा प्राप्त होती है, गर्दन हिलने लगती और कानर देवी हो जाती है, तब समय अपना 'राज, राजा, छत्रपति, हाथिनके अलवार, सरना मयरो एक दिन अपनी अपनी धारकी धारी जाती है तब धर्मसे ही समाधान होता है । जन्म भर मुकृत करनेपर और उसका फल इस जन्ममें न मिलने पर यदि यह आशा न तो कि भविष्य जन्ममें उसका फल मिलेगा और भुगकी आत्मा पूर्ण होगी तो इन दुर्लोक मूल्य ही क्या रहेगा ? । रणक्षेत्रमें मरणाने पीर स्वर्गको जाते हैं, यह हिन्दू धर्मकी कल्पना अथवा मुसलमानों धर्मकी यह कल्पना कि पीरोंके लिये स्वर्गमें सुन्दर परिवार कुलोंकी भाला लिये गद्दी रहती है न होती तो अपने बाव दे-भका कल्याण होगा, इस अर्थ समाधान कारक बातके लिये भला कौन अपने आप देवाके लिये प्राण देनेको तयान होता ? । जब कि "हस्तो वा प्राक्पयसि स्वर्ग, जिवा वा मोक्ष्यमे माहीम्" कहकर अर्जुन जैसे प्रयुद्ध व्यक्तिको भी आलस्य विन्यास कहा तो आधारण पुरुषोंकी तो बात ही क्या ? । कुछ अनुप्य-को उनके दुष्कर्मोंके संबन्धमें धर्म-यातना अथवा नर्क-यातना भोगना पड़ेगी यह विचार यदि सर्व माधारणको न हो तो भला दुःखियोंसे कौन परावृत्त होगा ? । इस प्रकार धर्म रक्षणके द्वारा वर्तमान परिस्थितिमें अप्राप्य सुख-दुःखका अनुप्यकी आशा दृष्टासे समीकरण होता है ।

इस प्रमेय परसे यह स्पष्ट होता है कि मानवसमाजकी जिस समय जो किर्तिय परिस्थिति होती है उस समय समाजकी व्यक्तियोंकी भाषा और दृष्टा भी तदनुसारी होती है । और इन्हीं लिये उनका समीकरण करनेवाली धर्म-रक्षण भी उस समयकी परिस्थितिके समान होती है । यही निज निज धर्मोंके स्वरूपके अंतरका अथवा एकही धर्ममें समयानुसार किये हुए परिवर्तनोंका कारण है । इस संबन्धमें एक जो उदाहरण देनेसे इस कथनका विशय और अच्छी तरह हो जायगा ।

इन्नाह धर्मके अवस्थान्तरकी ओर देखनेसे तथा इतिहासके अवलोकनसे यह सहजमें साक्ष्य हो जाता है कि इस धर्मका उच्च रोमन साम्राज्यके

-समयमें हुआ है। उस समय रोमन साम्राज्यमें गुलामीकी पद्धति बहुत जोर धोरसे प्रचलित थी। जब धीझुक्राइडने अपने नवीन धर्मका उपदेश दिया उस समय रोममें यह याज्ञादिकी माननेवाला धर्म अस्तित्वमें था। और धीझुक्राइडकी दशा सांपत्तिक दृष्टिसे हीन थी। अतएव अधिकार और संपत्तिके गर्वसे फूले हुये श्रीमंत और कुलीन लोगोंको धीझुके नवीन धर्मको माननेकी कोई आवश्यकता नहीं थी। परन्तु गुलामीके भारसे दबे हुए गरीब लोगोंमें उन्हीके समान निर्बल व्यक्ति द्वारा उपदेशित धर्मके प्रति सुरंत प्रेम उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक था। उस समयके लोगोंके गुलामीकी असह्य यातनाओंसे दुःखी होनेके कारण ईसाई धर्मकी उस समयकी स्वर्ग कल्पना अथवा साध्य स्थितिका स्वरूप उस यातनासे मुक्त होनेकाही हुआ। उस समय उनके स्वर्गका स्वरूप यह था कि जहाँ अपनेको कोई खूसा नहीं भान सकेगा, जहाँ पीटकर चाकु मारनेवाला कोई नहीं है, हाथ पांव आदि शरीराधयव सोदनेवाला नहीं है, भूले रहनेके कारण क्रोधोन्मत्त सिंह व्याध्यादिको फेंकोड़िके समान चीरकर खा देनेवाला नहीं है, जहाँ क्रीडा क्षेत्रमें धन्य पशुओंके साथ वंशविप्लवके समान कोई क्रुस्ती करानेवाला नहीं है, स्वयं शीरोंकी आज्ञासे जैसे शरीरसे मनुष्यका शरीर बंधवाकर बागमें जका देनेवाका जहाँ कोई नहीं है वह स्वर्ग है। यह उस समयकी कल्पना थी। इसके बाद यूरोपमें मध्य-युगका प्रारंभ हुआ। इस युगमें यद्यपि गुलामीपन जोरदार औरपर नहीं था तो भी शारीरिक अथवा पशु-शाक्तिके बलपर ही जगतमें बहूप्यन, श्रेष्ठता, वैभव, आदि माने जाते थे। इस समय ईसाई धर्मकी उक्त कल्पना बढ़ गई। और उसके स्थान पर सत्कालीन कल्पनाका समीकरण करने योग्य नवीन कल्पनाका प्रादुर्भाव हुआ। और मानवीय श्रेष्ठता, जन्म, धन, अथवा अधिकारपर अकलबित्त न होकर सुख-आचरण सार्विक-वृत्ति तथा वैशिक बलपर अवलंबित है, ऐसा वह ईसाई धर्म उपदेश देने लगा। और यह उपदेश ही औसिक अधिकार व संपत्तिकी न्यूनतासे माने जानेवाली हीनताका समाधान करनेवाला होनेके कारण इस धर्मने यह प्रोपित किया कि सदाशारी सार्विक मनुष्योंको सुखके बाद इन गुणोंकी आवश्यक रूप साधुवृत्ति अथवा साधु स्थिति प्राप्त होती है। इस कारणसे जब समाजमें साधुओंका महत्त्व बहुत कुछ बढ़ गया। और यह इतना बढ़ा कि उनके बगवाने हुए मठों और भास की हुई संपत्तिसे राजा लोग भी ईर्ष्या करने लगे। इसके बाद

की तीसरी अवस्थामें ईसाई धर्ममें फिर अन्तर हुआ । इस समय यूरोपमें मनुष्यमात्रको स्वतंत्रता प्राप्त हुई । और सामाजिक, राजकीय एवं धार्मिक संबंध दृढ़ गये । तथा मनुष्य इच्छानुसार चलनेके लिये स्वतंत्र हो गया । यद्यपि ऊपर लिखी हुई विपमता इस समय नष्ट हो गई थी । परन्तु अगत्य रूढ़ी रैहदकी जड़में रही हुई विपमता कहीं जा सकती थी अतएव सृष्टि व्यापारानुसार सदा रहनेवाली द्रव्य विपयक विपमता वहां बनी ही रही । समाजहिसवादी लोगोंने द्रव्यके छम विभागके संबंधमें अनेक कल्पनार्थ की परंतु भीमंत और गरीब, पूंजीवाले और मजदूर, कक्षाधीश और मिथ्याधीश आदि जेद रह ही गये । इसीके समान बड़ीमें बनी और बड़ीमें निर्धन करनेवाली उद्योग पुण्यकी भी बनी रही । और आधुन्यकी क्षणभंगुरता एवं अज्ञानताके कारण पिता, पुत्र, बंधु, भगिनी, पति, पत्नी, दृष्ट मित्र आदिके प्रेम सूत्रोंके तदातद दृढनेका भी काम जारी रहा । इस समय इस कालके अनुकूल ईसाई धर्मकी साध्य कल्पनामें भी अन्तर हुआ । और इस प्रकार स्वर्गकी कल्पना की गई कि वहाँ धनवानोंकी उदात्त दृष्टियोंको स्थान नहीं है । और न निर्धनोके स्वाभिमानमें बाधा ही उपस्थित होती है । वहाँ कस्मिँ सदा स्थायी रहती है । और वहाँके प्रेमी, अखंड सहवास सुखका उपभोग करते हैं । इस प्रकार समीकरणके तत्वानुसार साध्यके स्वरूपमें समयानुकूल परिवर्तन ईसाई धर्ममें होता रहा ।

हिन्दू धर्मको उदाहरण मानकर यदि विचार किया जाय तो उसमें भी यही बात दृष्टिगोचर होती है । ऋग्वेदमें आर्य-संस्कृतिकी आद्य-स्थितिका यह वर्णन है कि उत्तर भुवके समान सदा हिमसे ढके रहनेवाले, सूर्य प्रकाश-रहित एव धान्य, पुण्य रहित प्रदेशसे निकलकर नन्दनवन समान रमणीक भारत भूमिमें जानेपर उनकी (आर्योंकी) उद्योग शास्त्रीको अपार क्षेत्र मिला । और उन्होंने गाय, बैल, और दूध असंख्य पशुओंका संग्रह किया । तथा जमीनको जोत-जोकरके वे धान्योत्पत्ति एवं धान्यवृद्धि करने लगे । साथमें इस देशके मूल निवासियोंका परामभ कर उनपर स्वामित्वभी स्थापित करने लगे । ऐसी परिस्थिति प्राप्त होनेके कारण उनकी धर्म-कल्पना भी इसीके अनुकूल बन गई । और वे देवताओंकी स्तुतिमें अपने लिये पशु, धान्य, पराक्रम, विजय, संतति, आरोग्य, आदिकी प्रार्थना करने लगे । और असुतामियेके समय ' दू राखा हो ' ऐसा आशीर्वाद देने लगे । उस समय माना जाता था कि मृत्युके बाद

आत्मा विविध यज्ञोंके दो कुत्तोंके पहरेसे छूटकर यमके दरबारमें जाता है । यदि उसने पाप किया हो तो वहाँसे उम्ने कुम्भीपात्रादि नर्कमें भेज देते हैं और पुण्य किया हो तो स्वर्गमें उम्ने संपत्ति, अधिकार, भाद्रिकी प्राप्ति होती है । कठोपनिषद्में कहा है कि नचिकेता, जम यमके दरबारमें गया तब यमने वह सत्य ज्ञान न भागे इस लिये सर्व साधारण जनोके प्रिय स्वर्गके सुगन्धी काष्ठच तिललाते हुए कहा किः—शतायुषः पुत्र पौत्रान्पुणीव्य बहून्पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान् । भूमेर्महदायतनं शुणीव्य, स्वयं च जीव शरदो यावद्वि-
 ष्णसि, अर्थात् नचिकेता । सौ वर्षोंकी आयु, बहुससे पुत्र-पौत्र अनेक पशु, हाथी, घोड़े, आदि, सुवर्ण, अधिकार और भूमिभाग और ज्यादहसे ज्यादह मितनी तुझे इच्छा हो उतनी आयु माग, इस भ्रममें उस यमकी कल्पना-
 के अनुसार सब प्रकारके सुखोंका प्रकीकरण किया गया है । भागे कहा है कि यदि इससे भी तुझे सतोष न हो तो “ये ये कामा दुर्लभा मर्त्य लोके, सर्वां कामा ष्छन्दत, प्रार्थयस्व । इमारामाः सरयाः सव्यां नहीदशा सं-
 भवीया मनुष्यैः । अर्थात् जो वस्तु मर्त्य लोकमें दुर्लभ है वह भी माग इस परसे यह सिद्ध होता है कि उस समयके आर्य लोगोकी यह साध्य कल्पना उनकी परिस्थितिके अनुसार थी । परन्तु भागे जाकर उनकी परिस्थिति पढल गई । उनका शासन जम गया । सभु हतम हो गये । धन धान्यकी समृद्धिके कारण मूल निवासियोंकी उन्हें कोई आवश्यकता नहीं रही । और भौतिक सुख प्राप्त होने पर भी अन्तःकरणको वास्तविक शान्तिका सुप्त प्राप्त नहीं होता, ऐसा उन्हें विश्वास हुआ । तब उनके धर्मका मुकाब दूसरी ओर बढ़ा और इसके साक्षिण्य, सहवास अथवा प्रकीकरणसे अटल सुख प्राप्त होता है, ऐसे पदार्थकी कल्पनाकी आवश्यकता उन्हें प्रतीत होने लगी । और इस प्रकारकी वस्तुका न मनुष्यका परस्परमें क्या संबंध हो, इसकी चिन्तना होने लगी । इस चिन्तनाको तत्त्वज्ञान कहते हैं । यह धर्मका उत्तर भाग है । धर्मज्ञ और तत्त्वज्ञानका यह पूर्वापर-भाव ध्यानमें रखकर ही इस समयके वादके दर्शनकारोंने धर्म-भागति पूर्वोक्त स्वर्गादि सुख प्राप्त करा देनेवाके मार्गका नाम पूर्व-मीमांसा रखा और नित्य कल्पनीय पदार्थोंकी पद्धतिका उत्तर भीमांसा नाम रखा । तत्त्वज्ञान, शब्द भी श्रेष्ठ पदार्थ और मनुष्यके सर्वधका वाचक है । इस ध्रुवमें उस श्रेष्ठ पदार्थको तत् शब्दसे उल्लिखित किया है ।

इस पर-वस्तुकी विक्रिस्ताका प्रारंभ, ऊपर कहे अनुसार आधिनौतिक सूत्रिके विनासत्वकी जानकारीके कारण हुआ है। अगतकी सबसे श्रेष्ठ और स्पष्टणीय वस्तुके नाशवान होनेके कारण उन्हें व्याप्य समस्त अमृत अथवा अविनाशी वस्तुको शोध करनेकी व उसका स्वरूप जाननेकी विज्ञानता जिस अवस्थामें तीव्र हुई होगी अधिकता, उसी अवस्थाका घोटक है। ऊपर कहे अनुसार यमके घर देनेकी इच्छा प्रगट करनेपर अधिकताने उसे स्वीकार न करते हुए कहा कि—

न विचेन सर्पणीयो मनुष्यः, लभ्यामहे विसमद्राक्षमवेत्वा, बीविष्या-
मो वावद्दीक्षित्ये तित्वं धरस्तुमे धरणीयः स पूव । अर्थात् धन चाहे तितना मिल सकता है पर संपत्तिसे मनुष्यका समाधान कभी नहीं हो सकता। अधिक तो क्या इच्छा होनेपर जीवन भी मिल सकता है परन्तु मुझे इनमेंसे कुछ नहीं चाहिये। मुझे तो मेरा मांगा हुआ ही घर अर्थात् पर-वस्तुका ज्ञान ही चाहिये।

इस मानसिक स्थितिमें सत्त्वज्ञानकी विक्रिस्ताका प्रारंभ हुआ। सृष्ट पदा-
शुद्धिके गुण-धर्म क्षणिक और अर्थात् होनेके कारण अक्षय, असीम और गुण विशिष्ट वस्तुके विषयमें पहिले पहिल कल्पना हुई। फिर वह किस प्रकार प्राप्त हो सकती है इसकी विवेचना लोग करने लगे। उस समय यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि उस वस्तुकी प्राप्तिसे क्या प्रयोजन होना चाहिये? स्वयन्त वस्तुओंकी प्राप्तिको मनुष्य उन उन वस्तुओंके रूपके ज्ञानसे समझ सकता है परन्तु अगम्य और अक्षयकी प्राप्तिका ज्ञान कैसे हो सकता है? वह वस्तु मनुष्य कल्पनाके अनुसार सर्व व्यापक होनेके कारण उसकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? यदि वह प्राप्त नहीं हो सकती तो मनुष्यको उसके पास जाना चाहिये। परंतु महम्मदके पास नहीं जाता तो महम्मदको परवतके पास जाना उचित है, इस कथावतके अनुसार मनुष्यको उस वस्तुके पास जाना उचित है। पर मनुष्य किस तरह जावे? मनुष्यसे प्रयोजन क्या? क्या उसकी पंचभौतिक देह जावे? परन्तु वह तो मृत्युके बाद चट हो जाती है तो मनुष्यके उस अगम्य वस्तुके पास जानेसे किसके जानेका प्रयोजन है? उत्तर यह है कि मनुष्यने जो अविनाशी वस्तु रही हुई है, जिसे आत्मा अथवा विज्जत्त्व (Individuality) कहते हैं, उस निराकार और निर्गुण वस्तुको उस अगम्य वस्तुके पास जाना चाहिये। इस कल्पना परसे आर्य सत्त्व-

ज्ञानकी साम्य-स्थितिकी उत्तरोत्तर श्रेष्ठ मानी जानेवाली चार उपपत्तिबोमिले प्रथम उपपत्ति अस्तित्वमें आई। इसे सलोत्ता युक्ति कहते हैं। मानों मर्य श्रेष्ठ परतत्त्वका एक साम्राज्य है अथवा लोक है। उस लोकमें जा उस पर-तत्त्वकी अखंड सेवा कर अक्षय सुखका उपभोग करना, यह धर्मकी आभ्यस्तिक कल्पना इस उपपत्तिले प्रगट हुई। इस मतके अनुसार यही युक्ति है। यह आर्य-तत्त्व-ज्ञानकी सोपान परंपरा की पहिली सीढ़ी है।

यह पहिली सीढ़ी भी अधिक विचारके बाद अधूरी मान्य होने लगी। क्योंकि केवल उस पर-तत्त्वके लोकमें रहनेसेही आत्माकी पर-तत्त्वके साथ रहनेकी सहवास-आलसा कैसे तृप्त हो सकती है ?। दूर देशमें रहनेवाले मनुष्यको उसके गावके जिस स्थानमें उसके बाल्यके, कुटुम्बी आदि रहते होंगे उस स्थान पर रहना अधिक आनन्ददायक हो सकता है; परन्तु केवल रहनेसे ही पूरा समाधान नहीं हो सकता। कवि कुल गुरु कलिदानके कहनेके अनुसार " अक्षयप्रणयिनस्तनयाम्बहसो । धन्यास्तद्वर्गरञ्जसा मलिनीम-
रंदि ॥" अपने बालकोको दूरसे देख लेनेकी अपेक्षा उनके पास जाकर उन्हें अपनी गोदीमें लेनेसे ही संतान प्रेमकी पूर्ति होती है। वसी प्रकार पर-तत्त्वके लोकमें जाने मात्रसे तृप्ति न होकर उसकी समीपता प्राप्त होनेकी इच्छाका होना स्वाभाविक है। इसी लिये सत्त्वज्ञानमें समीपतारूपी दूसरी सीढ़ीकी कल्पना की गई और परतत्त्वके विद्युत्सम समीप निरंतर साहचर्य भावसे रहते हुए, वैयक्तिक आत्माका जन्म मरणके फेरसे छुटकारा हो जाना ही आत्यंतिक सुख है, यह माननेवाले सत्त्वज्ञानका यह दूसरा पक्ष अस्तित्वमें आया। माध्व संप्रदाय इसी पक्षका पुरस्कर्ता है। पर-तत्त्व अथवा परमेश्वर, मनुष्यकी वैयक्तिक आत्मासे वस्तुतः भिन्न है। इन दोनोंका सेव्य सेवक संबंध है। इस संबंधको जान कर अगत्की क्षणिक यातोंका त्याग करनेसे अंतमें सर्वेश्वरके अथवा पर-तत्त्वके समीप आत्माको स्थान प्राप्त होगा, इस प्रकार इस मतकी विचार सरणी है।

जब कि परमेश्वर अथवा पर-तत्त्व जिसे परमहम भी कहते हैं नित्य शुद्ध और अधिकार्य है तो उसका निरंतर सहवास करनेकी इच्छा करने-वाला आत्मा भी उसी प्रकारका होना चाहिये। यदि दोनोंके स्वरूपमें भेद होगा तो वह भेद दोनोंकी परस्पर संगतिक कमी व कमी बाधक हो जायगा। इसके सिवाय पर-तत्त्वके शुद्ध स्वरूपको समझनेके

इसके आत्मामें वैसी ही शुद्धता और जगिनाशिव भी होना चाहिये । गत उपपत्तिके अनुसार यदि दोनोंमें भेद होगा तो एक दूसरेका स्वरूप समझमें न जा सकेगा । इन कारणोंसे तीसरी उपपत्ति अस्तित्वमें आई जिसके अनुसार यह उद्हराया गया कि पर तत्त्व और जीवात्माका स्वरूपैकत्व है । अर्थात् जीवोंका स्वरूप समान है । जीवात्मा, परमात्माका ही एक भंग है । जब तक यह संसारकी वासनाओंके सूक्ष्म देहसे आच्छादित रहता है, तब तक वह अपने मूल उद्गम स्थानको सूँछा रहता है । परंतु यह अभ्यास, वैराग्य, और अकिसे जीवात्मा अपने मूलको ढो सकता है । और फिर अपने निर्मल स्वरूपैक्यको जान कर निर्मल सुखका भित्तर अनुभव ले सकता है । जिस प्रकार आगीमेंसे निकली हुई धिनगारी आगीका ही भंग है । परन्तु राखसे ढंकी होने पर उसका स्वरूप भिन्न दिखता है और राखके दूर हो जाने पर उसका स्वरूपैक्य दिखलाई देने लगता है उसी प्रकार जीवात्मा और परमात्माका संबंध है इस मतका विवेचन अधिकतर रामानुजाचार्यने किया है । इनके मतको विशिष्टाद्वैत कहते हैं ।

• अंतमें इस तीसरी उपपत्तिके अनुसार माना हुआ परमात्मा और जीवात्माका सूक्ष्म भेद भी स्वीकार न होने पर केवल द्वैत पक्षकी उत्पत्ति हुई । निजत्वकी व्याप्ति जितनी विस्तृत होगी उतना ही उसका बड़ा भाव होगा इसके अनुसार यदि जीवात्माकी व्याप्ति परमात्माकी व्याप्तिके अनुसार बड़ा की जाय तो तत्त्वज्ञानकी भी यह एक प्रकारसे सीमा हो जाय । इसी अनुरोधसे शंकराचार्यने अद्वैत मतानुसार जीवात्मा और परमात्मामें विस्तृत भेद नहीं रखा है । उनके मतानुसार दोनों एक ही स्वरूपके हैं । और इतना ही नहीं किंतु प्रत्यक्षमें एक हैं । उनको दो कहना केवल व्यावहारिक भाषा है । यह भाषा-व्यवहार, प्रबंधके कारण करना पड़ता है । प्रबंध और जगतका विस्तार सब असत्य और भ्रममय हैं । यह भाषा है । इसके दूर हो जाने पर ' मैं ही परम तत्त्व हूँ ' । मैं ही परमस्य हूँ ' जदं ब्रह्मास्मि ' अथवा ' तत्त्वमसि ' की स्थिति प्राप्त होती है । यह आर्य-शास्त्रोंकी अंतिम उपपत्ति है । ईश्वर और मनुष्यके संबन्धके इन चार सार्योंमें दूसरी अनेक उपपत्तियोंका समावेश हो सकता है । इन चार सीदियोंसे तत्त्व-ज्ञानकी एक नयेवी बनती है । यद्यपि यह ठीक है कि कालानुक्रमकी दृष्टिसे उक्त विचारसरणीके पुरस्कर्त्योंमें पूर्वा पर भाव नहीं हैं परन्तु भाववी विचारों

हरणीके क्रमसे यह सत्य मालूम होगी । इस परमे अपना मुख्य निदान उत्तम रीतिसे निरूढ होता है । अर्थात् जिन जिन प्रकार समाजकी मानविक नैतिक आदि स्थिति बदलती है वसी प्रकार समाजकी धर्म कल्पनाएँ भी बनती जाती हैं । सफ़ालीन सुगुहू गामक परिस्थिति और समाजकी भावी आशा, इच्छा व महत्वाकांक्षा इन दोनोंका जिन कारणभूमि समीकरण होता है उन कारणभूमिको ही उस घाटके धर्म और तत्त्व-ज्ञानका स्वरूप प्राप्त होता है ।

थोड़ी उपरी सोर पर देखनेसे इस विचारधरणीमें बौद्ध धर्मका उदाहरण अथ बाह्यत्मक विद्वत्ताई पढ़ता है । इस धर्ममें सबसे अन्तकी स्थिति अथवा निर्वाण पूर्ण नाश हो जानेकी स्थितिको माना है । इसपरसे यह प्रश्न हो सकता है कि जब उस मतमें आत्माकाणी अस्तित्व नहीं माना है तो अनुपपत्ती अविप्यकाल सत्यकी भासा, और इस जगत्में प्रत्यक्ष दिखलाई पड़नेवाली आदि व्याधि युक्त दुःखमय स्थिति, इन दोनोंका समीकरण याँत धर्ममें किम प्रकार होता है । 'राशिर्गमिष्यति अविप्यति सुप्रमातम् । आस्थानुवेत्यति दमिष्यति पशुवाक ।' इस श्लोकार्थमें कहे अनुसार प्रमात होनेपर कमल प्रफुल्लित होगा; उसमें वहीकमसे पडा हुआ मीरा उठ जायगा, इस कहनेके पारिरे यदि 'गज वज्रहार' हाथीमें उस कमलको ही छोड़ डाला 'इसका भान हो गया होता तो पाहिँके अर्द्ध श्लोकमें प्रगट किया हुआ आशा-सुख कभी नहीं होता । उसी प्रकार 'आयुष्याधि विभोग ह्ये सद्दितं सेवतिनिर्मायते' जैसी आयुष्यमें अपूर्ण रहनेवाली इच्छाओंको सुप्त करनेकी आशा करनेवाला प्राणी यह सुन कर कि 'दे नष्ट ही हो जायगा' कभी प्रसन्न नहीं होगा । अतएव बौद्ध धर्म अपवादात्मक है । परंतु यह धाँका निर्मूल है । समझ है कि बुद्धके मन्में तास्विक कल्पना इसी प्रकारकी रही हो । परंतु प्राकृत-जन्-समाजका विश्वास ऐसा नहीं था, इसी किये आगे जाकर (बुद्धके उपदेशोंमें समीकरण तत्त्वे अभावके कारण) बुद्ध धर्मकी शास्त्रात्म्य महापान पंथका आविर्भाव हुआ । जो नि बुद्धके मूल उपदेशोंको हीन समझता था । इस महापान पंथमें बुद्धको ईश्वर मान कर उसे अविनाशी माना और यह सदा सत्यरूपी है तथा धर्म कृत्योंके किये समय समयपर अवतार देता है यह कल्पना की गई । अतएव यह भी माना गया कि बुद्धके बाद सर्वस्व भास न हो कर अन्त मर हुरा प्रान करनेवाली व्यक्ति भी बुद्धकी मूर्तिले स्वर्गको प्राप्त होती है । अर्थात्

अतृप्त वासनाओंको सुप्त करनेके लिये स्वर्गकी और स्वर्गके सुख भोगनेके लिये आत्माके अधिनाशित्वकी कल्पना की गई और इस प्रकार इस बौद्ध धर्मके उद्गाहरणसे भी समीकरण तत्त्व सिद्ध हुआ ।

धर्मके स्वरूपका निरीक्षण करते करते तत्त्वज्ञानमें प्रवेश करनेपर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इन दोनोंका परस्पर संबन्ध क्या है ? इसका उत्तर यही है कि तत्त्वतः इन दोनोंमें अन्तर नहीं है । अन्तर जो पड़ता है वह केवल कल्पना ग्रहण करनेवालोंके अधिकारपरत्वके कारण पड़ता है । साधारण जनसमाजको धर्मके आचरणीय भाग और स्थूल कल्पनासे संतोष होता है और सुशिक्षित या विचारवान् लोगोंको तत्त्वज्ञानसे होता है ।

तत्त्वज्ञान यदि विद्वानोंका धर्म है तो धर्म, साधारण जनसमाजका तत्त्वज्ञान है । दोनोंका अधिकरण स्थान यही बुद्ध बुद्ध नित्य ईश्वर ही है । जितके समाप्तमें जितना भाग जाता है उतनाही वह ग्रहण करता है ।

इस प्रकार धर्मसाधनके विचारके आधाररूप दो सिद्धान्तोंकी परीक्षा धर्मके त्रिविधरूप—देवताओंकी संस्था, देवताओंका स्वरूप—देवताओं और मनुष्योंके संबन्ध—की विवेचनाके द्वाराकी गई । अब इसकी विहंगरी—रूप—उड़ती हुई नगरसे—परीक्षा करेंगे कि मनुष्य जाति पर धर्मके सामाजिक और मानसिक कौन कौनसे परिणाम होते हैं ? ।

धर्मसे पहिला कार्य तो यह होता है कि मनुष्यके अगतकी उत्पत्ति और उसके प्रसारके संबन्धमें जो विचार होते हैं, उनका समाधान हो जाता है । यह समाधान बुद्धिके विकास पर अवलंबित रहता है । संस्कृतिकी प्रारंभिक अवस्थामें प्रत्येक सृष्ट पदार्थको और उसके व्यापार चरानेवाले को देवता मानना बुद्धिप्राप्त होनेके कारण धर्म तदनु रूप विवेचन करता है । इसके बाद स्थूल पदार्थोंका देवत्व नष्ट होकर उनके अंतर्भागमें ईश्वर शक्ति युक्त देवताकी कल्पना होती है । और वह अपने अदृश्य स्वरूप और सामर्थ्यकी कल्पनाके साधर्म्यके कारण मनुष्यकी बुद्धिके लिये समाधान-कारक होती है । इससे जातेकी अवस्थामें एकान्तक ईश्वरकी अनेक रूपात्मक शक्तियोंके द्वारा अगतके अस्तित्व चमत्कार होनेकी कल्पना धर्मके द्वारा प्रचारमें आती है और अंतमें ज्ञाता और ज्ञेय, दोनों ज्ञान-स्वरूप हैं, इस बुद्धिके समाधान करनेवाले अर्न्तत सुख तत्त्व-ज्ञानका उदय होता है । सर

यह है धर्म, बुद्धिकी प्रत्येक अवस्थामें उसकी शंकाओंको निरसन कर उसी समाधान करनेका कार्य करता है ।

बुद्धिका समाधान करनेके समान ही अंतःकरण और मनोभावनाओंके समाधान करनेका भी कार्य धर्मका ही है । तत्त्वज्ञानसे धर्मका उक्त पहिला कार्य हुआ है । और धर्मके बहुजन प्रिय स्वरूपके कारण उसका यह दूसरा कार्य हुआ है । परमेश्वरकी स्तुति करनेसे पापोंका क्षासन होता है, वर्तमानके दुःखोंका बदला भविष्यकी सुख वरूपनाओंसे चुक जाता है, जीवनके दुःख, स्वर्गके इन्द्रकी अप्सराओं अथवा अमृत प्राप्तिके विचारोंसे भूख खाते हैं और इस जन्ममें भोगे हुए क्षणोंके दुःखोंका भविष्यमें बदला देनेके विद्यासे, अंतःकरणको सुख, समाधान और शान्ति प्राप्त होती है ।

धर्मकी वरूपनासे चित्तको एक प्रकारकी स्थिरता प्राप्त होती है । यह धर्मका तीसरा कार्य है । जिस प्रकार धर्मसे बुद्धि और अंतःकरणका समाधान होता है उसी प्रकार सृष्टि निर्धताकी अगाध शक्तिके कारण धार्मिक वरूपनासे मनमें सप्रेम भीति और विस्मय उत्पन्न होता है । जिससे यह विधीत बन जाता है । उस अगाध शक्तिके जाने अपना क्या क्या कर सकता है ? तीन खरका राज्य करनेवाले राजा सरीसे पुरुष और क्षात्राधिकारों तक अगतपर शासन करनेवाले रोम, ग्रीस वगैरहकी साम्राज्य संस्थाएँ जिस विस्मयका कारण कारसमुद्रमें डूबने लगीं वस सत्ताके अधिकार और उसकी निर्धनता शक्ति बहुत प्रबल है । उसके द्वारा क्षुद्र जीवोंसे लेकर महान् प्राणियों तक सबको न्याय मिलता है । और उसके जाने श्रेष्ठ व कनिष्ठ, नीच और ऊँच सब समान है । इन विचारोंसे चित्तको स्थिरता प्राप्त होती है । उच्छास्तिकी उपपत्तिसे विश्व-रचनाका नियम अछे ही प्रगट किया जा सके परन्तु उसके द्वारा यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कि सृष्टि पदार्थ भविष्यमें अनुकही रूप धारण करेंगे । गुलाबीके रूपमेंसे स्वर्तंत्रता, स्वार्थमेंसे स्वार्थ रहितता, अपने आदर, पशुमेमन सान्त्विकता, जीवन कलहमें सहस्यु का रक्षण आदि प्रकारसे सृष्टि पदार्थोंका उच्छसन होगा और यह कम सदा चलता रहेगा इस प्रकारकी सप्रेम स्थिरता कानेका आधार क्या उग्रप्रसिद्धके सत्त्वोंमें है ? । उग्रप्रसिद्धके तत्त्व केवल अनुभव जन्म हैं । और सृष्टिमें विधिप्रता और नियम अंशुरता है । पेशी दक्षामें अनुभव परसे उग्रप्रसिद्ध हृष्ट नियमोंमें सृष्टिनी नियम अंशुरता एवं विधिप्रताके कारण धाया व स्थित

नहीं हो सकेगी इसका विश्वास क्या ?। परन्तु धर्मसे यह विश्वास होता है कि अमुक सुष्ट पदार्थ अमुक रूप धारण करेगा और उससे विचित्रो स्थिरता प्राप्त होती है ।

धर्ममें धर्मसे कर्तव्यको आकलन मिलता है । धर्म सदैव प्रवृत्ति-लक्षण है । अर्थात् धर्मसे कर्तव्य-कर्म करनेकी सदा प्रेरणा होती रहती है । परमेश्वरको भी किसी विशेष कारणके बिना जगतकी उत्पत्ति, स्थिति और लयका निरंतर कार्य करना पड़ता है तो उसके जगतके प्राणियोंको भी उसका अनुकरण करना चाहिये । और निरंतर कर्म करते रहना चाहिये । यदि इच्छाले नहीं किया हो तो अनिच्छा पूर्वक यह करावेगा । और उन इच्छा, अनिच्छा, पूर्वक किये हुए कर्मोंका फल प्राप्त होगा । अच्छे कर्मोंका अच्छा और बुरे कर्मोंका बुरा फल अवश्य प्राप्त होगा । इसलिये मनुष्यको सदा सत्कर्म और कर्तव्य करना ही चाहिये । धर्मके द्वारा इस प्रकारकी सम्प्रेरणा होती है । तत्त्वज्ञानमें भी वही निष्कर्ष निकाला गया है । बृहदारण्यक उपनिषद्में ब्राह्मणवचनसे आरम्भकारव आर्षभागके मुखप्राप्तिका मार्ग पूछने पर ब्राह्मणवचनसे प्रसक्ततासे विचार कर यह ठहराया है कि 'कर्म हैव सद्ब्रह्मः । पुण्यो वै पुण्येव कर्मणा भवति । पापः पापेन ।' अर्थात् कर्म ही पूछे हुए प्रसक्त उत्तर है । पुण्य कर्मसे प्राणी पुण्यवाच होता है और पाप कर्मसे पापी होता है । कृत्योंके परिणामकी यह सरणी निश्चित हो जाने पर मनुष्यके सत्कर्मोंको प्रोत्साहन मिलता है । यही धर्मका अंतिम और महत्त्वका कार्य है ।

धर्म-परिणामका इस प्रकार वर्णन करते समय एक यह बड़ा प्रश्न उत्पन्न होता है कि निर्य व्यवहार और प्रतिदिनके आत्युप्यक्रममें धर्मका कार्य क्या है ?। अन्ते ही अप्रत्यक्ष रूपसे मन पर परिणाम उत्पन्न कर मनुष्य-कृति पर धर्मसे अपनी छाप लगादी हो परंतु प्रत्यक्षतः प्रतिदिवसे व्यवहारमें धर्म क्या कर सकता है ? इस प्रश्नके उत्तरमें अनेक शंकाएँ उत्पन्न होती हैं । पहिली शंका यह है कि धर्मकी प्रक्रिया जो ऊपर कही गई है उसके अनुसार सुष्ट धर्मकारोंके रहस्यको न जाननेके कारण मनुष्य उन धर्मकारोंमें अपने ही समान देवतात्मक शक्तिकी योजना करता है । परन्तु आधिभौतिक धर्मकारोंके द्वारा धर्मों धर्मों धर्मकारोंके रहस्यका उद्घाटन होता जाता है धर्मों धर्मों देवताओंकी संख्या कम होती जाती है । तो कभी देवता भी समय

आवेगा कि जब बहुत ही कम सुष्ट चमत्कार ऐसे रह जावेंगे, जिन्हें भौतिक शास्त्रने हट न किये हों । और ऐसी दृष्टामें धर्मकी व्याप्ति भी बहुत कम रह आवेगी क्योंकि उस समय भौतिक शास्त्रोंके द्वारा मनुष्यकी प्रायः सब इच्छाएँ पूर्ण हो सकनेके कारण इष्ट वस्तुकी प्राप्तिके अर्थ देवताओंकी प्रार्थना करनेका कोई कारण ही न रहेगा । केवल तात्त्विक दृष्टिसे अगाध आधि कारण माने जानेवाले परमेश्वरको, उसकी अगाध सामर्थ्य, कृपा और अमित गुणोंके कारण स्तुति करनेका ही अवसर रहेगा । अर्थात् उस समय धर्मके आचार भागकी आवश्यकता ही नहीं रहेगी ।

मनुष्य अपनी कृतियों द्वारा जो प्राप्त नहीं कर सकता वह देवता देते हैं, यह एक धार्मिक कल्पना है । परन्तु सुष्ट-ज्ञानसे जब वे वस्तुएँ प्राप्त होने लगेंगी तब धर्मके एक अंगके ही नष्ट हो जानेकी संभावना है । यह दूसरी शंका है ।

तीसरी शंका यह है, कि मनुष्य, परमेश्वरके कोपके भयसे धर्म करनेको प्रवृत्त होता है । दुष्काल, रोग आदिकी तथा धम-धातनाकी भीतिसे मनुष्य परमेश्वरका स्तवन व अन्य प्रकारके धर्म कृत्य करता है । जब भौतिक ज्ञानके द्वारा आपत्तियाँ भी दूर करनेकी सामर्थ्य मनुष्यमें उत्पन्न हो आवेगी तब ईश्वरको कौन पूजेगा ? और कौन फिर नर्कसे डरेगा ? ।

एक शंका यह होती है कि समाजके सब मनुष्योंके मन समान नहीं होते । धर्मका आधार बुद्धि और अंश-करणकी भावनापर अवलंबित है । परन्तु ऐसी भी कितनी व्यक्तिगण हैं जो इनके विकारोंके बन्ध नहीं होतीं । ऐसे लोग थोड़े नहीं है जो अपने नित्यके व्यवहार स्वार्थ दृष्टिसे करते हैं और बहुत हुआ तो नीति, अनीतिका विचार कर लेते हैं । वस इससे अधिक वे ईश्वरके अस्तित्वके अंगदेमें नहीं पड़ते । वे लोग धर्मका विचार विस्मृत न कर अपनी आयु पूर्ण करते हैं । संभव है कि कुछ समयके बाद इस प्रकारके मनुष्योंका ही सर्व साधारण समाज बन जाय और इनके सिवाय धमको माननेवाले लोग अज्ञानी अथवा तीव्र भावनावाले माने जाने लेंगे । ऐसी अवस्थामें सार्वत्रिक व्याप्तिके सर्वको याचा आवेगी । और धर्म व व्यवहारका नित्य संबंध माननेका कोई कारण नहीं रहेगा ।

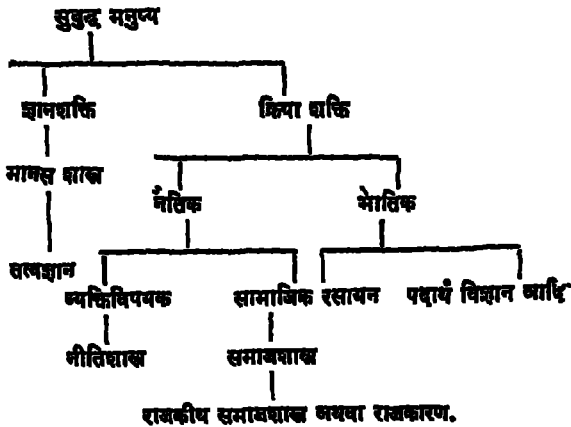
अंतमें ऐसी भी शंका उपस्थित होती है कि धर्म, कुछ माने हुए सर्वोंका संग्रह होनेके कारण कुछ समय बाद जब उन सर्वोंका अर्थ-बोध नहीं होता तब

उन तत्त्वोंको माननेवाले लोगोंमें नीति, अनीतिका प्रेम न रहकर एक प्रकारका सुरामह उत्पन्न हो जाता है । और धर्मके नामसे अनेक अधर्म कृत्य किये जाते हैं । मुसलमान और क्रिश्चियनोंके धर्मसंबंधी बुद्ध, प्रॉटेस्टेण्ट और कैथोलिक पक्षोंने धर्मका नाम लेकर किया हुआ हजारों मनुष्योंका बध और मुसलमानोंके भारतमें किये हुए धार्मिक अत्याचार यदि धर्मही माने जावें तो धर्मकी व्याख्या ही ठस्टी करनी पड़ेगी । और ऐसी दृष्टामें धर्म न होनेकी अपेक्षा विशिष्ट धर्मका होना अधिक घातक मानना पड़ेगा ।

इन सब हांकाओंका निष्कर्ष यह है कि दिनपर दिन गित्य व्यवहारके राज्यमें धर्मका क्षेत्र कम होता जाता है और एक दिन ऐसा समय आवेगा जब कि उक्त अङ्गुचनोंके कारण धर्मकी कहीं स्थान ही नहीं रहेगा । उसका उचर इतनाही है कि धर्म, अपने प्राचीन अर्थसे तो दिनपर दिन वास्तवमें कम होता आत्यागा परंतु सम्पूर्ण सृष्टिके आदि कारणसे मनुष्यजातिके संबंधकी कृतज्ञता पूर्वक जानकारी उत्पन्न करनेवाले अर्थका शोचक धर्म, सृष्टिमें निरंतर वास करेगा । यह निःसंशय है ।

इस प्रकार इस प्रकरणमें धर्म विषयक विभागका विचार किया गया है । धर्म कल्पनाकी उच्छ्रान्तिपर विचार करते समय यह निश्चित किया गया है कि पहिले पहिल, धर्म आचारप्रधान होता है । फिर धर्मके इस आचार भागसे मनुष्यका समाधान न होनेके कारण तथा सृष्टिके आदि तत्त्वसे समरस होने रूप धर्मके उद्देश्यकी प्राप्तिके कार्यमें आचरण, नैतिक परिस्थिति, सामाजिक बधन आदिके द्वारा प्रतिबंध उपस्थित होनेके कारण मनुष्य धर्मके तत्त्वज्ञान रूप भागकी ओर झुकता है । इस मार्गमें गमन करते समय वह बहुसंखी उपाधियां विकसित ढालता है । और अनेक बंधन तोड़ ढालता है । धर्ममें मैं सम्पूर्ण स्वतंत्र हूँ, मुझे समान अथवा सृष्टि भी बद्ध नहीं कर सकती इस तत्त्वको यह पहिचान लेता है । इस पद्धतिमें भी व्यक्तिका बंध-विमोचन ही सुधारणका मुख्य लक्षण दृग्गोचर होता है । और इस धर्मकल्पनामें वैयक्तिक-स्वातंत्र्य पूर्णतया भाया जाता है । इस लिये यह विष्णु होता है कि ऐसी स्थिति प्राप्त होना ही सम्पूर्ण सुधारणा है ।

प्रकरण चौथा.
राजकीय अनुशासन.



सर्वांगीण प्रगतिही वास्तविक सुधारणा है। जिस प्रकार शरीरमें रक्त विगड़ जानेपर वह फुंसियोंके रूपमें बाहिर निकलता है, उस समय यदि सर्वांगके रक्तकी शुद्धिका उपाय न कर केवल एकाही फुंसीकीही मजहम पट्टी की बाप तो रोगका प्रतीकार नहीं होता उसी प्रकार सामाजिक विकारोंकी चारों ओरसे विकसिता होनेपरही राष्ट्री वास्तविक प्रगति हो सकती है। समाजके अन्य अनेक जंगोंमें एक राजनैतिक जंग भी है जो कि मुख्य जंग है। राजनीतिशास्त्रका अन्य शास्त्रोंसे जो संबंध है उसको बतलानेके लिये सर त्रैकरिक पोछाकने एक कोष्टक बनाया है। जिसका अनुनाठ इस प्रकरणके आरम्भमें दिया गया है। राज्य करनेकी सार्वत्रिक पद्धतियोंके मुख्य मुख्य तत्त्वोंका प्रकीर्ण ही राजनीति है। जगतके प्रारंभसे अब अब कुछ मनुष्योंका समूह जहाँ जहाँ एकत्रित हुआ होगा वहाँ वहाँ और तब तब

उनके परस्पर संबंधको निश्चित करनेकी कुछ न कुछ योजना हुई होगी । प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता मैरिन्टॉलने कहा है कि " मनुष्य राजकीय प्राणी है " । यह ठीक है कि मनुष्यका यह परस्पर संबंध काल और परिस्थितिके अनुसार बदलते रहता है । आरंभमें भी वह किसी न किसी तत्त्वपर निश्चित हुआ ही होगा । इस संबंधमें यदि प्रारंभिक स्थितिके वर्णनपर विचार किया जाय तो निर्णयके बाद यह मालूम होगा कि मनुष्य समूहको राष्ट्र संज्ञा प्राप्त होनेके लिये छह बातोंकी आवश्यकता रहती है । पहिली जन-संख्या एक विशिष्ट प्रकारकी हो । कुछ व्यक्तियोंसे यने हुए कुटुम्बकी रचना और उसका परस्पर संबंध राष्ट्रके जन समूहके समान होने पर भी एक कुटुम्ब राष्ट्र नहीं कहलाया जा सकता । ऐसे अनेक कुटुम्बोंके मिलनेपर ही राष्ट्र संज्ञा प्राप्त हो सकती है । हो ऐसा कोई नियम नहीं बनाया जा सकता कि यह संख्या इतनीही हो । ग्रीस देशमें बहुत छोटे छोटे राष्ट्र थे । राष्ट्र होनेके लिये कमसे कम इतनी संख्या चाहिये कि कौटुम्बिक हित संबंधकी अपेक्षा एकत्वका संबंध अधिक व्यापक रीतिसे उत्पन्न हो सके । ज्यों ज्यों दिनपर दिन समयके साथ साथ राष्ट्रके प्रजाकी संख्या बढ़ने लगती है त्यों त्यों वह राष्ट्र अधिक प्रबल होता जाता है । और वह उससे छोटे राष्ट्रोंकी स्वतंत्रताके लिये यम स्वरूप होता है । और इसी लिये राष्ट्रोंकी जीवन कलहमें छोटे छोटे राष्ट्रोंकी सुरक्षितता और वृद्धिकी कमी होनेकी संभावना हो जाती है । परन्तु यह बात नहीं है कि राष्ट्र बननेके लिये विशेष बढप्पनकीही आवश्यकता हो ।

संख्याके बाद राष्ट्रकी दूसरी विशेषता भूमि है । किसी न किसी निश्चित भूमि-भाग पर रहनेवाले जन-समूहको ही राष्ट्र संज्ञा प्राप्त हो सकती है । अरबस्तान देशके मुसलमानों, पॅलेस्टाइन देशमें बसती करनेके पहिले हिब्रू लोगों और हिंदुस्थानमें पहिलेके भील, उग, पेंडारी वगैरह लोगोंमें राष्ट्रके दूसरे लक्षण भलेही रहें हों परन्तु उनका वसतिस्थान निश्चित न होनेसे उनके समूहको राष्ट्र संज्ञा प्राप्त न हो सकी । यद्यपि भूमि भूमि, दूसरे प्रवेसोंके द्वारा अग्रहरण होनेसे, विवाहादि कृत्रिम संबंधोंसे अथवा दास भागके अधिकारद्विसे कम व्यापक हो सकती है परन्तु राष्ट्र संज्ञा प्राप्त होनेके लिये निश्चित भूमि-भाग होनेकी आवश्यकता है ।

राष्ट्रके अस्तित्वके लिये तीसरी बात यह आवश्यक है कि उक्त भूमि, प्रवेसमें रहनेवाले विशिष्ट जन-समूहमें सामान्य हितसूचक प्रेरण हो ।

समूह एक प्रकारके हानि लगाने संबद्ध दोनों चाहे। इससे यह प्रयोजन नहीं है कि उस देशकी भिन्न भिन्न ममानोंमें किसी प्रकारका ध्यान भेद न हो। क्योंकि ऐसा होना तो अनशय है, परंतु सत्र मामान्य हित-संबंध एक होनेसे एक सूत्रमें गुणे हुए परस्पर भिन्न वास्तु मात्याके रूपमें प्रकृत युक्त अभियोके समान होना आवश्यक है और सभी राष्ट्रीयता प्राप्त होता है।

चौथी बात समाजमें शास्ता और शासितके भेदकी आवश्यकताकी है। जिस समाजमें यह भेद नहीं है वह समाज राष्ट्र नहीं हो सकता। तीर्थ-दर्शनार्थ निकले हुए अनेक कुटुम्ब, तीर्थ दर्शनकी एक दृष्टासे एकत्रित रहते हैं और उनमें अनुशासनका प्रभु उपस्थित नहीं होता परन्तु सापही ये राष्ट्र भी नहीं कहे जा सकते। परन्तु राष्ट्र कहलानेवाले समूहमें अनेक दृष्टाएं आदि होनेके कारण अनुशासन प्रभु रहता ही है अतएव शास्ताका पक्ष होनाही चाहिये फिर चाहे वह एक व्यक्तिरूप हो, अथवा संख्याक हो अथवा बहु संख्याक हो। बिना शास्ताके हुए देशमें अराजक स्थिति उत्पन्न हो सकती है और रामायणमें कहे अनुसार " अराजकं हि नो राष्ट्रं विनाशा समवाप्नुयात् " अर्थात् अराजकका कोई राष्ट्र नहीं होता। अतएव राष्ट्रमें शास्ताकी आवश्यकता है। यह शास्ता यदि एक ही मनुष्य हो और पूर्ण स्वतंत्रतासे राज्य करे तो इस प्रकारकी व्यवस्थाको राजसत्ताक पद्धति (Absolute monarchy) कहते हैं। यदि ऐसे एक व्यक्तिकी स्वतंत्रता पर जबाबदार मंत्रियोंका दबाव हो तो उस राजपद्धतिको मर्यादित राज्य सत्ता (Limited monarchy) कहते हैं। ऊपर कहे अनुसार यदि राज्य सत्ता किसी एक व्यक्तिके हाथमें न हुई और कुछ उद्धारके हुए सरदार अथवा राजपुरुषोंके सबके हाथमें हुई और वह सब स्वच्छंदतापूर्वकसे अनियंत्रित अधिकारोंका उपयोग करता हो तो उस पद्धतिको अल्प सत्ताक (Oligarchy) राज्य-सत्ता कहते हैं। और यदि राज्य पद्धति तो इन ऊपर कही हुई पद्धतियोंमेंसे ही किसी प्रकारकी हो परन्तु वह केवल राज्यकर्ताओंके ही कामका विचार न कर प्रजाजनके कामका भी न्यूनाधिक रीतिसे विचार करे तो उसे (Aristocracy) अभिजन सत्ताक पद्धति कहते हैं। इन सब पद्धतियोंमें यह विशेषता होती है कि राजपक्षपर प्रजा पक्षका दबाव नहीं होता। यद्यपि इन पद्धतियोंके द्वारा प्रजापक्षके कामकी भी बातें हो जाती हैं परन्तु वे प्रजाकी पक्षसे न होकर राजकर्ताओंकी उदारता अथवा प्रजावत्सलताके

कारण होती हैं। इनके सिवाय एक लोकसत्ताक राजपद्धति (Democracy) होती है। इसमें राजशासन प्रजाकी इच्छासे चलता है। विभिन्न नियमोंके अनुसार प्रजाकी इच्छासे राज्य किया जाता है। यदि प्रजाको यह ज्ञाहूम होता है कि प्रतिनिधि मंडल, पद्धति व अधिकारोंका अतिक्रमण कर रहा है तो इस पद्धतिमें प्रजाको यह अधिकार होता है कि वह प्रतिनिधि-मंडलसे सब अधिकार छीन ले। इस तत्त्वपर चलनेवाली राज्यपद्धतिमें भी न्यूनाधिक अधिकारोंके अनुसार तरतम भावसे श्रेणियाँ होती हैं परंतु अधिकारोंकी जड़ लोकपक्षको मानना, यह इस पद्धतिका मूल तत्त्व है। इन पद्धतियोंमेंसे किसी भी प्रकारकी राज्यपद्धति राष्ट्रके लिये होना आवश्यक है।

राष्ट्र होनेके लिये पाँचवीं आवश्यकता समाजमें ऊपर बतलाये हुए गुणों-सहित एक प्रकारके प्राणित्वकी है। राजशासनकी क्रिया यांत्रिक क्रियाके समान निर्वाचन न होकर सदेह और सेन्द्रिय प्राणिके समान सजीव है। यह तत्त्व समाजमें कुछ कठिन होनेके कारण इसका स्पष्टीकरण करना आवश्यक है। " मनुष्यमें प्राणित्व होता है " इस वाक्यमें तीन बातोंका समा-वेष्ट है। पहिली बात तो यह है कि प्रत्येक प्राणी, प्राण व शरीरके मिश्रणका फल है अथवा उसकी क्रिया मानसिक व शारीरिक होती है दूसरी बात यह कि सम्पूर्ण अवयवोंके मिलनेसे यद्यपि प्राणीकी एक देह कहलाती है तो भी बाह्य क्रियाके कर्तृत्व भेदसे वे अवयव परस्पर भिन्न होते हैं। जैसे कि शरीरके एक भागको होनेवाका दुःख दूसरे भागको नहीं होता, पंखका काम हाथ नहीं कर सकता अतएव अवयव, कर्तृत्व भेदसे भिन्न भिन्न हैं। तीसरी बात यह है कि बाह्यसे तो शरीरकी वृद्धि होती है परन्तु उस वृद्धिकी कर्तृ-

Thus we see that the state is identical in the characteristic of being an organization each composed of parts every subordinate and superior grouping having its own nature and principle.....
...Thus all these groupings are organs of a single pervading life.

; The Philosophy of the theory of the state ch. VI

by Bernard Bosanquet.

त्व-शक्ति उस प्राणीमें ही रहती है। प्राणी-सृष्टि और स्थूल-सृष्टिही तुलना करनेपर प्राणी-सृष्टिही विपेक्षार्थ स्थूल सृष्टिमें नहीं दिखाई पड़ती। यदि कोई मिला या राजभवनकी प्राणी सृष्टिसे तुलना की जाय तो न उसमें प्राण है, न एकता है और न वर्धनशक्ति ही है। परन्तु प्राणी-सृष्टिके लिए विपेक्षार्थ राह कहे जानेवाले समाजमें मिलती हैं। उसमें पहिली विपेक्षा "प्राणित्व" की होती है। अथवा प्रत्येक राष्ट्रमें एक प्रकारका विशिष्ट कल्पनात्मक प्राण होता है। यह प्राण भिन्न भिन्न राष्ट्रोंमें भिन्न भिन्न गुणोंके द्वारा दृष्टोत्पत्तिमें आता है। परन्तु यह होना आवश्यक है।

किसी राष्ट्रका स्वभाव धार्मिक होता है, किसीका स्वातंत्र्यप्रिय होता है, किसीका प्रजाको हुं स देनेका होता है और किसीका खोमी होता है * । जिस प्रकार भिन्न भिन्न व्यक्तियोंके भिन्न भिन्न स्वभाव होते हैं उसी प्रकार राष्ट्रोंके स्वभाव भी भिन्न भिन्न हो सकते हैं। जिस प्रकार चैतन्यशक्तिके अनुसार कार्य करनेके लिये मनुष्यकी हस्त पादादि इन्द्रियां होती हैं उसी प्रकार राष्ट्रके भिन्न भिन्न विभाग राष्ट्र पुरुषके अवयव हैं। इन विभागोंके द्वारा योजित कार्य ठीक रीतिसे होते रहते हैं। ऊपर बतलाये हुए सजीव सृष्टिके दूसरे नियमोंके अनुसार यद्यपि यह सब अवयव—राजकीय विभाग-मिलकर एक राष्ट्र पुरुष होता है तोभी ये परस्परमें भिन्न होते हैं। मनुष्यकी इंद्रियोंके उदाहरणके समान एक विभाग दूसरे विभागका कार्य नहीं कर सकता। सेना संबंधी कार्य वैद्यकीय विभागमें कभी नहीं जायगा। और

* कार्ल मार्क्सने अपने कम्युनिज्म Compromise नामक ग्रंथमें यूरोपके कुछ प्रमुख राष्ट्रोंके कल्पनात्मक-साध्यके स्वरूपका वर्णन किया है। वे लिखते हैं कि स्पेन राष्ट्रका साध्य स्वप्न यह है कि सम्पूर्ण राष्ट्र उठाकर हों और ईश्वर व अपने देशसे बहिष्कृत किये हुए छात्र पुरुषोंकी सेवा करें। अमेरिकाका साध्य अपने विस्तीर्ण प्रदेशकी अनंत साधन संपत्तिको खोजकर भेड़ पदको प्राप्त करना है। अर्थात् नीच श्रमिकोंका साध्य अपने देशकी राष्ट्रीय ध्वजा ऊर्ध्व-स्थित आत्मकायाके चतुर्भुजके बाहिर फहराना है। जर्मनी अपने देशका एकीकरण कर उसके राजकीय चारों ओर फैलाना चाहता है। और इंग्लैण्ड स्वातंत्र्यके सत्यका केवल सामाजिक चित्तन न कर व्यवहारमें भी उसका प्रसार करनेकी शक्ती रखता है। Morley's "Compromise" P. 8-9.

न न्याय विभागका कार्य औद्योगिक विभाग करेगा । यदि किसी विभागका अधिकारी अपने अधिकारोंका अतिक्रमण कर दूसरे विभागका कार्य करता है तो उसका मुख्य विभागके द्वारा विरोध किया जाता है । इन उदाहरणोंसे राष्ट्र पुरुषके शरीर अवयवोंकी समीपता और परस्पर भिन्नता सिद्ध होती है । समीप सुष्टिके अंतिम सीसरे नियमके अनुसार मनुष्यके समान राष्ट्र भी बर्धिय्यु होता है । राष्ट्र की भी मनुष्यके ही समान बाल्य, तरुण और वृद्धावस्था होती है । अंतर इसनाही है कि मनुष्यकी अपेक्षा राष्ट्रकी अवस्थाएँ अधिक लंबे समयकी होती हैं । राष्ट्रकी कालके वृद्ध होकर स्मृतिपथके पथिक बन जाते हैं । राष्ट्रोंका यह वृद्धि, क्षय बाहिरसे भी विखलाई पड़ता है परन्तु उसके कारण राष्ट्रकी मनोवृत्तियोंमें गर्भित रहते हैं । इस प्रकार समीप सुष्टिके सम्पूर्ण विषय राष्ट्रपर बतित होते हैं । और इसलिये राष्ट्रके लिये प्राणित्वकी आवश्यकता सिद्ध होती है ।

राष्ट्रका छठवाँ अवयव अंतिमगुण, राष्ट्रके ऊपर कहे हुए स्वभावकी नैतिक और सात्विक गुणवर्धता है । दूसरे पाँच गुण होनेपर भी यदि यह गुण नहीं जुड़ा तो राष्ट्रको राष्ट्रत्व प्राप्त नहीं हो सकता । वृद्ध, धनस्पति अथवा हीन-जातीय मनुष्योंकी अपेक्षा राष्ट्रमें यह गुण अधिक परिमाणमें होता है । राष्ट्रका अभ्युदय और कीर्ति, उस राष्ट्रकी प्रज्ञामें सदा स्फूर्ति उत्पन्न कर स्वार्थत्यागपूर्वक श्रेष्ठ व उपाय कार्य करवाती है । राष्ट्रके स्वातंत्र्य अथवा अमिद्विद्वि के लिये उत्तमोत्तम मनुष्य सन, मन, धन सर्व कर देते हैं । 'जननी जन्मभूमि स्वर्गादपि गरीयसी' जननी जन्मभूमि स्वर्गसे भी अधिक महान हैं अथवा क्या कोई ऐसा मृत और पशुके समान मनुष्य होगा जिसका अंतःकरण अपनी जन्म-भूमिके लिये यह नहीं कहे कि यह मेरी मातृ-भूमि है यदि उक्तिमें राष्ट्रके सात्विक और नैतिक तेजकी उत्कृष्ट साक्षी हैं ।

इस प्रकार राष्ट्र संज्ञा प्राप्त होनेके लिये उक्त छह गुणोंकी आवश्यकता होती है । यदि इनमेंसे कोई गुण न हो तो वह राष्ट्र राष्ट्रकी पूर्ण कोटि तक नहीं पहुँच पाता ।

इस प्रकार राष्ट्रके लिये जिन गुणोंकी आवश्यकता है उसका वर्णन करने-पर शासित और शास्ताके परस्पर संबंधकी ऐतिहासिक चिकित्सा करके यह देखना है कि इसमें किस प्रकार परिवर्तन होता गया और उससे शासन

पद्धति पर क्या प्रभाव पड़ा ? । क्योंकि इस परीक्षाने ही राष्ट्रीय प्रगति और सुधारणा मिश्रित की जा सकती है ।

भारतवर्षमें राजकीय कल्पनाकी उत्क्रान्ति किम प्रकार होती गई, पहिले यही जान लेना उचित होगा । किसीभी समाजके प्रारंभिक कालमें राजाकी उत्पत्ति पर सामर्थ्य-पर ही अवलंबित रहती है । और यह प्रगट ही है कि जिस समय समाजके विचार परिणत अवस्थामें नहीं होते उस समय जिसमें धर्म, सामर्थ्य आदि गुण होते हैं वही मनुष्य दूसरेके आश्रय और कानुकरा विषय बन जाता है । अंग्रेजी कवि "काउपर" ने भी राज-कल्पनाकी उत्पत्ति इसी प्रकार मानी है * । परस्परमें लड़नेवाली समाजोंमें जो अपने पराक्रमसे उत्पत्तिके प्राप्त होता है समाज उसे अपना अगुआ मानता है । और उसके पराक्रमसे शक्ति हो जानेपर उसके शासन सामर्थ्यके कारण समाज उसे राज-पद देता है । वेदोंके प्रमाणोंके द्वारा यह सिद्ध होता है कि वेदकालीन समाजकी कल्पना भी आद्यौकिक काल सामर्थ्यपर ही थी । द्वितीय मंडलके बारहवें सूत्रमें इन्द्रको सभ देवोंमें श्रेष्ठ क्यों माना ? और उसने क्या किया ? इसका वर्णन दिया है । इस वर्णनमें कल शौर्यादि गुणोंको ही श्रेष्ठत्व दिया है ।

यो हत्वा अहिं अरिणात्सप्त सिंधून् । यो गा उद्राजदपथात्रलस्य ।
यो अहमोरन्तराग्निं जजान । संवृप्समस्तु स जनास इन्द्रः ॥

अर्थात्—जिसने अहिको मारकर सप्त सिंधुओंको मुक्त किया, जिसने कल नामक असुरको मार कर उसकी गायें छीनलीं और जिसने युद्धमें अनेक शत्रुओंके प्राण हरण किये वह इंद्र है । ” तथा

“ यं स्म पृच्छन्ति कुह सेति घोरमुतेमाहुर्नपोऽस्तीति ।

+ At length one eminent above the rest, for strength, for stratagem, or courage, or for all, was chosen leader Him they served in war, and him in peace Thus war affording field for the display of virtue, made one chief, whom times of peace which gave their exigencies too and call for skill in government, at length made king.

“ The Task ” .

तृतीय-परिच्छेद ।

“ जिसके संबंधमें लोग यह इच्छा करते हैं कि वह योगी (भगवान्)
कहाँ है ? ” तथा

यस्मात्तु ऋते विजयंते जनासः यं युद्धयमान अवसे हवते ।
यो विश्वस्य प्रतिमानं वभूव योऽच्युतच्युत स जनासः क्वचित् ।

अर्थात्—जिसके विषय लोगोंको जयप्राप्ति नहीं होती, बुद्धोत्सुक लोग
जिसकी सहायताके माध्यम्य हवन करते हैं, जो सब जगतके लिये प्रतिमाध्य
है वह इन्द्र है ।

इन प्रमाणोंसे यह स्पष्ट होता है कि देवोंके राजाओं भी जिन गुणोंकी
आवश्यकता दिखलाई है उनमें दया, शांति, वात्सल्य, राजनीति
निपुणता आदि गुणोंका समावेश न कर शारीरिक पराक्रमको ही श्रेष्ठता दी
है । समाजकी इस प्रकारकी स्थिति बबल जानेपर मजाके अनुशासनका प्रश्न
उत्पन्न होता है । सृष्टि ग्रंथोंमें हमें इसी समस्या कादर्श मिलता है ।
सृष्टिकालमें शारीरिक पराक्रमके सिवाय दूसरे गुणोंकी आवश्यकता राजाओं
प्रतीत होने लगी थी । शास्ताकी आवश्यकताकी कल्पना तो करीसे ही
उत्पन्न हो गई थी । मनुने अपनी सृष्टिमें राजाकी उत्पत्तिके संबंधमें लिखा
है कि—

अराजकोहि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात् ।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥

अर्थात्—जब अराजक स्थितिमें सब लोग भयभीत होकर हृषर उधर
भागने लगे और सर्वत्र अज्ञाप्ति हुई तब सब लोगोंकी रक्षाके अर्थ मनुने
राजा निर्माण किये । परमेश्वरके द्वारा राजाके निर्माण होनेकी कल्पनाको जयवा
पर्यायवाची भाषामें कहा जाय तो राजाको परमेश्वरसे अधिकार प्राप्त होनेकी
कल्पनाको ही अंगरेजीमें “Divine right of kings” कहा है । कुछ
काल तक यह कल्पना यूरोपमें भी जड़ पकने लगी थी । राजाओं सामर्थ्यका
होना ईश्वरके द्वारा उसकी उत्पत्ति होनेके कारण ही माना जाता था । मनु
कहते हैं कि —

यस्मादेषां सुरैर्द्राणां भात्राभ्यो निर्मितो नृपः
तस्मादभिमवल्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥

अर्थात्—इन्द्रादि सम्पूर्ण देवतानोके अंशोंके द्वारा उत्पन्न होनेके कारण ही राजा अपने पराक्रमसे सम्पूर्ण प्राणियोंपर स्वामित्व रखता है । परमेश्वरने राजा निर्माण किये, इस कल्पनापरसे ही राजा परमेश्वरका अंश माना गया और उसके लिये शासकारोंने “ ना विव्युः पृथिवीपतिः ” आदि बान्धोंका उपयोग किया । इस प्रकार राजाका निर्माण हो जानेपर राजाके कर्तव्योंके संबंधमें शासकारोंने क्या कहा है ? इसे भी साथही साथ देख लेना आवश्यक है । शासकारोंने मतानुसार राजा अपने अधिकारोंके सम्बन्धमें ईश्वरके प्रति जयावदार होने पर भी प्रजाके कल्याणार्थ राज्य संचालन करनेके लिये बाध्य है । राजा शब्दकी व्युत्पत्ति भी यही कहती है, कि “ प्रजावत्तमात् राजा ” प्रजाके रक्षण करनेसे राजाको राजा नाम प्राप्त होता है । वाजवल्क्यने अपनी स्थितिमें स्पष्ट कहा है कि

पुण्यात् पद्म भागमादत्ते न्यायेन परिपालनम् ।
सर्वदानाधिकं यस्मात् प्रजानां परिपालनम् ॥

अर्थात्—“ प्रजाका उत्तम रीतिसे परिपालन करनेपर प्रजाके पुण्य कर्मोंका पक्षांश भाग राजाको प्राप्त होता है । अतएव प्रजाका पालन करना सर्व दानोंसे ज्यादा फल देनेवाला है । ” इसी प्रकार प्रजा पीडनका भी स्पष्ट विषय किया गया है । वाजवल्क्य कहते हैं कि ।

प्रजापीडनसंतापात् समुद्भूतो हुताशनः ।

राक्षः कुलं भिर्यं प्रार्णाञ्छाद्गन्धा न निवर्तते ॥

अर्थात्—“ प्रजापीडनके द्वारा उत्पन्न होनेवाली अग्नि सर्वनाश करती है । ” इन सब उपदेशोंको इत्थनमें रखनेवाले रामचन्द्रके प्रजापालन संबंधी विचार भवभूतिने एक अजरामर वचन द्वारा स्वयं रामचन्द्रसे इस प्रकार कहायें हैं:-

स्नेहं दयां तथा सौकर्यं यदि वा जानकीमपि ।

आराधनाय लोकस्य मुंचतो नास्ति मे व्यथा ॥

अर्थात्—लोकाराधनके कारण, प्रबन्धके कारण यदि मुझे स्नेह, दया, सौकर्य और प्रत्यक्ष सीताका भी त्याग करना पड़े तो उससे मुझे दुःख नहीं होगा । इस प्रकार शासकारोंने लोकाराधन-लोकपरिपालनका ध्येय स्पष्ट आपत्तमें विहित कर दिया है । अब यह देवना है कि इस ध्येयको व्यवहारमें

रामके लिये शास्त्रकारोने कौनसा मार्ग दिखलाया है ? । ऊपरके सत्वालुसार रामके अधिकार अनिर्धरित होने पर भी शास्त्रकारोने उनका उपयोग अनि-
र्धरित रीतिसे न कर प्रजाकी सहायताके अर्थ करनेकी आज्ञा दी है । मनु
कहते हैं:-

अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् ।
विशेषतोऽसहायेन किं तु राज्यं महोदयम् ॥

“जब कि कभी कभी सरलकार्य भी दूसरे की सहायताके बिना होना
कठिन हो जाता है तब जिसमें बड़े बड़े कृत्व करना पड़ते हैं उस राज्य कार्यमें
जो दूसरोकी सहायता केन ही चाहिये और इस सहायताके अर्थ रामको
योग्य सहाह देनेवालोंकी याचना करना चाहिये ।” याज्ञवल्क्य कहते हैं:-

श्रुताध्ययनसंपन्ना, धर्मज्ञा सत्यवादिनः ।

राज्ञा समासदाः कार्या रिपौ मित्रे च ये समाः ॥

लोकवेदज्ञधर्मज्ञाः सप्त, पंच त्रयोऽपि वा ।

यत्रोपविष्टा विप्राः स्युः सा यज्ञसदृशी समा ॥

अर्थात्-धर्म, शास्त्र, न्याय आदिसे संपन्न, सत्यवक्ता, शत्रुमित्रमें समान,
लोकचार, वेद और धर्मको जाननेवाले सात, पांच, अथवा तीन समास-
ज्ञोंको राजा अपनी समामें नियुक्त करे । ” मनुने यह संख्या “सचिधान्सप्त
चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ” सात अथवा आठ मानी है । याज्ञवल्क्य
कहते हैं कि इन समासमेंमें व्यापारके जाननेवाले वैश्य भी होना चाहिये ।
“वणिग्भिः स्यात् कतिपयैः कुलसूतैरचिष्टितं ” । क्षत्रिय कुलके प्रतिनिधि
स्वयं रामा अथवा सेनापति होते ही हैं । इन समासदोंको काम बांट देना
, चाहिये और इन समासदोंका उपयोग केवल रामके लिये न कर

तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपालम्भ्य पृथक् पृथक् ।

समस्तानां च कार्येषु विद्व्याद्धितमानसः ॥

अर्थात्-“ प्रत्येक समासदले उसका स्वतंत्र अभिप्राय पूछकर फिर रामा
प्रमाहिततत्पर रहते हुए कार्याकार्यका विचार करे । ”

इस प्रकारके रामशासनका स्वरूप अर्थ-प्रयोगमें कहा है । इसी भावको
प्रगट करनेवाले प्रमाण महामारतादि ग्रंथोंसे भी उद्धृत किये जा सकते हैं ।
इस पद्धतिका सूक्ष्म विचार करनेपर एक मुख्य बात यह मात्कम होती है

कि इसमें प्रजाके स्वतंत्र अधिकारोंको कहीं स्थान नहीं दिया गया है? जिन्हें वह आवश्यकता पड़नेपर उपयोगमें ला सके। अथवा उन अधिकारोंके कारण राजाके अधिकार मर्यादित हो गये हों। और न मार्क्समीम राज्यशासनमें ही प्रजा-सत्ताको स्थान दिया गया है। यद्यपि ग्राम-पद्धति जिसे अंग्रेजीमें Village system कहते हैं, के द्वारा ग्राम्य-कार्य ग्रामनिवासियोंकी इच्छानुसार अथवा उनके द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियोंके द्वारा चलता था और वह वर्तमानकी म्युनिसिपालिटी या लोकलबोर्डसे भी अधिक व्यापक और स्वतंत्र पद्धति थी तो भी राज्यके मुख्य कार्यमें प्रजाको हस्तक्षेप करनेका कुछ भी अधिकार नहीं था। यदि कोई राजा उन्मत्त होकर भनीति करने लगा तो उसे पदच्युत कर उसके स्थानपर दूसरा राजा नियत करनेका अधिकार प्रजाको नहीं था। भारतके इतिहासमें अपवादात्मक एकाध प्रसंगके सिवाय ऐसे उदाहरण नहीं मिलते जिनसे कहा जाय कि राज्यके निरर्थक व्यवहारमें प्रजाका हाथ रहता था।

यूरोपके राज्यशासनकी कल्पनाके रूपान्तरको भी जान लेना उचित होगा। साधा बात है कि उपरि सही राजशासन करनेका प्रश्न यूरोपके ज्ञात इतिहासमें प्रथमतः ग्रीस देशमें शुरू हुआ। जिस प्रकार कलाकौशल और काव्यकी जन्मभूमि ग्रीस देश है वही प्रकार राजनीतिकी जन्मभूमि भी वही है। ग्रीस देशकी परिस्थिति आजके किसी भी राष्ट्रकी परिस्थितिसे नहीं मिलती। वह विशुद्ध मिश्र थी। तबकालके समान ग्रीसमें अनेक छोटे छोटे संस्थान थे जो अपना राजकाज स्वतंत्रतासे चलाते थे। भारतकी पचासवीं पद्धतिके समान प्रत्येक कुटुम्बके मुखियाका प्रत्येक राजकार्यमें हो सकता था। और उसके बहुतसे राज्यकार्य किये जाते थे। इस पद्धतिके सर्व्वर्षमें अधिक विवेचन आगे किया जायगा। तो भी यहाँ इतना उल्लेख कर देना उचित प्रतीत होता है कि ऐसे छोटे छोटे संस्थानोंकी परिस्थिति, व्याप्ति आदि आजकी परिस्थितिसे भिन्न होनेके कारण उस कालके राजकार्योंकी कल्पनाकी चिकित्सा नहीं की जा सकती। इसके बावजूद बड़ा राज्य रोमन लोगोंका था। इस राज्यका देश-विस्तार और लोकसंख्या अधिक होनेके कारण ग्रीस देशके समान कुटुम्बके मुखियाओंकी सम्मति द्वारा राज्यसंचालन नहीं हो सकता था। यद्यपि रोम देशवालोंने ग्रीसकी प्रजाके सर्व्वव्यापक अधिकारोंकी कल्पनाका अनुकरण किया परंतु सम्बन्धित और प्रभावित वे दोनों बातें भिन्न हैं और इन्हे एक नियम

छानू नहीं हो सकता, यह उनके ध्यानमें जानेके कारण उन्होंने अपनी कल्पनाओंमें परिवर्तन किया । यद्यपि अनेक नवीन देशोंको अधिकृत करनेके कारण रोमन राज्य साम्राज्य रूपमें परिवर्तित हो गया था, उन नवीन देशोंकी प्रभासे मूल-राज्यकी प्रभाके संबंधके उलझनोंवाले कई प्रश्न उत्पन्न हो गये थे और उन प्रश्नोंको न केवल राजनैतिक ही किंतु सामाजिक रूप प्राप्त हो गयाथा जिन्हें हल करनेमें राज्यके बुद्धिवान लोगोंकी बुद्धि सर्प हुई थी तो भी रोमन राज्यने ग्रीस देशके समान यह तत्त्व स्पष्टतया स्वीकार किया था कि लोकसत्ता पर ही राज्यसत्ताका आधार है । सिसरो * नामक सुप्रसिद्ध वक्त्राने स्पष्ट कहा है कि “ सम्पूर्ण कायदोंकी मूलधार जनताकी इच्छा है ” । यहाँ तकके समयको मूलरूपके इतिहासमें प्राचीनकाल मानते हैं । इसके बादके मध्यकालमें ईसाई धर्मका प्रचार मूलरूपमें अधिक हो जानेसे यूरोपका राज्य-सूत्र धर्मसत्ताके हाथमें चला गया था । और इसलिये उस समय यूरोपमें दो प्रकारके साम्राज्यका शासन प्रचलित था । इस समय यूरोपका मध्यमवर्ग विरंकुश सरदारोंकी सत्ताके आधीन था । इस कालको मध्ययुग कहते हैं । और इसी कालके प्रारंभकालको साधारणतः “ प्राचीन संस्कृतिका उद्गीर्णन काल (Renaissance) ” भी कहते हैं । इस कालकी राजकार्य सम्बन्धी कल्पना मैकिनाल्डकीके प्रयोगमें देखनेको मिलती है । इस प्रयोगकारकी राजनीतिकी मूलना साधारणतः चाणक्यनीतिले की जा सकती है । अपना साम्य सिद्ध करनेके लिये चाहे जिस उपायकी योजना करनेके तत्त्वके आधार पर इस प्रयोगकारने राजशासनकी इमारत खड़ी की है और इस लिये उसने सत्तासत्त्व, न्यायाभ्याय आदिके प्रयोगोंकी मनमें स्थान नहीं दिया है । यह प्रयोगकार राजसत्ताके अधिकार और वैभवपर किलीका भंडुका होना उचित नहीं मानता । इसके मतसे वीति, धर्म आदि की बातोंपर ध्यान देनेका काम राज्यका नहीं है । और न वह यह स्वीकार करता है कि प्रभाको भी किसी प्रकारके अधिकार हैं । इसके मतका मुख्याधार ‘ जिसकी छाठी उसकी मँस ’ की नीति है । इसने प्रतिपादन किया है कि राज्यकी रक्षा और बुद्धिके लिये आवश्यकतानुसार राजनीतिक उपयोग करना उचित है ।

* The state means a people organized, and the will of the people was the source of all law.

Cicero “ De Re Public ”

इस कार्यक्रम परन्तु नीतिविद् राजसत्तासे कुछ अर्थोंमें मित्र कल्पना में अर्थकार "डीन बोर्दी" ने की है। यद्यपि इसने भी राजकर्ताओंके अधिकार अमर्यादित माने हैं तो भी यह एकही व्यक्तिका अधिकार होना उचित नहीं बतलाता किन्तु राजकुटुम्बके पुरखोंको मिलकर अधिकारोंका व्यवहार करनेका प्रतिपादन करता है। अल्प सरवाक राजपद्धति अथवा अभिजनसत्ताक राजपद्धतिका पुररकर्तृत्व इसने स्वीकार किया है। इसने यह स्पष्ट रीतिसे प्रतिपादन किया है कि प्रजाके कल्याणकी अपेक्षा राज्यकी स्थिरता अधिक महत्त्वकी होनेके कारण प्रीस बगैरह देशके प्राचीन लोगोंने प्रजाहितको जो अवास्तविक महत्त्व दिया वह उनकी भूल थी।

अभिव्यक्ति सत्ताके इन दो प्रबल पुरस्कर्ताओंके बाद राजसत्ताको अमर्यादित माननेवाला परंतु उसमें प्रजाहितका अंतर्भाव करनेवाला तत्त्ववेत्ता 'डॉगो मोक्विजस' हुआ। इसने अपने ग्रंथोंमें राजसत्ताकी व्याख्या इस प्रकार की है "सार्वजनिक हितके लिये और वेध स्वतंत्रताका उपभोग करनेके लिये स्वतंत्र प्रजाजनोका पूर्ण ऐक्य ही राजसत्ताकी जड़ है" इसी तत्त्ववेत्ताने अपनी कल्पनामें राजशासनके कार्यमें प्रजाके कर्तृत्वका अंतर्भाव पहिले पहिले किया है। और इसी तत्त्ववेत्ताकी कल्पनामें राजसत्ता और प्रजाके परस्पर संबंधके लिये दोनोंमें करार मदार होनेकी विचारसरणीका आधार मिलता है।

जब कि यह सिद्धान्त मान्य हो गया कि राजशासनमें प्रजाका भी अधिकार है तब इस बातका विचार प्रारंभ हुआ कि यह अधिकार किस प्रकार प्राप्त हुआ और उसकी मर्यादा कितनी है? हाब्स नामक अंग्रेज अर्थकारने इस कल्पनाको अपने 'लैव्हायथन' नामक ग्रंथमें शूर्तस्वरूप दिया है। * इस

* Every member of the community gives up to his chosen head, the right of governing himself, on condition that every other member does the samethe person or body so invested with the power of the whole becomes a kind of new person, he that carrieth this person is called sovereign, and hath the sovereign power, and every one besides him, his subject.

Hobbes 'Leviathan'

विद्वानका कहना है कि जिस प्रकार दो स्वतंत्र व्यक्ति अपनी राजी सुधीसे करार मदार करते हैं और उसमेंसे एक पक्ष अपना सुखतार दूसरेको बना देता है उसी प्रकार राजसत्ताके सब अधिकारोंका मूल प्रजाही है और उसने अपने सुधीसेके लिये अपने अधिकार एक वा अनेक व्यक्तियोंको दिये हैं । और इस लिये जिस प्रकार सुखतार अपने मूल स्वामीके हितके विरुद्ध कोई कार्य नहीं कर सकता उसी प्रकार राजसत्ता भी प्रजाके सहज स्वार्थ-यके विरुद्ध अपने अधिकारोंका उपयोग नहीं कर सकती । यद्यपि इस र्थकारने राजसत्ताको प्रजाका सुखतार माना है पर साथ ही वह यह भी मानता है कि प्रजा यह अधिकार छीन नहीं सकती । इसका कहना इसना ही है मुख्य धर्मके अनुसार राजसत्ताको अधिकारोंका व्यवहार करना चाहिये । इस विद्वानकी अधिकार न छीन सकनेकी मान्यताके कारण प्रजामतका अधिकार होना न होना एक समान हो गया क्योंकि राजसत्ता पर उसने अंकुश नहीं माना । हां यह अवश्य हुआ कि इस प्रकारकी कल्पना उत्पन्न हो गई ।

उक्त कल्पनाओंमेंसे वह कमी निकाळ ढालनेका प्रयत्न 'जॉनलॉक' * नामक अंग्रेज ग्रंथकारने किया है । इसके मतानुसार जिस प्रकार दो व्यक्तियोंके परस्परमें किये हुए करारोंमेंसे किसी एकके द्वारा कोई धर्म तोड़ी जानेपर दूसरा व्यक्ति सब करार रद्द कर सकता है, उसी प्रकार प्रजाके द्वारा दिये हुए अधिकारोंका यदि राजसत्ता दुरुपयोग करने लगे तो वे अधिकार वापिस लेनेका अधिकार प्रजाको अवश्य है + । इस कल्पनासे राजस-

• Political society, in Lock's theory is constituted by a compact of its original members a compact renewed from generation to generation, in the person of every citizen when he comes to an age of discretion, to choose his allegiance to it.

Sir Frederic Pollock's History of
The Science of Politics.

+ The authority of the state is not indefeasible, it may be forfeited by misuse. Under every form of government the community retains a supreme power of self-preservation.

Lock's " Essay on civil government. "

साके ईश्वर द्वारा निर्मित होने, अबाधित रहने और प्रजाकी निरपेक्षताकी कल्पना नष्ट होती है ।

लाकसे भी 'जीम कसो' नामक विद्वान आगे गया है और उसने यह बतलाया है कि शासित और शास्ताके संबंधका लॉकके कहनेके समान न केवल रूप ही है किंतु उसकी उत्पत्ति भी इसी करार-मदारके तत्त्वके अनुसार है । इससे फ्रांसकी राज्यशासितिके समय इस विषयपर एक 'Social contract' नामक ग्रंथ प्रकाशित किया था । इस ग्रंथमें इसने यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि "ऊपर बतलाये हुए करार करनेके तत्त्वके अनुसार प्रजा अपने अधिकार समाजके कल्याणार्थ समाजको देती है न कि शास्ताको । इस प्रकार सम्पूर्ण व्यक्तियों द्वारा दिये अधिकारोंका एकीकरण समाजके हाथमें होता है + । फिर समाज अपने सुभीतेके लिये राजा अथवा अन्य अधिकारीको नोकर रखकर उसके हाथमें सब अधिकार देती है । इस दृष्टिसे कसोकी उपपत्ति हाब्स और लॉक दोनोंकी उपपत्तियोंसे आगे बढ़ जाती है । इस पद्धतिसे अधिकारी-वर्ग, राजधर्म युक्त न होकर राजकीय अधिकारोंके केन्द्रस्थान समाज और समाजकी निम्न निम्न व्यक्तियाँ इस दोनोंका केवल मध्यस्थ भाग है । +

इस प्रकार राजकीय अनुशासनकी उपपत्तिका अंतिम ध्येय यूरोपमें यहाँ-तक जा पहुँचा है ।

इस विचारसरणीमें अधिकारी सत्ताका जो उद्गम बतलाया है वह ऐतिहासिक दृष्टिसे ठीक नहीं है । व्यवहारमें देखनेपर भी यह बात नहीं मान्य

• In a government each of us puts his person and faculties in a common stock under the sovereign direction of the general will, and we receive every member as an inseparable part of the whole.

Rousseau's "Contract Sociale"

+ The Government is not the sovereign, but a mediator between the community in its corporate capacity and its individual members as subjects.

'Ibid'

होती कि किसी राजाके राज्य ग्रहण करनेके पहिले प्रजा और राजामें फरार हों और उसके बाद राजा राज्य करे और न ऐसा होगा ही सम्भव है । रूसोकी उपपत्तिका वास्तविक तत्त्व यह है कि प्रजाका राज्यके अवयव होनेके नातेसे राज्य कारणमें अधिकार है और वह अधिकार बहुजन समाज होनेका प्रयत्न करे तो उसका ऐसा करना सपूर्णतया न्याय्य है । इस तत्त्वमें उपसृंहणके सौर पर उसने उक्त ऐतिहासिक उदाहरणकी कल्पनाकी भी मिला दिया है । और इसका फायदा उठाकर 'मेटिस्स्यू' नामक तत्त्वज्ञने फ्रान्समें 'पुसि दू द्वा' अथवा 'राजकीय अनुशासनके वास्तविक तत्त्व' नामक ग्रंथ प्रसिद्ध किया । इसने रूसोकी उद्गम संबंधी काष्पनिक उपपत्तिका खंडन कर यह सिद्ध किया कि केवल ऐतिहासिक दृष्टिसेही राजकीय अनुशासनकी नीमांसा करना उचित है । और स्वयं इसी प्रकारकी नीमांसा कर यह निष्कर्ष बिकाळा कि प्रत्येक राष्ट्र और समाजके अनुशासन के बीच उनकी परिस्थिति और इतिहास परम्पराके अनुसार भिन्न भिन्न होते हैं । और सम्पूर्ण समाजोंकी उपपत्ति एक प्रमाणके द्वारा नहीं मानी जा सकती । इसी समयके लगभग इंग्लैंडके विद्वान एडमंडबर्कने भी रूसोकी तत्त्वनीमांसाकी समालोचना की । परन्तु इसकी टीका विधायक नहीं थी । इसने रूसोकी पद्धतिको तो अवास्तविक ठहराया था, पर यह नहीं बतलाया था कि 'फिर वास्तविक पद्धति कौनसी है ।' वास्तवमें देखा जाय तो इस विद्वानने समय समय पर जो उद्गार बिकाळे हैं उनसे यही निश्चित होता है कि इसका मत भी रूसोके ही समान था अर्थात् यह भी यही मानता था कि "सम्पूर्ण अधिकारोंका मूल स्थान प्रजा ही है ।" * अमेरिकाकी वसाहतके संबंधमें पार्लैमेन्टमें इसने जो अनेक भाषण दिये थे उनमें यह मत अनेक बार इसने प्रगट किया था । परन्तु फ्रेञ्च राज्य-क्रान्तिके समय होनेवाले अत्याचारोंसे विडू जानेके कारण तथा इस संसर्ग अन्य रोगसे अपने देशको बचानेके लिये इसने रूसोकी पद्धतिकी कठोर समालोचना की ।

इसके बाद भी यूरोपमें राजकीय तत्त्वकी चिकित्सा करनेवाले प्रयत्नकार हुए हैं परंतु उनके सिद्धान्तोंमें विचार करने योग्य कुछ नहीं है । क्योंकि एक तो

For in all forms of Government, the people is the true legislator. 'Burke.'

उनमेंसे बहुतसे ग्रंथकारोंके मतोंमें नवीनता कुछ नहीं है। दूसरे उन्होंने निम्न निम्न पूर्व विद्वानोंके मतोंकी कैंट छॉट कर अपने सिद्धांत बनानेका प्रयत्न किया है इसके सिवाय इनके मतोंको निश्चित महत्व न देनेका एक दूसरा भी कारण है वह यह कि राजकीय और ऐतिहासिक ग्रंथोंकी चिकित्सामें प्रस्तुतकाळके मत, व्यक्ति विषयक वाद-कोटिके बाहिर नहीं जा सके हैं। जमी चावी और प्रतिचावी दोनों प्रकारके तत्त्वज्ञ मौजूद हैं और वे परस्परमें उत्तर प्रस्तुत्तर करते रहते हैं। इन प्रतिस्पर्द्धियोंके वादविवाद को निर्णय करने योग्य समय भी व्यतीत नहीं हुआ है। यदि इनके मत वास्तविक भी माने जायें तो भी उनमें धुनकीही ही अधिक है।

इस चिकित्सासे बड़ी निश्चित होता है कि इसका सिद्धान्त ही अन्तिम सिद्धान्त है। और उस सिद्धान्तसे पहिलेकी यह मान्यता कि राजसत्ता श्रेष्ठ है, फिर यह श्रेष्ठता चाहे ईश्वरवत्त हो चाहे, श्रेष्ठकुलमें जन्म होनेके कारण हो अथवा सांपत्तिक अधिकतासे हो, नष्ट होकर यह माना जाने लगा कि राजसत्ताकी श्रेष्ठता प्रभाके और राजसत्ताके परस्पर करारोंका फल है। 'सर हेनरी समर मेन' नामक कानूनी विद्वानने भी अपने Ancient Law नामक पुस्तकमें कानूनी परंपराकी सुधारणाकी दृष्टिसे चिकित्सा कर अनेक उदाहरणोंके द्वारा यही सिद्धान्त बौधा है और इस विद्वान्के बांधे हुए सिद्धान्तकी कसौटी पर ऊपरकी विचार पद्धतियोंको फलकर यूरोपियनोंने इसकी राजव्यवस्थाको सबसे अधिक सुधरी हुई भाथा है।

इस प्रकार आर्पावर्त और पाश्चात्यदेशोंमें जिस क्रमसे राजसत्ता और प्रजापक्षके परस्पर संबंधकी कल्पनाओंकी उदरान्ति हुई है उसका इतिहास इस प्रकरणमें दिया गया है। इस वर्षनसे आगामी विवेचनमें बहुत कुछ सुझमता होगी।

राजकीय अनुशासन

अभिजन सत्ता.

जगत्के निम्न निम्न लोक समूहोंमें राजकीय अनुशासनके अनेक प्रकार प्रचलित हैं। परंतु परीक्षा करने पर साक्षित और सास्ताओंके एक दूसरे-पर होनेवाले परिणामोंकी दृष्टिसे उन सब मेंसे के मुक्यतया दो विभाग किये जा सकते हैं। एक अभिजन सत्ता और दूसरा लोकसत्ता। पहिले विभागका आचार अधिकार-सत्ताकी विषयता है। और दूसरेका

आचार समता है। एकछत्री राजाओं, अनिर्वाजित अधिकारी-संघों आदिका समावेश पहिले भागमें होता है सोशियालिस्ट अथवा समाज हितवादी न मजदूर पक्ष शरीरहका अंतर्भाव दूसरे विभागमें होता है। इस प्रकरणमें पहिले विभागके अनुशासनका अर्थात् अभिजनसत्ताका, देशके जनसमूहपर मानसिक और नैतिक परिणाम क्या होता है? इसपर विचार किया जायगा। किसी भी देशकी व्यावहारिक राजकारणकी सीमांसा अपने समयकी परिस्थितिपर अवलंबित होनेके कारण उसका निर्देश करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। और न उसका करना ही शक्य है। यहाँ तो सुधारणके पूर्वोक्त तत्त्वोंके अनुरोधसे परीक्षाकर किस प्रकारकी राज्यपद्धति उन तत्त्वोंके अधिक अनुकूल है यही देखना है। इंग्लैण्डमें जो राज्यपद्धति प्रचलित है वही अभिजनसत्तात्मक राज्यपद्धतिका सर्वोत्तम उदाहरण है। अतएव इसकी परीक्षा करनेसे अभिजनसत्ताक राज्यपद्धतिके गुणवर्षोंका सूक्ष्म ज्ञान पाठकोंको हो सकेगा।

यह परीक्षा करनेके पहिले आगामी विवेचनके संबंधमें पाठकोंको किसी प्रकारका भ्रम न हो जाय, इसलिये प्रस्तावना रूपसे दो शब्द लिखना उचित प्रतीत होता है। अभिजन सत्ताका विवेचन करनेसे हमारा प्रयोजन उन सब भेदोपभेदोंका सिद्ध सिद्ध विवेचन करनेसे नहीं है जो अधिकारोंके न्यूनाधिक उपयोगके कारण उसके हो सकते हैं। किंतु सामान्य तथा पूर्वतिहास, मत, परंपरा और परस्पर प्रेम आदिके द्वारा निश्चित राजकीय अनुशासनका उसे एक पक्ष अथवा एक संस्था समझकर ही उसके विचार करनेका हमारा प्रयोजन है। बिल प्रकार किसी मनुष्यके सर्व व्यवहार उसके एक विशिष्ट हितके अनु-

If then we employ the term status, agreeably with the best writers, to signify personal conditons only and avoid applying the term to such conditons as are the immediate or remote result of agreement, we may say that the movement of progressive societies has hitherto been a movement from status to contract.

Maime's 'Ancient Law' chap. V.

रोचते होते हैं उसी प्रकार सामुदायिक रीतिसे विशेष प्रकारके कुछ स्वहितोंको सिद्ध करनेके लिये अभिजन सत्ताके व्यवहार होते हैं। इन दोनोंमें अर्थात् मनुष्य विशेष और अभिजन सत्ताके राज्यपद्धतिमें स्वहित साधनरूप व्यवहारकी मुख्य दृष्टि प्रायः समान होती है। परन्तु दूसरे प्रकारकी समानताएँ नहीं होती। एक मनुष्यमें बितने प्रकारके भिन्न भिन्न मनोविकार हो सकते हैं उतने प्रकारके समाजमें नहीं होसकते। और इसका कारण भी स्पष्टही है। अनंत प्रकारके स्वभाववाले अनेक मनुष्योंमें जिस एक प्रकारके स्वभावकी ऐक्यता होगी उसी स्वभावकी दृष्टिसे उनकी समाज बन सकेगी और फिर उसमें उसके अवयव स्वरूप व्यक्तियोंके इतर स्वभाव-भेदको स्थान नहीं मिल सकेगा। जैसे कि क्रिकेट जगजा टेनिस खेलनेकी इच्छा भिन्ने होती है वे इसी हेतुसे एकत्रित होकर एक संस्था स्थापित करते हैं। इस संस्थामें नीतिमान्, अनैतिकमान्, आस्तिक और नास्तिक आदि सब प्रकारके लोग सम्मिलित होते हैं। संस्थामें अपने खेलनेके हेतुके सिवाय उसके सदस्योंके दूसरे गुणावगुणोपर विचार नहीं किया जाता। क्योंकि उससे समाजके हेतुमें बाधा उपस्थित होनेकी संभावना है। तीन बार अमेरिकाके प्रेसीडेन्ट होनेके बाद फिर अपने खेलमें हल फिरानेको जानेवाले जार्ज बार्किंगटनका और अपरिमित परिश्रमसे प्राप्त की हुई राजलक्ष्मीको रामदास गुजरी झोलीमें अर्पण कर देनेवाले शिवाजीका उदाहरण समाजके किसी भी विशेष सधमें नहीं मिलता। क्योंकि ऊपर कहे अनुसार जिस हेतुसे व्यक्ति समाजका घटक बनती है उस हेतुके बाहिर उसकी दृष्टि नहीं होती। सूर्य मंडलके आस पास फिरनेवाले ग्रहोंकी स्वतःकी गति भिन्न होवे पर भी उन्हें सूर्यके आसपास भ्रमण करना ही पड़ता है उसी प्रकार समाजके घटक होनेके नातेसे मनुष्यको समाजके सामुदायिक स्वार्थके लिये तदनुसृत आचरण करना ही पड़ता है। भिन्न भिन्न धार्मिक परंपराओं, राजसत्ताके भिन्न भिन्न विभागों, व्यापारिषोकी छोटी बड़ी दूकानों जयना स्वतंत्र बंधा करनेवालोंके समूहोंमेंसे मिले देरों वही अपने सधके स्वार्थका घोड़ा आगे ठकेलता हुआ दिखाई पड़ेगा। घमं मन्थाके उदाहरणको ही लीजिये। सम्पूर्ण जगत्के धर्मोंका उद्देश परमेश्वर प्राप्ति और अतंत्र धार्मिका लाभ प्राप्त करना है। परंतु इस साध्यकी जोर भिन्न भिन्न दृष्टिमें देखनेवाले और भिन्न भिन्न मार्गोंसे जानेवाले लोगोंके जी-जव हैं उनमें क्या हम प्राप्ति प्राप्तिके कार्यके लिये परस्परमें द्वेष होता है—

गर्ही । इंग्लैंडने ईसाई धर्मके रोमन केथोलिक अगार प्राटेस्टेंट ये दो विभाग है । ये दोनों ही थीयूक्राइस्टको अवतार मानते हैं और थीयूके उपदेशित शांतिप्रधान मार्गके पुरस्कार करनेका अधिकारी भी दोनों ही अपनेको समान रीतिसे समझते हैं । तीन चार शताब्दियोंतक इन दोनोंमें जैसा हाद्वैर रहा और एक दूसरेको जानसे मार डालने, खेदमें डालने तथा जीतेजी जला देने तककी बौध्दत पहुँचती रही वह किसीसे छिपी नहीं है । यह संभव है कि इन दोनों पक्षोंमें उदार मतकी कितनी ही ब्यक्तियाँ होगी और ये इन कानूनोंके निध भी समझती होंगी पर उनके किसी पयके स्वीकार कर लेवे पर फिर वह पंथ ब्यक्तिके ब्यक्तिगत विचारोकी पर्वाह नहीं करता । उस पंथको केवल अपना स्वार्थ सिद्ध करनेकी ही पुन रहती है । रण क्षेत्रने समुच्च खड़े होनेपर पिता पुत्र भी अपने स्वानाबिक प्रेमको भूल कर अपने पक्षकी ही पर्वाह करते हैं । यही बात राजसत्ताकी है । वह अपने हितके मार्गमें जाते समय ब्यक्तिगत मत और नीतिकी पर्वाह नहीं करती । नीतिशास्त्रमें भी अंधियाँ होती हैं । जिनकी दृष्टिसे किसी विशेष कृत्यकी नीतिमीमांसा की जाती है उनके संस्था-समुदायके प्रमाणसे वह भीमांसा ब्यस्त रहती है । और इस कारण राष्ट्रीय नीतिमीमांसा निरपेक्षता और शुद्धताकी दृष्टिसे सबसे हीन होती है । राष्ट्रीय नीतिमत्ताकी अपेक्षा किसी राजकीय पक्षका हितसाधन नीति दृष्टिसे अंध होता है । यद्यपि स्वार्थ दृष्टि दोनोंमें समान होती है परंतु राजकीय पक्षमें वह कानूनके द्वारा नियमित होती है । राजकीय पक्षकी अपेक्षा सामाजिक नीतिमत्ता अंध होती है और सबसे अंध ब्यक्तिगत नीतिमत्ता हो सकती है । ब्यक्तिगत नीतिमत्ताको किसी समुदाय या संघमें देखना पागलपन है । यही अंतर अभिजन सत्ताकी नीमांसा करते समय भी ध्यानमें रखना चाहिये । अभिजनसत्ताके ब्यक्तियोंके परस्परमे ब्यक्तिगत व्यवहार कैसा भी हुआ तो भी अपने संघसे बाहिरकी ब्यक्तियों या ब्यक्तिसंघोंके साथ उनका व्यवहार स्वार्थ पूर्ण ही होगा यह नहीं भूल जाना चाहिये । अभिजन संघकी कुछ ब्यक्तियोंमें प्रजाजनोंको अधिकार देनेकी इच्छा भी हुई तो भी यह कौन कह सकता है कि उनका सम्पूर्ण संघ अपनी सत्ता कम करनेको तैयार होगा ।

अब यह देखना है कि इस प्रकारकी अभिजनसत्ताका परिणाम जनतापर छाधारणतया क्या होता है ? । जनसमुदायकी विविष्ट ब्यक्तियोंपर उसका

परिणाम साथ ही मित्र भी हो परंतु सामान्य जनमभूदपर होनेवाले परिणामसे ही उसकी कीमत माझूम होगी । किसी भी प्रकारकी अधिकार सत्ताका अंतिम साध्य राष्ट्रीय जनताकी शारीरिक, मानसिक, आर्थिक आदि सब प्रकारकी उन्नति करनेका होना चाहिये, इसे दृष्टिले परीक्षा करनेपर वेदों कि अभिजनसत्ता कर्हातक कसोटीपर उतरती है । राष्ट्रकी जनताके साधारणतया दो विभाग होते हैं । एक शिक्षित और दूसरा अशिक्षित । अशिक्षित वर्ग निजके निर्वाहके कार्यमें व्यग्र रहनेके कारण और राजनीतिकी विस्तृतताके कारण राजनीतिके सर्व जागोपागोंका आकलन करनेमें असमर्थ रहता है । और इसीलिये वह इस संघर्षमें स्वतंत्र भ्रम देनेके योग्य नहीं होता । यह ज्ञान, शिक्षितवर्गको होता है । शिक्षित वर्ग सारासार विचार, वस्तुस्थितिके स्पष्टीकरण और कानूनकी मर्यादाके द्वारा तथा इतिहासके ज्ञानसे अपने विचार निश्चित करता है । फिर अशिक्षित जनसमूहमें उन विचारोंकी फैलाता है । और इस प्रकार प्रचलित प्रश्नकी नीमासा कर उसका सामोपाग ज्ञान अमजीबी वर्गको करा देता है । इस ज्ञानसे यद्यपि उन्हे वर्तमान परिस्थितिकी जानकारी होती है । तो भी उन लोगोंमें शीर्ष परंपरा और वस्तु स्थितिके स्नातुभवसे जो संस्कार पक्के जाते हैं वे तो स्थायी रीतिले रहते ही हैं । इसके लिये इंग्लैण्डका उदाहरण काफी होगा । पाठकोको माझूम होगा कि इंग्लैण्डकी राजव्यवस्थाके मुख्य तीन अंग हैं । पहिला अंग है हाउस आफ कामन्स जो कि महत्त्वपूर्ण है । यह लोक प्रतिनिधियोंकी सभा है । इसमें निश्चित नियमोंके अनुसार लोगों द्वारा चुने हुए करीब छहसौ सभासद बैठते हैं । येही वे प्रतिनिधि हैं जो राज्यकार्य चलाते हैं । सब प्रकारकी अधिकार-सत्ता और अनुज्ञासत्ता-सत्ता इस सभाके हाथमें है । राजव्यवस्थाका दूसरा भाग काई सभा है । वे काई दो प्रकारके होते हैं । एक तो वंश परंपरागत पदवीसे बने हुए और दूसरे निज पराक्रम और बुद्धिसे इस मानको प्राप्त करनेवाले । इस सभाका महत्त्व पहिली कामन्स सभाकी अपेक्षा बहुतही कम है । राष्ट्रके प्राण स्वरूप बनकी व्यवस्था करनेका इसे विशुद्ध अधिकार नहीं है । जन संबंधी किसी भी कानूनका महत्त्वदा पहिले पहिले इस सभा में उपस्थित नहीं होता । और भी कई तरहसे इस सभाने अधिकार और कर्तृत्व मर्यादित हैं । इन दोनों सभाओंकी सापेक्ष स्थिति पर विचार करनेसे काई सभा बहुत ज्योंमें हीन गुण और हीनाधिकार माझूम

होगी और राजनीति तथा कानूनके विद्वान इस सभाको ऐसा समझते भी हैं । तथा मजदूर लोगोके मनमें भी इस सभाके संबंधमें यही भाव उत्पन्न करनेका प्रयत्न करते हैं । परन्तु उन लोगोके मनमें सरदार लोगोको जो श्रेष्ठ समझनेकी कल्पनाये घर कर लिया है उसका निकलना बड़ा कठिन है । किसी मजदूर या मध्यमश्रेणीके मनुष्यसे किसी सरदारकी अचानक भेंट हो जानेपर मजदूरको अधिकारके तारतम्यकी दृष्टिसे सरदारके हीन होनेका किसनाही निश्चय हो तो भी उस सरदारके सम्मानार्थ उसका मस्तक साहितिक रीतिसे नम्र हो ही जाता है । क्योंकि उसके मनमें सरदारोंको श्रेष्ठ समझनेकी कल्पना चिरका-लसे दृढीभूत हो चुकी है । सरदारवर्गके बहुताकासे यहाँ चले आये हुए अस्तित्वके कारण दूसरे लोगोके मनपर उनके संबंधमें कुछ मानसिक और नैतिक संस्कार दृढ़ हो ही जाते हैं । सरदारोंकी सना सरदारके मूल कायम हुई थी । उस समय उसके अधिकार अनर्थादित थे । फिर क्रमक्रमसे वे मर्यादित होते रहे हैं । परंतु उसके अस्तित्वसे साधारण जनताके मनपर जो नैतिक और मानसिक संस्कार हुए हैं वे ज्योंके त्यों बने हुए हैं । यहाँपर समाजजनसत्ताके संबंधमें जो विचार करना है वह इसके द्वारा जनताके मनपर होनेवाले नैतिक और मानसिक संस्कारकी दृष्टिसे ही करना है । क्योंकि ये संस्कार दीर्घ कालतक टिकनेवाले होनेके कारण संस्कृति अथवा प्रगतिकी दृष्टिसे राष्ट्रपर इनका स्थायी परिणाम होता है । और दीर्घकालसे चले आये हुए इन परिणामोंके अनुसार राष्ट्रका ध्येय निश्चित हो जाता है । जिसका परिणाम न्यूनाधिक प्रमाणसे राष्ट्री सम्पूर्ण व्यक्तियोंपर होता है । जैसे कि हिन्दुस्तानका ध्येय विवृति मार्ग है । जगत्को असार समझकर शान्मतव-स्तुकी प्राप्तिके अर्थ उसका त्याग करनेकी कल्पना योगियोंके लिये अनुभवनीय होनेपर भी दूसरोंके लिये वह प्राकृतिक नहीं मानी जा सकती परंतु उसके इस राष्ट्रीय संस्कारका परिणाम राष्ट्रीके शीघ्रपर इतना दृढ़ हो गया है कि क्षुद्र बातोंमें भी उसका ध्यान लोगोको हो ही जाता है । किसी मनुष्यको प्रयत्न करनेपर भी यदि द्रव्य प्राप्ति नहीं होती तो वह विवृत्तिकी इस कल्पनासे अपना समाधान कर लेता है कि " बहुत धन कमाकर करना भी क्या है ? जिन्होंने बहुत कमाया था वे क्या उसे अपने साथ ले गये । वह तो यहाँ ही पड़ा रह गया । यहाँ तो लुके हाथ अकेले जाना पड़ता है । यह द्रव्य नाशवाद् है " । इन विचारोंके उत्पन्न होनेका कारण उस

व्यक्तिके नैतिक और मानसिक संस्कार ही हैं । पूर्व समयमें स्पार्श्वदेशकी राष्ट्रीय रूपना देखाभिमान थी । और प्रायेण व्यक्तिकी रूपनाका लय इसी देखाभिमानकी रूपनामें होता था । राज्यक्रांतिके समय फ्रान्सकी राष्ट्रीय रूपना " समता " थी । दो स्वस्त्रियोंमें द्रव्य, धन, शान, नीति तथा अधिकारसे अंतर होने पर भी यदि वे एक दूसरेका देश बंधु कह कर उल्लेख करतीं तो दोनोकी सत्तोप होता था । इस प्रकार भिन्न भिन्न समानोकी भिन्न भिन्न साध्य कल्पनाएँ, उन उन समाजोंकी व्यक्तियों पर जो नैतिक और मानसिक संस्कार हुए हैं उनसे बनी हैं । इस समय इंग्लैण्डमें दो परस्पर विरोधी रूपनाओंका साम्राज्य है । एक तो अभिमान, सत्ता अर्थात् श्रेष्ठ कुलमें जन्म होनेके कारण मनुष्यको प्राप्त होनेवाली उच्चताकी रूपना है । और दूसरी लोक सत्ताकी रूपना जिसका उच्च ज्ञानके द्वारा हुआ है और जो मनुष्यकी सहज समताके कारण अधिक पसंदकी गई है । इन दोनोका झगडा वहाँ अभी चालू है । नार्मन लोगोके मिटन देश जीतने पर वहाँ अधिकारके बल पर जिन लोगोंका सरदार संघ बना उसने सब कानूनोंकी धाराओं पर अपने हाथमें रखी और वहाँ (मिटन) के मूल निवासियोंको गुलाम बना डाला । उन लोगोंकी हीन स्थितिके धर्नाक विन्दुके तौर पर उनके गलेमें पीसलका पट्टा डाला जाता था, वह उल्लेख सर वास्टर स्कटने अपने उपन्यासोंमें किया है । परंतु अब यह काल चला गया है और वहाँ उस अभिमान सत्ताका वहाँ तक पतन हो चुका है कि खदानमें काम करवाला एक मजदूर और श्रेष्ठ कुलका सरदार राजकीय और कानून की दृष्टिसे समान माने जाते हैं । एक मजदूर भी सरदारको न्यायालयमें शिष्या कर चुका सकता है । और कोठ्याधीशोंको पार्लियामेन्टके चुनावके समय मत प्राप्त करनेके लिये गरीब मनुष्यकी भिक्षा करना पड़ती है । इतना होने पर भी सरदारोंकी श्रेष्ठताका जो संस्कार लोगोंके मन पर दीर्घ कालसे हो चुका है वह चट नहीं हुआ है । लोगोंके मन पर होनेवाले स्थायी परिणाम ही राष्ट्र और समाजका मनोधर्म है । अतएव इसका विवेचन करना अत्यंत आवश्यक है कि इस दृष्टिसे अभिमान सत्ताका राष्ट्रके शील पर स्थायी परिणाम क्या होता है और वह कहां तक इष्ट अथवा अनिष्ट है । अभिमान सत्ताका सबसे अधिक महत्त्वका परिणाम, मनुष्य समाजमें विषमताके लक्ष्यका प्रचार है । इस लक्ष्यका कोई उपदेश नहीं करता

किंशु सेव्य, सेवक, धनी और नोकर, बलवान् व दुर्बल आदिके परस्पर व्यवहारके अभ्याससे यह घोष उत्पन्न होता है । नित्यप्रति इस प्रकारका व्यवहार करनेसे समाजका एक वर्ग दूसरे वर्गको अपनेसे श्रेष्ठ समझने लगता है । और उसकी इस समझका परिणाम उसकी बुद्धिपर होता है । यह विपमता नैसर्गिक नहीं है किंशु समाजकी कृत्रिम स्थितिके कारण मानी जानेवाली विपमता है । जगत्में कोई भी दो वस्तुएं अथवा कोई भी दो मनुष्य सम्पूर्ण तथा समान नहीं होते । इस दृष्टिसे मनुष्य वर्गमें तारतम्य भाव होना निश्चित है । जगत्में समता कभी भी नहीं होती बहुविधत्व, जगत्का विशिष्टत्व है परंतु जगत्की नैसर्गिक विपमतासे मनुष्यकी मानसिक रचनामें अंतर नहीं पड़ता । जिस प्रकार न्यूनाधिक शक्तिवाले दो मनुष्योंके अवयव न्यूनाधिक नहीं होते उसी प्रकार बुद्धिसामर्थ्यके भेदसे बुद्धिमूर्खोंमें भी अंतर नहीं होता । जगत्में जिन लोगोको साधारण बातों अथवा गुणोंमें दूसरोंकी अपेक्षा श्रेष्ठत्व प्राप्त हो जाता है वे ही लोग समाजमें विपमता कायम रखनेके कार्यके भाग्य पुरस्कृतों हुआ करते हैं । वे क्षुद्रबातोंके द्वारा अपने श्रेष्ठ अभिमानका पोषण कर एक प्रकारसे आत्मबंधना करते हैं । इस वर्गमें ऐसे भी मनुष्य होते हैं जो यह समझते हैं कि जन्म जयवा क्लृप्तके कारण मनुष्यकी सारी-रिक और मानसिक स्थितिमें अंतर पड़जाता है और भिन्न भिन्न जातियोंमें उत्पन्न होनेवाले मनुष्योंमें मनुष्य और मनुष्येतर प्राणीके समान अंतर होता है । और वे दोनोंके रक्तको भी भिन्न भिन्न रंगका शायद समझते हैं । परंतु यह कल्पना असत्य है । मनुष्य जातिमें एक प्रकारकी तात्त्विक और मानसिक समता है जिसे बुद्धि, शक्ति और अधिकारकी न्यूनाधिकता बाधा नहीं पहुँचा सकती । यह बात स्पष्ट दृष्टिमें भी आ सकती है । मनुष्य जातिमें उत्कर्षकारणोंसे होनेवाली विपमता पृथ्वीके पृष्ठ भाग पर पर्वत और समुद्रके द्वारा होनेवाली उँचाई निचाईके समान क्षुद्र है । और यह गत एक प्रकारमें बतला भी चुके हैं । किसी भी गुणका उत्कर्ष, मनुष्यमात्रको आश्वर्ष चकित कर देता है और अपनी दुर्बलताके कारण यह आदरका पात्र होता है इस परसे आदर पात्र मनुष्यको सत्त्वतः इतर मनुष्य जातिसे भिन्न समझना भूल है । यदि उसे मनुष्य जातिसे भिन्न कोई उच्च शक्ति माना जाय और इस कारण उसके क्लृप्तों भी सबसे श्रेष्ठ और अपूर्व माना जाय तो समाज व्यवस्थाके कल्पनात्मकी क्षरीरमें रोग प्रवेश करानेके समान होगा । क्योंकि

समताके अभावमें सेव्य-सेवक और उच्च-नीचके संबंधका अर्थविपर्याय होता है। एक वर्ग (नीच वर्ग) में आदर भावके स्थानपर लांगूळ धाड़न करनेका अभ्यास उत्पन्न होता है और दूसरे (उच्च) वर्गमें उदार चारित्रिके स्थानपर उन्माद उत्पन्न हो जाता है। सद्गुण, गुणरहित हो जाते हैं और नीति, समाजमें परस्परमें व्यवहार करनेवाले व्यक्तियोंके दर्जहके अनुरोधसे सहजमें फेंक देने योग्य जीर्णरक्ष मानी जाने लगती है। बुद्धिमत्ता, श्रेष्ठ वर्गकी सुधामय करनेका एक उत्तम साधन मानी जाती है। और श्रेष्ठ कुलोत्पन्न मनुष्य " यस्यास्ति विचं स नरः कुलीनः सः पंडितः सः क्षुतिमान् गुण्यः " इस श्लोकानुसार सर्वगुणसम्पन्न माना जाने लगता है। यही तक कि उस व्यक्तिके बख, गंधर्व, देव, भावित्तें उत्पन्न होनेकी कल्पनाका समाजमें प्रसार हो जाता है। प्रत्येक राष्ट्रका उल्लाम भूत मध्यम वर्ग निराशाके भारसे दब जाता है और यह वर्ग अपने परिश्रमको उच्च वर्गकी सेवाके लिये, अपनी संपत्ति उसके आदरके लिये और बुद्धिमत्ता सुधामयके लिये समझने लगता है। जिससे उस वर्गका स्वाभिमान नष्ट हो जाता है। चारों ओर निराशाही निराशा दिखती है। और उसका आत्मविश्वास क्षुण्य हो जाता है। कवि-शास्त्री, सखवेत्ता आदिको अपने गुणकी परीक्षार्थ श्रेष्ठ कुलोत्पन्न वर्गके पास बौद्ध कर खाना पड़ता है। समाजके इन दोनों भलोंकी अचलोकन करनेकी इच्छितक इयित हो जाती है। सरदार वर्गके दो मनुष्योंका सुभा श्लेषसे समय परस्परमें किया हुआ ऋण, सम्मानका कारण माना जाता है और उक्त ऋणको न देनेवालेकी निंदा होती है परंतु कष्टसे धन पैदा करनेवाले मध्यमवर्गके पाससे भोगविकासके लिये किया हुआ ऋण क्षुद्र समझा जाता है और वह न देनेपर उसका अपवाद भी नहीं होता। इस विषय व्यवस्थामें न्याया-अन्यायकी कल्पना भी विपरीत हो जाती है। यदि कानूनके शुद्ध स्वरूपके द्वारा एकाधवार वास्तविक न्याय मिल भी गया तो भी

स्वाभिमानदुर्मे छिमे दारिद्र्योन्मत्सर्दतिना

उद्धीयतेततः शीघ्रं सर्वे गुणपतत्रिणः

अर्थात् जिस प्रकार किसी मद्योन्मत्त हाथीके घृष उखाड़नेपर उस घृष पर बैठे हुए पक्षी उड़ जाते हैं वही प्रकार नीचभावके द्वारा स्वाभिमानरूपी घृषको उखाड़े जानेपर मनुष्य जातिके सम्पूर्ण गुण गण नष्ट हो जाते हैं। और इस प्रकार समाजका एक पूरा अंग छूटा अथवा विकल हो जाता है।

अभिजनसत्ताका दूसरा विषय परिणाम जनसमाजमें रहनेवाला अज्ञान है । किसी भी समय रहनेवाली अभिजनसत्तामें लोक शिक्षणके विरुद्ध बुरा-प्रवृत्ति दिखलाई ही पड़ेगा । अमेरिकाके लोगोंने उदाहरण को । जिन्होंने गुलामोंको शिक्षा देना कानून बंद किया था अथवा इंग्लैण्डके सरदारोंका उदाहरण को जिन्होंने मध्यम वर्गको केवल इसी हेतुसे शिक्षा देना निमित्त किया था जिससे वह वर्ग श्रेष्ठकुलकी सेवा उत्तम रीतिले कर सके । अभिजन-सत्ता जनसमाजमें शिक्षा प्रचारके सदा विरुद्ध रही है । शिक्षासे लोगोंको अपने अधिकारोंका ज्ञान हो जाता है । और उससे ऊपर कहीं हुई मानव-समाजकी तात्त्विक समता उनके निर्वर्णनमें आ जाती है । जिससे उनकी दृष्टिमें श्रेष्ठ कुलमें जन्म लेनेकी कीमत कुछ अधिक नहीं रहती । अतएव अभिजन-सत्ता अपनी इस स्वार्थ-दृष्टिके कारण कि शिक्षाके प्रचारसे सर्व साधारणकी दृष्टिमें अपनी श्रेष्ठताका कुछ महत्त्व नहीं रहेगा, जनताको शिक्षा देनेकी कल्पनाके अत्यंत विरुद्ध होती है । शिक्षणकी तुलना साधारणतया अमृतसे की जाती है । अतः प्रायः समाजमें स्वतन्त्री स्थिति और भावी प्रगतिका ज्ञान उत्पन्न करनेवाली सजीवनी-विद्या, शिक्षाही है । उन्हें मेकालेने शिक्षाको परमेश्वरीय कलाके समान माना है ।

विषमप्यमृतं क्षिप्रमेतत् वा विषमीश्वरेच्छया ॥

अर्थात् परमेश्वरकी इच्छासे कभी विष अमृत हो जाता है और अमृत विष हो जाता है । कालिदासकी इस दृष्टिमें प्रगट किये हुए ईश्वरकी इच्छाका फलत्वं अपने ऊपर लेनेवाली अभिजनसत्ता, अमृतरूपी शिक्षाको लोकसमाजके लिये विषमय समझती है और इस कारण उसकी गद्दा शिक्षाके ऊपर सदा पड़तीही रहती है । जिससे राष्ट्रकी स्थिति अत्यंत हीन हो जाती है और उसे सुचारणकी सबसे भीषी सीढ़ीपर आचार होकर पड़ा रहना पड़ता है ।

अभिजन सत्तासे एक बड़ी हानि यह है कि राष्ट्रके एक भागमें आलस्यकी अत्यंत वृद्धि हो जाती है । वह भाग, कुछ कामकाज न करना और जगत्के लिये उपयुक्त एवं उद्योगवर्धक कार्योंको करनेमें सामिमान आलस्य दिख-खाना प्रेम्भ्य और बद्भ्यनका कारण समझने लगता है ।

आलस्यं हि मनुष्याणां, शरीरस्थो महान् रिपुः ।
नास्त्यद्यम समो बन्धुः यं कृत्वा नावसीदति ।

यह तत्त्व समूह नष्ट हो जाता है और उद्योगी पुरुषोंकी निर्मल्लसना होने लगती है। अपने विनोदकोही लिये किये जानेवाला उद्योग भी निम्न श्रेणीका माना जाने लगाता है। इसका एक उदाहरण हिन्दुस्तानमें हो चुका है। क्रिकेट खेलते समय गेंद छानेके लिये स्वयं ढौड़नेवाले साहयसे एक हिन्दुस्तानी सरदारने कहा कि इस हलके कामको करनेके लिये आप किसी नौकरको क्यों नहीं रख लेते ? सारास्य यह कि जिसे अंगरेजीमें Dignity of Labour परिभ्रमका ऐश्वर्य कहते हैं, अभिजनसत्ताको उसकी कल्पना तक नहीं होती और इस कारण राष्ट्रका प्रायः एक भाग आलस्यरूपी राक्षसके पंजमें आ जाता है जिससे अखिल राष्ट्र, पक्षाघात होनेके समान विकल होकर पड़ा रहता है। उठने नहीं पाता ।

इसके विरुद्ध लोकसत्ताके शासनमें प्रत्येक मनुष्य स्वतंत्रता और समताकी स्थितिमें जन्म लेता है। और शिक्षाका प्रचार सार्वत्रिक हो जाता है। प्रोफेसर हक्सलेने लिखा है कि इंग्लैण्डमें जनताको सार्वत्रिक शिक्षा देनेके लिये उस देशके परोपकारी लोगोंने जो बोर्डस्कुल स्थापित किये थे उनके चलावनेमें मुख्य अड़चन यही थी कि वहाँका अनिक धर्म विरोधी था। लोकसत्ताके शासन-कालमें मनुष्यका पद उसकी बुद्धि और चरित्र पर अवलंबित रहता है। यदि लोकसत्ताके शासनमें कहीं कोई साधारण मनुष्य बड़े पद पर दिखलाई पड़ता है तो उसका कारण निम्न निम्न राजकीय पक्षोंकी सहायतासे चलनेवाली राज्य-व्यवस्था-पद्धति (Party System of Government) है। इन पक्षोंमें जब पक्षोंके मतके परंतु सब तरहकी बुद्धिके लोगोंका समावेश होता है। अमेरिका सरीखे देशोंमें शिक्षाका ही महत्त्व है। वहाँ अत्यंत श्रीमान् लोगोंको भी शिक्षा प्राप्त कर विद्वान् होना पड़ता है। विना शिक्षाके केवल संपत्तिके कारण वहाँ मान नहीं मिलता। लोकसत्ताके शासनमें पर-राष्ट्रकी बकीलीकी जगह पर वहाँ विद्वान् और कर्तृत्ववान् पुरुषोंकी नियुक्ति होती है वहाँ अभिजनसत्ताके शासनमें बड़े बड़े कुटुंबके लोग ही नियुक्त किये जाते हैं।

लोकसत्तामें स्त्रियोंको भी सार्वत्रिक मान दिया जाता है। मेल्व राज्य-आ-दितके पहिले फ्रांसमें व इतर देशोंमें स्त्रियोंके मानापमानकी भावनाका विपर्यास ही हो गया था। और धनी निर्धनियोंकी स्त्रियोंके मानसन्मानमें

विपमता उत्पन्न हो गई थी। सरदारोंकी स्त्रियोंकी इज्जतका जितना ध्यान रखा जाता था उतना गरीबोंकी स्त्रियोंकी इज्जतका नहीं रखा जाता था। मानों सरदारोंकी स्त्रियोंमें ही कजा और इज्जत होती है गरीब घरानेकी स्त्रियोंमें नहीं। उस समय गरीबोंकी स्त्रियोंको कष्ट पहुँचानेमें सरदारोंके सख्त लड़के रूपण न समझ भूषण समझते थे। इतनाही नहीं किन्तु इस प्रकार अनीतिके संबन्धसे गरीबोंकी स्त्रियोंकी इज्जत बढ़ती है यह माना जाने लगा था।

इस प्रकार लोकसत्ता और अभिजनसत्तामें अनेक प्रकारसे महत्त्वपूर्ण अंतर दिखलाई पड़ता है। संक्षेपमें यही कहा जा सकता है कि इन दोनोंकी रचना दो भिन्न तत्त्वोंपर हुई है। सब मनुष्य समान होनेके कारण मनुष्यत्वके अगभूत अधिकार भी सबके समान हैं, यह पहिले प्रकारकी सत्ता (लोकसत्ता) का तत्त्व है। और विपमता दूसरी (अभिजन) सत्ताका तत्त्व है। पहिले तत्त्वके अनुसार मनुष्यकी योग्यता और कर्तृत्वशक्तिका विचार समानताकी दृष्टिसे किया जाता है। और दूसरेमें उच्चनीच भावोंको प्रथम मानकर फिर आगेका विचार किया जाता है। मनुष्योंके गुणोंका विकास, समाजके कृत्रिम बंधनोंके अभावमें ही होता है। कृत्रिम पद्धतिके द्वारा कुंठेमें लगाई हुई पुष्प-लताके फूल जिस प्रकार, जंगलमें सृष्टिदेवताकी साधनसंपत्तिसे पूर्ण विकाश पानेवाले फूलोंकी समानता नहीं कर सकते उसी प्रकार मनुष्यत्वका पूर्ण-परिमल भी श्रेष्ठता और कनिष्ठताके कृत्रिम वातावरणमें न फैलकर सामाजिक और राजकीय समताकी झुकी हवामें ही फैलता है। यह एक सर्व सामान्य सिद्धान्त है। किसी समाज अथवा राष्ट्रका किसी विशेष अवस्थामें पूर्ण स्वतंत्र होना शक्य न होगा और अयोग्यके हाथमें सामर्थ्य न होते हुए भी सत्ता वेनेसे अनिष्टकारक परिणाम होनेकी भी संभावना हो सकती है; पर इससे मूल सिद्धान्तमें कोई बाधा न आकर प्रत्युत पुष्टिही होती है। छोटे शासकको यदि पूर्ण स्वतंत्रता दी जाय तो वह अपने आपका अधिकार कर सकता है परन्तु इसी आशंकासे यदि उसे हितहित जानने लगने पर भी स्वतंत्रता न दी जाय तो ऐसा करना कभी शक्य अथवा श्रेष्ठ न होगा। ऐसी अवस्थामें तो “ माझे तु शोचपे धर्ये पुत्रे मित्रवदाचरेत् ” की नीतिके अनुसार ही उससे व्यवहार करना होगा। इसी प्रकार राष्ट्र-विशेषके किसी अनिष्ट कालके कारण परतंत्र हो जानेपर उसे यदि सदा कृत्रिम-सत्ताके आधी-

रक्खा जाय तो वह उस राष्ट्रको और परतंत्र रखनेवालोंको अक्षय सुदकी दृष्टिसे कभी सुखावह और हितकर नहीं हो सकता ।

इस प्रकार स्थूल सिद्धान्तके रूपसे लोकसत्ता, अभिजनसत्ता अथवा धन, कुछ और अधिकारके कारण प्रचल वर्गकी सत्ताकी अपेक्षा पूर्ण श्रेष्ठ होती है। अब विचार यह करना है कि इस (लोक) सत्ताकी इष्टानिष्टताके संबंधमें क्या क्या आक्षेप हैं और उनका निरसण किस प्रकार हो सकता है ?

राजकीय अनुशासन लोकसत्ता ।

अनुशासनकी दो मुख्य पद्धतियों—अभिजनसत्ता और लोकसत्ता—की-
मुळमा कर गत प्रकरणमें यह सिद्धान्त निकाला गया है कि पहिली पद्धतिका साधारण परिणाम मनुष्य-जातिकी तेजोहानि, उसकी महत्त्वाकांक्षाका प्रतिरोध और उसकी नैतिक व मानसिक उन्नतिकी आक्रुचन करनेवाला होता है । और दूसरीका मनुष्यजातिकी अधिक उन्नत और श्रेष्ठ बनानेवाला होता है । इस भागमें इसी विषय पर और अधिक ऊहापोह कर लोकसत्ताकी इष्टताके ऊपर किये जानेवाले कुछ महत्त्वपूर्ण आक्षेपोंका विचार किया जायगा । क्यों कि किसी भी प्रकारका एक वास्तविक विचार करना उपयुक्त और हेत्वाभास-मूलक होता है । अतएव लोकसत्तात्मक राज्यपद्धतिके राजकीय, सामाजिक और नैतिक दोषोंको भी अवश्य देखना चाहिये । परन्तु इस विवेचन करनेके पहिले इस विषयके संबंधमें जो कौनिक त्रम हैं उनका निरसन कर देना उचित होगा । विवेचनीय विषयका वास्तविक स्वरूप ध्यानमें न रख कर उस विषयकी अवास्तविक कल्पना कर लेनेसे उसमें आवश्यकतासे अधिक दोष अथवा गुण दिखलाई पड़ने लगते हैं । और इस कारण फिर उसका विवेचन वास्तविक न होकर विकृत हो जाता है । इसलिये किसी भी विषयका विवेचन करते समय उसका शुद्ध स्वरूपही ध्यानमें रखना उचित है ।

लोकसत्ताके आवश्यक और वास्तविक तत्त्वध्यानमें न रखकर इसके जो जो रूप पूर्वकालके इतिहासमें दृश्यमान हुए हैं उन्हें ही लोकसत्ताके वास्तविक और सर्वोत्तम रूप समझ सर्व सामान्य जनसमूह इसकी (लोकसत्ताकी) चिकित्सा करता है । इतिहास शास्त्र पर गत एक प्रकरणमें विचार कर यह सिद्ध किया जा चुका है कि लोग जो इतिहासको वर्तमान काल पर प्रकाश

ढालनेवाली ज्योति समझते हैं वह भ्रम है। वास्तवमें वर्तमानकालका ज्ञान ही गत-काल पर प्रकाश डालता है। लोक-सत्ता-संबंधी विद्वत् कल्पनाका कारण भी इसी प्रकारकी दोषात्मक विचारसरणी है। इतिहासमें लोकसत्ताके जो रूप दिखाई पड़ते हैं उन्हें ही लोकसत्ताका आदर्श मानकर और उनमें कमी भी परिवर्तन न होनेकी संभावना पर विश्वास रखकर उन रूपोंमें दिखाई देनेवाले दोषोंके कारण यदि लोक-सत्ता हीन गुण मानी जाय तो यद्यपि वह उचित होगा, परंतु उस मान्यता और संभावनाके लिये आधार क्या होगा ? क्या लोक सत्ताके गत स्वरूपोंमें कमी परिवर्तन नहीं हुआ ? क्या कमी किसीने विचार किया है कि प्रतिदिन बढ़ने वाली वस्तुस्थितिके कारण गत-कालसे भी अधिक शुद्ध स्वरूपमें प्रगट होनेवाली लोकसत्तामें भी जो दोष होते हैं वे उसके मूलप्राही दोष हैं या नहीं ?। पूर्वकालमें ग्रीस और रोम देशोंमें लोकसत्तात्मक राज्यपद्धति थी। बिल प्रकार इस पद्धतिके कारण इन दोनों देशोंकी असीम उन्नति माननेवाले लोग हैं उसी प्रकार इस पद्धतिके कारण इन देशोंका पतन माननेवाले भी हैं। अर्थात् एकही कारणसे दो परिणाम होनेके ये लोग प्रमाण देते हैं। परंतु यह आक्षेप, कारणपर करना उचित प्रतीत नहीं होता। क्योंकि एक कारणसे तो एकही प्रकारका परिणाम होनेकी संभावना है। इसलिये यह आक्षेप कारण पर न कर कारणके साथ साथ रहनेवाली परिस्थिति पर करना ही उचित है। पदार्थको जलना अग्निका सामान्य गुणधर्म है। परंतु यदि किसी पदार्थको वह न जला सके तो उसका कारण अग्निका गुणधर्म नहीं होगा किंतु उस पदार्थमें रहनेवाली दाह-प्रतिबंधक शक्ति ही होगी। सारांश यह है कि किसी भी कार्यकी चिकित्सा करते समय मूलकारणका परिणाम और आनुवंशिक बातोंके परिणामकी सूक्ष्म रीतिसे छानबीन किये बिना कार्य-कारण-भावका सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकेगा।

ग्रीस देशके उदाहरण पर पहिले यहो विचार करना उचित होगा। ग्रीस देशके इतिहासके पाठकोंको यह विदित होगा कि ग्रीसदेश, अनेक छोटे छोटे लोकसत्ताक राज्योंका एक समूहबाध था। इन राज्योंका विस्तार जानकरके छोटे छोटे शहरोंके समान था। किसी महत्त्वपूर्ण राज्यकार्य पर विचार करनेके लिये उन राज्योंके वाकिफ मनुष्य एक स्थानपर एकत्रित होकर जो कुछ करना होता उसका निश्चय करते थे। समानके सब लोग कभी भी सुशिक्षित नहीं हो सकते। और न सांस्कृतिक काम व चिरकालिक कामके निश्चय करनेकी शक्ति ही सबमें समान

होती है । इस लिये प्रत्येक महत्त्वके प्रश्नमें लोगोंकी स्वतःकी कामहानिकी ओर दृष्टि होना पूर्ण स्वाभाविक है और फिर धूस सुधारें व कृपा आदिकी भी अवसर मिल जानेकी संभावना है । यदि कोई समासद अपनी योजना मंजूर कराना चाहे तो वह इतर समासदोंको उसके निजी कामका आभिपक्षितकरके ऐसा कर सकता है । तथा किसी तात्कालिक क्षणिक मनोविकारके झटकेके वश हो जाने पर लोक-समूह हित अहितकी ओर दृष्टि व कर अपने क्षणिक मनोविकारोंके भावेषामें राज्य-कारस्थानको उसी दिशामें उगा सकता है । और इस दृष्टिसे प्रत्येक मनुष्यको राज्यकार्यकी प्रत्येक बातोंमें प्रत्यक्षतया मत देनेका अधिकार होना उपपत्तिके तौर पर मनोहर होने पर भी परिणाममें हानिकारक ही सिद्ध होता है । यह बात प्रत्यक्ष है कि सुधार, सुधार, कोटी, चंभार वगैरह देशहितके संबंधमें कितने ही तत्पर हुए तो भी अपने अपने निर्वाह और घड़ेकी ओर ही अधिक ध्यान लगानेके कारण वे एक पर-राष्ट्रीय सचिवके समान राज्यसंबंधी उलझनोंके प्रश्नोंको कभी समझ न सके। अपने कामके सिवाय दूसरे कार्योंका साधारण ज्ञान होने पर भी उनके संबंधमें दूरदृष्टि होना अपमान्य है । इसके उदाहरणमें एक कहानी प्रसिद्ध है कि एक चित्रकारने एक उत्तम चित्र बना कर सार्वजनिक समाजोचनाके लिये आम रास्ते पर लटका दिया । और उसके साथ एक सम्मति-बही रख दी जिसमें यदि कोई चाहे तो अपनी सम्मति लिख सके । पहिले दिन एक चम्हारने आकर उस चित्रमें पने हुए जूतेकी जोड़ी पर अपनी समाजोचना इस धर्मीमें लिख दी । क्षात्रके समय चित्रकारने आकर बही देखी और उसे चम्हारका कहना उचित प्रतीत हुआ अतएव उसने अपने चित्रमें चम्हारके लिपे अनुसार सुधार कर दिया । दूसरे दिन चम्हार फिर आया; जब उसने देखा कि मेरी समाजोचना ठीक मानी गई तब वह अभिमानमें आगया और उस दिन चित्रमें लिखलाये हुए सृष्टिसौंदर्य पर उसने समाजोचना लिपि डाली । क्षात्रको आकर चित्रकारने देखा तब उसे मालूम हुआ कि पहिले दिनकी कारंवाईसे चम्हारराम अभिमानमें फूल गये हैं और इस प्रकार श्रद्धा कर बैठे हैं अतः उसने चम्हारके लिये उस धर्मीमें इस प्रकार सूचना लिपि दी कि—

यो यत्र कुहालः कार्ये तत्र तं विनियोजयेत् ।
कार्येषु दृष्टकर्मा यः शास्त्रप्रोपि विमुह्यति ॥

अर्थात् जो जिस कार्यमें कुछल है उस कार्यके लिये उसे ही नियुक्त करना चाहिये । क्योंकि कार्यमें अकुशल शास्त्रज्ञ भी कार्यके समय मोहित (अमित) हो जाता है । सार यह है कि जिसका काम उससे ही ठीक होता है । दूसरेसे नहीं । ग्रीस देशमें प्रत्येक मनुष्यके राज्य कार्यमें प्रत्यक्ष भाग ले सकनेके कारण किसी प्रकारका निर्बंध नहीं रहा था । और इस प्रकारकी पद्धती उस देशमें प्रचलित होनेका कारण यह था कि उस देशका आकारका छोटा था । वास्तवमें लोक-सत्ता और छोटे राज्यका कोई अमेघ संबंध नहीं है । उस समयके लोकसत्ताक राज्य छोटे थे, परंतु वर्तमानमें बहुत बड़े बड़े राज्योंमें यह पद्धति प्रचलित है और इसलिये इन राज्योंमें वह (सब मिल कर काम करनेका) दोष नहीं आ सकता ।

रोमके प्रजासत्ताक राज्यमें एक दूसरा ही दोष दिखलाई देता है । वह यह कि वहाँके राज्यकी नींव गुलामीके अस्तित्व पर अवलंबित थी । गुलाम लोगोंकी सहायतासे जमीनके बड़े बड़े टुकड़े थोड़े लोगोंकी मालिकीके हो गये और वे लोग उन जमीनोंको गुलामोंके सिपुर्द कर बड़े बड़े शहरोंमें चैन्की वंशी बसाने लगे । मध्यम वर्गके लोग भी गुलामोंको बहुत कम महिम्ना देकर अपना काम कराने और शहरोंमें रह कर सरदार लोगोंका अनुकरण कर अनीतिपूर्ण भोगविलासमें मग्न रहने लगे । ऐसे लोगोंमेंसे कुछ लोग सरदारोंकी ओर मिलते और कुछ दूसरे ही महत्त्वाकांक्षी पुरुषोंमें आ मिलते और फिर परस्परमें लड़ाई क्षणबंदे कराते थे । फल यह हुआ कि राष्ट्र-मेंसे स्वावलंबन, धैर्य, साहस, परिश्रम, आदि गुण नष्ट हो गये और रोमन राष्ट्रकी इमारत एक जीर्ण-शीर्ण महके समान बराशाबी हो गई । इस सब अनर्थका कारण गुलामी थी । न कि लोकसत्तात्मक राज्यपद्धति । यदि विभिन्न कारण रूप परिस्थितिले मूल कारणका परिणाम विपरीत हुआ तो उसका दोष मूल कारण पर नहीं आ सकता और उन परिस्थिति रूप कारणोंके नष्ट हो जाने पर भी वही परिणाम होगा यह भी नहीं कहा जा सकता ।

इसके बाद क्रान्तिकारी राज्यक्रांतिके पीढेकी लोकसत्ताका उद्घाटन किया जा सकता है । इस उद्घाटनमें एक तीसरा ही दोष दिखलाई पड़ता है । वह दोष यह है कि वही सम्पूर्ण राज्याधिकारोंका केन्द्र बहुत थोड़े लोगोंके हाथमें था । मुझे हुए अर्वाचीन देशोंमें राजकीय अनुशासनके उपाग, इतने बढ गये हैं कि गल

प्रकरणमें कहे अनुसार उनका एक अथवा थोड़े लोगोंके द्वारा कमी अच्छी तरहसे व्यवहार नहीं हो सकता । उस समय फ्रान्समें केवल इनी गिनी दो चार व्यक्तियों हीं अपने तंत्रसे राजकार्य चलाती थीं । मित्र मित्र राजकीय विभागोंके अधिकारों की बंटवानी कर देनेसे उनका दखलवापित्वभी बंट जाता है और वह प्रत्येक विभागके मित्र मित्र अधिकारियोंपर पड़ जाता है । वे अधिकारी अपने २ विभागके हिताहितको देख कर राज्यकारभारमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर सकते हैं । उदाहरणार्थ राज्य-कर वसूल करनेके लिये रेव्यू विभाग होता है । बिना कारण कर वसूलीको बकने न देनेके संबंधके आवश्यक अधिकार इस विभागके अधिकारीको रहते हैं । साथहीसे हुक्का, अवर्षण आदि कारणोंसे यदि फसल बगैरह ठीक नहीं होती तो कर वसूलीका काम उल्टा साफ बंद रखने अथवा माफ कर देनेका अधिकार भी उसी अधिकारीको होता है । इसी खातेके समान राज्यमें एक खासगी खाता भी होता है इस विभागके द्वारा राजाके गिनी व्यक्तिगत कार्योंका प्रबंध होता है । इस विभाग के द्वारा राजा मन माना कार्य कर सकता है । मनुष्य स्वभावके अनुसार राजाका स्वार्थपर होना और इसलिये अपने गिनी कर्चमें कमी न जाने देना एक साधारण बात है । अब यदि राजाका यह खासगी विभाग और रेव्यू विभाग एकही अधिकारीके हाथमें हो तो वह अधिकारी राजाके कर्चमें संगी न जाने देनेके सिवाजसे आवश्यकता पड़ने पर भी कर वसूलीका कार्य स्थगित नहीं करेगा और न करकी माफी देगा । परिणाम यह होगा कि आपत्तिले अर्बंर हुई प्रजाको करका बोझ असह्य हो जायगा और इसलिये उसमें अर्द्धतौर बंद जायगा और यदि ऐसे ही अनेक कारणोंसे अर्द्धतौर बंदता गवा तो उससे राज्य और राजाकी सुरक्षिततामें कमीपवा आजायगा । यह आपत्ति दोनों विभागके दो अधिकारी रखने और उन्हें उक्त विभागोंका मित्र मित्र अधिकार देनेसेही टल सकती है । क्योंकि वे अपने अपने विभाग का उचित प्रबंध करेंगे और प्रजाको संतुष्ट रखनेका प्रयत्न करेंगे । सारांश यह है कि राज्यकारभारमें सम्पूर्ण अधिकारोंका और संपत्तिका स्थान विशेष पर केन्द्रीकरण होना अनिष्टकारक है ।

एको न गच्छेद्भ्रानं नैकश्रार्थान् प्रचिन्तयेत् ॥

अर्थात् एकाकी मार्गमें गमन नहीं करना चाहिये और न अर्थका चिंतन करना चाहिये । इसी दोषके कारण फ्रान्सकी लोकसभाके कार्यमें विग्रह उत्प-

स्थित हुए । वहाँ लोक परिपक्व होनेपर भी कमी उसका अविज्ञान नहीं किया जाता था । लोगोंकी दाव फर्माद नहीं सुनी जाती थी और न राष्ट्रके कर्तृत्व-अभिसंपन्न और लोक-विश्वास पात्र मनुष्योंकी सलाह ही ली जाती थी । इन सब कारणोंका संयोग मुख्य कारणसे होते ही बोदेही निमित्तसे वहाँ राज्यक्रान्ति हो गई । जाश्वर्यकी बात यह है कि वही अधिकारोंका केन्द्रीकरण राज्यक्रान्तिके पश्चात् नेपोलियन बोनापार्टको अपनी जड़ जमानेके लिये बहुत कामदायक हुआ । 'हम करें सो कायदा' की राज्यपद्धतिके लिये यह अधिकारोंका केन्द्रीकरण बहुत कामदायक होता है । क्योंकि उससे जवाब पूछने वाला कोई न होनेके कारण यह सत्ता अनर्थाहित रहती है । परंतु ऐसी सत्ता और लोकसत्ताके तत्त्वोंमें अमीन आत्मानका अंतर होता है । फ्रांसमें लोकसत्ता नाममात्रकी ही थी । व्यवहारमें तो पहिली राज्यक्रान्तिके बाद फ्रांसकी स्थिति पुद्गकालकी सेनाके समान एकच्छदानुवर्ती थी । इसलिये यह दोष लोकसत्तात्मक राज्यपद्धतिका न होकर दूसरे ही कारणोंका माना जा सकता है ।

इस प्रकार लोकसत्ताके मूलतत्त्वोंसे सर्वत्र न रहनेवाली विषम परिस्थितियोंके संयोगके कारण लोकसत्ताकी अपभ्रंश प्राप्त हुआ परंतु वास्तवमें यह उसके दोष नहीं थे । इसलिये जिस प्रकार अमीनमें बोये हुए धान्यके पौधोंको बढ़नेमें उनके साथ साथ पैदा होनेवाले दूसरे पौधे (घाँस वगैरह) विप्ररूप होते हैं और किसान यह दोष अमीन व बीजको न वेक उर घाँस वगैरहको निवारक निकाल डालता है उसी प्रकार राजकीय बातोंमें भी तत्त्वज्ञों और सुधारकोंको दूसरे दोषोंको निकाल डालनेका प्रयत्न करना चाहिये ।

जिस प्रकार लोकसत्ताके साथ साथ रहनेवाली परिस्थितियोंको मूल जानेके कारण लोकसत्तापर दोषारोपण किया गया है उसी प्रकार समयानुसार होने वाले सैद्धांतिक स्थित्यंतरोंको भी भाक्षेपक लोग मूल जाते हैं । अगत्के आरंभ कालसे छे कर आज तक मिले हुए अनुभवोंके कारण तथा परिवर्तन-शील परिस्थितियोंके कारण राजकीय तत्त्वज्ञानके कुछ मूल सिद्धान्त तक आज बढ़ गये हैं । यह एक साधारण नियम माना जाता है कि इतिहासकी पुनरावृत्ति होती रहती है । कुछ लोग इस नियमको शब्दशः ठीक समझते हैं । महाभारतके 'यज्ञप्रस' नामक प्रकरणमें धर्म रामासे किये हुए इस प्रसका कि 'यम-

धर्मसे सुखी कीन है ?' उत्तर दिया गया है कि " जतुणीचा प्रवासीच ' अर्थात् जिस पर कर्म नहीं है और जो प्रवास नहीं करता ; पहिलेके जमानेमें जब कि रास्ता चलना बहुत कठिन था और मार्गमें ठहरने आदिके अनेक कष्ट राजाको तकको होते थे इस सिद्धान्तका होना ठीक माना जा सकता है । परंतु आजके जमानेमें जब कि पुरु घटेमें साठ मील चलनेवाली रेलगाड़ियों और स्थान स्थान पर ठहरनेके सुभीते आदि साधन हो गये हैं तब इस सिद्धान्तका माना जाना कभी ठीक नहीं होगा । परिस्थितिके कारण यह सिद्धान्त परिवर्तन हो गया है । और यही दशा दूसरी बातोंकी भी है । कुछ भी करने पर पहिले काळकी परिस्थिति उत्पन्न नहीं की जा सकती । जैसे कि पहिले सर्व साधारणका यह विश्वास था कि राजाको परमेश्वरके द्वारा राज्य प्राप्त होनेके कारण राजकारणके समान धर्मकारणकी सत्ता भी राजाको ही होनी चाहिये । और यह राजकीय सुव्यवस्थाके समान धार्मिक व्यवस्थाके सबधमें भी जवाबदार है । और इस लिये जिस प्रकार वह राजव्यवस्थाके लिये कायदे कानून बनाता है उसी प्रकार धर्मव्यवस्थाके लिये भी उसे कायदे कानून बना कर अधार्मिकोंको दंड देना चाहिये । परंतु आजकल यह माम्यता नष्ट हो गई है । अब राजाके अधिकार ईश्वर निर्मित कोई नहीं मानता और न धर्म और राजनीतिका ही कोई मित्व संबंध मानता है । राजनिष्ठ होना प्रजाका प्रथम कर्तव्य है और इसलिये उसके अनुशासनका अधिकार राजाको होता है । परंतु उसके साथ ही धार्मिक बातोंमें अत्युक्त तरहसे चलनेकी आज्ञा देनेका राजाका अधिकार अब कोई माननेको तैयार नहीं है । और इस लिये अधार्मिकताके कारण दुष्काळ, युद्ध आदि आपत्ति विपत्ति प्रजाको भोगना पड़ती है । यह विश्वास रखनेवाले राजाको भी आज धार्मिक अनुशासनकी सत्ता हाथमें लेना शक्य नहीं है । ऐसी स्थितिमें मूले सिद्धान्तोंमें जो अंतर पड़ गये हैं उन पर कक्ष्य दिने बिना कभी किसी पद्धति पर दोपारोपण करना उचित न होगा । इस प्रकार लोकसत्ताके संबंधमें जो दो प्रकारके प्राथमिक क्रम हैं—अर्थात् पूर्वकालमें परिस्थिति-योके कारण होनेवाले अविष्ट परिणामोंके आक्षेप लोकसत्ता पर करना—उन अन्योंका निरसन कर अब इस पद्धति पर जो सामान्य और विशेष आक्षेप किये जाते हैं और उनका जो उत्तर दिया जाता है उन पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है ।

इस शासन पद्धति पर पहिला आक्षेप यह है कि इसका पर्यवसान अत्याचारपूर्ण राज्य-पद्धतिमें होनेकी बहुत कुछ संभावना रहती है । राजा और प्रजाके बीचमें, रेलगाडीके दो डब्बोंके नाके पर होनेवाले धक्का रोकनेके कमानदार यन्त्रके (Buffer) समान यदि अभिजन सत्ता होगी तो उससे न तो रामसत्ता अप्रतिर्वचक हो सकेगी और प्रजा भी अनियंत्रित न हो सकेगी । लोकसत्तामें स्थायी रूपसे कोई नियंता न होनेके कारण उसके द्वारा राष्ट्रमें राज्यक्रांतिके समान अचंकर आपत्तियाँ आती रहेंगी और फिर “ अराजकं हि नो राष्ट्रं विनाशं संभवाप्नुयात् ” यह वाक्यीकिका वचन सत्य होगा । परंतु अभिजन सत्तात्मक देशोंमें इस प्रकार होना शक्य नहीं है और इसका उदाहरण इंग्लैण्ड है । दूसरे देशोंमें केवल शुद्धी राजसत्ता अथवा अनिवार्य प्रजासत्ता होनेके कारण उनमें कईवार राज्यक्रान्तिका बहूला उदाहरण इंग्लैण्ड देश मेरु पर्वतके समान सदा लचल रहा है । इंग्लैण्डमें जिस प्रकार राजा जॉनके अत्याचारोंको रोकनेमें अभिजन सत्ता सफल हुई उसी प्रकार फ्रान्सकी राज्यक्रांतिके समय इंग्लैण्डमें प्रजाजनमें उठी हुई राज्यक्रांतिकी इच्छाके अध्यापकको रोकनेमें भी वह सफल हुई और राज्यको स्थिर बना रखा । अतएव केवल लोगोंके हितमें ही सत्ता देना कभी सुरक्षित और चतुराईका काम नहीं है । इस प्रकार लोकसत्ता पर आक्षेप किया जाता है परंतु सर्वदृष्टि और न्यवहार दृष्टिसे इसमें कुछ भी सार नहीं है ।

सत्त्वदृष्टिसे देखने पर इस आक्षेपमें पहिले यही शंका उत्पन्न होती है कि अभिजनसत्ता अपने स्वार्थके विरुद्ध प्रजापक्षको सहायता किस प्रकार दे सकती है ? इस सत्ताका आचार देशकी प्रचलित व्यवस्था पर अवलंबित है । प्रत्येक आन्दोलनसे समाजमें क्रान्ति उत्पन्न होती है । और ऐसे समयमें बड़े बड़े लोगोंकी संपत्तिके भयमें भा जानेकी संभावना रहती है । यदि अभिजन सत्ता प्रजापक्षमें जा कर ऐसे समयमें मिल जाय तो उसे भी अधिक बल मिलेगा और वह फिर किसीके रोके न रुक सकेगी । जिस प्रकार एंग्लिनको चालन देना कठिन है परन्तु चालन मिल जाने पर वह अपनी ही शक्तिसे अनर्थाहित चल सकता है उसी प्रकार प्रजापक्षकी अधिकार-जालसायी अभिजनसत्ताके द्वारा थोडासा भी उत्तेजन मिलने पर फिर उसे सहूलता कठिन हो जाता है । और ऐसी दशासे बड़े बड़े लोगोंकी स्थावर अगम संपत्तिका रिकाम रहना असंभव प्रतीत होता है । इस दृष्टिसे देखने पर यह

विश्वास नहीं किया जा सकता कि जिसका हिस प्रजा-जागृतिके विरोधमें समाया हुआ है वह अभिजन-सत्ता, राजसत्ताके विरुद्ध प्रजापक्षको कभी भी सहायता दे। तब दृष्टिये यह कल्पना बर्तमान प्रतीत होती है। अपने हितके विरुद्ध मनुष्य अथवा समाजका व्यवहार करना, मानवीय स्वभावके विरुद्ध है और इस नियमको मान लेनेपर ऊपर कहे अनुसार सरदारोंका प्रजाके कल्याणके लिये राजसत्तासे विरोध करना कभी सम्भव नहीं माना जा सकता।

यही तब व्यावहारिक उदाहरणोंपरसे भी स्पष्ट सिद्ध होता है। इंग्लैण्डमें ही देखा जाय तो चार्ल्स राजाके समयमें सरदार लोग प्रजाके विरुद्ध राजाके मिले रहे। उसके बाद क्रामवेल्डकी व्युत्पत्ति हो जानेपर उसके दूसरे पुत्र चार्ल्स दूसरेको जानेका काम भी सरदारोंने ही किया। फ्रांसमें भी पहिली राजक्रांतिके पहिले राजाके अत्यंत शक्ति होनेपर सरदार लोगोंके अपनी सत्ताका उपयोग प्रजा हितके लिये नहीं किया किंतु राजाके अत्याचारोंकी ही सहायता की जिससे वे भी राजाके साथ साथ अन्धके साथ घुनके समान मिस गये। यद्यपि उस समय लोगोंके हाथोंसे भी अविष्ट कार्य हुए परंतु उसका दोष लोकसत्ताके राज्यपद्धति पर न होकर पहिले कहे अनुसार उस परिस्थिति पर ही था जिसके कारण लोकसत्तात्मक राज्यव्यवस्था शुरू न हो सकी थी। अर्थात् राजाके नष्ट हो जाने पर कुछ महत्त्वाकांक्षी पुरुषोंने आगे जाकर पहिलेसे चले जाये हुए अधिकार-केन्द्रीकरणकी पद्धतिसे अपना काम उठाया चाहा और इस प्रकार प्रजाकी एक ओर रक्तकर आपसी बाधसाहस करने लगे। लोकशास्त्रमें इन बातोंके अर्थात् अधिकारोंके केन्द्रीकरण और शक्तिकरणके पूर्ण विरुद्ध हैं और इसलिये यह दोष लोकसत्ता पर लादना कभी उचित नहीं होगा। अस्तु। फ्रांसके उदाहरणसे यह बात सिद्ध है कि अभिजन सत्तासे उस समय लोक पक्षकी सहायता नहीं दी।

आलोचकोंका प्रश्न यह है कि इंग्लैण्डमें राजसत्ता और अभिजन सत्ता होते हुए भी कभी भी फ्रांसके समान अव्यवस्था अथवा दृष्टित प्रसंगके न आये और स्वातन्त्र्यके दिन पर दिन बढ़ते रहनेका मर्म क्या है? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि इंग्लैण्डके स्थानिक स्वराज्यको सब बातोंमें लोकसत्ताकी ही अधिकार है। अभिजन सत्ता और राजसत्ता उनमें हस्तक्षेप नहीं कर पातीं। इस लिये वहाँ इन दोनोंमें टकराव होनेकी संभावना नहीं है।

मिस प्रकार अमेरिकामें अब्दालीस संस्थानों-रियासतों—को अपनी अपनी रियासतोंका अनुशासन करनेका पूर्ण अधिकार है उसी प्रकार इंग्लैण्डके परगनेवालोंको उन परगनोंके अनुशासनका पूर्ण अधिकार है । केवल साम्राज्यके अंतिम प्रश्नोंके संबंधमें अभिजनसत्ताको कुछ अधिकार हैं और वे भी दिन दिन कम होते जाते हैं । सारांश यह कि अनुशासनके एक भागमें तो उसे विशुद्ध अधिकार नहीं है और जहां है वहां केवल विज्ञान है । अर्थात् इंग्लैण्डमें अभिजन सत्ता बलवान् रूपमें नहीं है और इस लिये लोकसत्ताके आड़े आनेकी ताकत भी उसमें नहीं है । जहां वह विरोध करती है वहां उसका पराभव होता है । और इस कारण मूल आक्षेपकोके कहे अनुसार राजसत्ता और लोकसत्ताके बीचमें अभिजनसत्ताकी आवश्यकता अनुभवसे भी सिद्ध नहीं होती ।

लोकसत्ता पर एक यह आक्षेप है कि उसमें किसी व्यक्तिका जन्मसे अर्थात् बंश-परंपरासे अधिकार अथवा महत्त्व न माना जानेके कारण वह वास्तुके असंत्य कण्ठसे बने हुए एक नदीके तटके समान है । ऐसी स्थितिमें यदि कोई महत्त्वाकांक्षी मनुष्य प्रजाहितका ढोंग कर पहिले तो प्रजाका प्रेम संपादन कर ले और फिर अधिकार प्राप्त कर लेने पर झुलम करने लगे तो उसे रोकनेके लिये कोई भी आगे नहीं आ सकेगा । किसी मैदानमें गरीब बोढ़ेको छोड़ देनेपर उसे फिरकेको मनमानी जगह मिलनेसे पहिले तो आनंद होगा परंतु जब वह अपने आपके कब्जेमें भी नहीं रहेगा तब तुरंत ही यह इच्छा भी होगी कि उसे रोकनेको यदि मैदानमें कोई क्षाद अथवा टीला होता तो अच्छा होता । और इन प्रतिबंधक कारणोंका न होना उस समय कामदायक न मानकर हाविकारकही माना जायगा । इसी प्रकार ऊँच, बीच भावनाओंसे रहित राजकीय मैदानमें महत्त्वाकांक्षायुगी बोढ़ेके मनमाना छूट जानेपर हानि होनेकी अधिक संभावना है । इसके लिये नेपोलियन बोनापार्टका उदाहरण दिया जा सकता है । फ्रान्सकी राज्यक्रान्तिके समय राजसत्ता और अभिजनसत्ता नष्ट हो जानेपर निर्वाह-उर्वातल पर नेपोलियनको स्वैरसंचार करनेका क्षम अनुकूल अवसर मिला । और उस अवसरसे लाभ उठाकर उसने अपने निजका अत्याचारपूर्ण शासन स्थापित किया । इसी प्रकार रोमन लोकसत्ताके समयमें भी कॉसल, प्रीटर वगैरह अधिकारियोंको केवल बाध्याहका क्षम धारण न कर बाध्याहके सब अधिकारोंके सूत्रोंको अपने

हाथमें लेकर वादवाहसे भी अधिक सुख करनेका जो मौका मिला उसका कारण भी यही है कि उस देशमें किसी भी प्रकारकी प्रतिबंध करनेवाली सत्ताका अभाव था । निरस्त पादप अथवा वृक्षहीन मैदानमें परेडके समान झोटे भी वृक्षत्वका अधिकार प्राप्त कर लेते हैं उसी प्रकार उच्च नीच भाव-रहित लोकसत्ताके शासनकाळमें साहसी और महत्वाकांक्षी मनुष्योंको अवसर मिलता है । अधिकारकी दृष्टिसे ऊंची नीची सीढ़ियोंकी अत्यंत आवश्यकता है उनके होनेसे कोई मर्पावा मंग नहीं कर सकता । परंतु लोकसत्ताक राज्य-पद्धतिमें इस बातका अभाव होनेसे वह अपवादकी पात्र है ।

परन्तु यह आक्षेप भी उचित नहीं है । लोकसत्तात्मक राज्यपद्धतिमें सब लोग बुद्धि, कर्तृत्व आदिमें साधारणतः समान माने जाते हैं । और इस लिये किसी मनुष्य विशेषके आगे आकर सुख करनेकी संभावना अमूर्ण्य है । यदि सम्पूर्ण प्रजाजन दुर्बल, अशिक्षित अथवा स्वतंत्रताके ज्ञान रहित हुए तो इस प्रकारकी आपत्ति आनेकी संभावना हो सकती है । ऊपर बतलाये हुए दोनों अवसर इसी प्रकारके थे । नेपोलियनके समयमें फ्रान्स देशके लोग अशिक्षित थे । और अनेक वर्षोंसे उन पर जो सुख हो रहे थे उनके कारण, वे निःसत्त्व हो गये थे । विपमन्वरसे अत्यंत दुर्बल हो जानेवाले मनुष्यमें वायुके प्रकोपके कारण सात्त्विक शक्ति आ जाती है परन्तु वह प्रकोप नष्ट हो जाने पर वह पहिलेसे भी अधिक निर्बल हो जाता है इसी प्रकार राज्य-क्रान्तिरूपी वातप्रकोपके नष्ट हो जाने पर फ्रान्स देश बहुत अधिक निर्बल हो गया था । और अनेक वर्षोंसे राजसत्ताके आश्रयमें गुलामके समान रहनेका अभ्यास होनेके कारण उन लोगोंको स्वतंत्रताका पूर्ण ज्ञान भी नहीं था । केवल प्राग्दिक ज्ञान था । इसी कारण नेपोलियन उन लोगोंकी साप-त्तिक, मानसिक और शारीरिक दुर्बलतासे काम उठा सका । परन्तु वहाँ प्रजा सुशिक्षित है, सांपत्तिक और भासिक परिस्थितिले सुखी है और स्वतंत्र-ताके मिष्ट फलसे जो परिचित है वह कभी किसी व्यक्ति-विशेषको प्रबल नहीं होने देती । अमेरिकामें प्रति वार प्रेसीडेन्ट चुना जाता है और वह दूसरोंकी अपेक्षा बुद्धि, कर्तृत्व एवं प्रभाववाद् होनेके कारण ही चुना जाता है परन्तु उद्दे सौ वर्षोंसे अधिक समय हो जाने पर भी इतिहासमें ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता जिसमें किसी प्रेसीडेन्टके अपने अधिकारको रपायी बनानेके प्रयत्न करनेका तथा उसके सफल होनेका उल्लेख हो ।

इसका कारण यही है कि वहाँके लोग सुशिक्षित, धूर्त, संपत्तिमान और स्वतंत्रताके प्रेमी हैं। तथा स्वतंत्रताके लिये स्वार्थत्याग करनेके लिये वे सदा तत्पर रहते हैं। ऐसी समाजोंमें अत्याचारका प्रवेश होना अशक्य है। इसके सिवाय अमेरिकाके प्रेसीडेन्ट भी उस सुशिक्षित और स्वतंत्र प्रिय प्रजाके एक घटक होनेके कारण प्रेसिडेन्टका पद छोड़ देने पर भी वे प्रजाके कल्याण और अभिवृद्धिके अर्थ ही प्रयत्नशील रहते हैं। अतएव ऐसी समाजोंमें किसी एक व्यक्तिके प्राबल्यका भय नहीं किया जा सकता। यदि सुशिक्षित और कर्तव्यनिष्ठ समाज होने पर भी उसके व्यक्ति पृथक् पृथक् रह कर काम करें तो भी उक्त भयको स्थान मिल सकता है। परंतु औद्योगिक, राजनैतिक आदि विषयोंकी अभिवृद्धिके अर्थ संघ स्थापित कर उनके द्वारा यदि समाजकी व्यक्तियों कार्य करती हैं और उनके प्रयत्नोंको संघत रूप प्राप्त हो जाता है तो फिर इस प्रकारके भयका नाम लेनेको भी अवकाश नहीं रहता। क्योंकि कोई भी अन्यायपूर्ण कार्य किये जानेकी संभावना होते ही उस कार्यसे हिससंबंध रखनेवाली संस्थाएं देश भरमें आन्दोलन खड़ा कर देती हैं। प्रवासद्वारा, पुस्तकों द्वारा और समाचारपत्रों द्वारा राष्ट्रके प्रत्येक व्यक्तिको उस अन्यायसे परिचित करा देती हैं और उन्हें विरोध करनेके लिये तैयार करती हैं। ऐसी परिस्थितिमें अत्याचारको बहुत कम मौका मिल पाता है। सारांश यह कि व्यक्ति विक्षेपको अपना घोड़ा भागे ठकेलनेके लिये जिस अज्ञान, आलस्य आदि युक्त परिस्थितिकी आवश्यकता है उसके दिन पर दिन नष्ट होते जानेके कारण अब लोकसत्ता पर इस प्रकारके आक्षेपको भयसर नहीं है।

लोकसत्ता पर जो तीसरा आरोप है वह उक्त दोनों आक्षेपोंसे बिल्कुल उल्टा है। आक्षेपकोका कहना है कि जपरके आक्षेपोंके निरसनमें जो यह कहा गया है कि लोकसत्तात्मक शासनमें कोई भी व्यक्ति सबसे उच्च होकर नहीं रह सकती तो इससे समाजको एक यह भय होगा कि उसके व्यक्ति किसीके अधिकारको नहीं मानेंगे और इसलिये राष्ट्रमें सर्वत्र अव्यवस्था हो जायेगी। ईसम्पीतिमें एक कहानी है कि एक ताछावसे एक थगुला राज्य करता था। वह अपनी मेंढक-प्रजासे एकके बाद एकको खाने लगा। इसलिये मेंढकोंमें इन्द्रसे प्रार्थना की कि हमें कोई दूसरा राजा दिया जाय। इन्द्रने लकड़ीका एक बंड पटक दिया। उस सब मेंढक मर जायेंगे -

रहो । इसी प्रकार राष्ट्रमें भी किसी एक अधिकारयुक्त ऐसी व्यक्ति के न होने पर जिसके कहनेको सब स्वीकार करें सर्व साधारण स्वच्छंद रीतिसे व्यवहार करने लगेंगे और इस प्रकार समाज अव्यस्थित हो जायगी ।

परन्तु यह मथ भी विराधार है । क्योंकि लोकसत्तात्मक राज्यपद्धतिमें समाज इसकी सुविधित और कर्तव्य-चतुर होती है कि उसमें मयसे शान्ति नहीं रखी जा सकती । उसका निजका कर्तव्य ज्ञान ही शान्ति रखनेमें बल होता है । आक्रिकके जंगली लोगो अपना हिंस्र पशुओंमें शान्ति रखनेके लिये मयकी आवश्यकता होती है । यदि यही नियम सुविधित और अनुभव्य समाजके लिये भी काममें लिया जाय तो अनुचित होगा । जिन लोगोंको राजकीय शिक्षा और अनुभव कितनेही बर्षोंसे मिलता रहा है, जो अधिकारी और कानूनका मान रखना अपने निजके और समाजके लिये हितानह समझते हैं और जो यह जानते हैं कि परस्परकी कलहसे समाज और राष्ट्रका नाश होगा उन लोगोंमें अधिकारसत्ताकी दुर्बलता कभी नहीं देखी जा सकती । इस और ऊपरके दोनों आक्षेपोंका मुँह तोड़ उचर देनेके लिये अमेरिकन संयुक्त राष्ट्रका उदाहरण हमारे सामने है । एक संयुक्त कुटुम्बमें जिस प्रकार अमृतद बालक ही आपसमें लड़ते हैं, विचारवान् और वयस्क मनुष्य नहीं लड़ते और इसीलिये वे अधिकारके पात्र माने जाते हैं वही प्रकार राजकीय उच्छान्तिकी श्रेष्ठ स्थितिको पहुँचे हुए मनुष्यही लोकसत्ताक राज्यपद्धतिके योग्य होते हैं । क्योंकि उन्हें राज्यकी सुस्थितिके मार्गोंका ज्ञान अच्छी तरह होनेसे उनमें अव्यवस्था नहीं हो सकती । इसके सिवाय लोकसत्तात्मक पद्धतिकी दिन पर दिन अधिकाधिक विजय होते जानेसे मन्वेक राष्ट्रको उसके पड़ोसी लोकसत्तात्मक राज्यसे उत्तमन मिलता है और उसके निवासी अपने राष्ट्रको पड़ोसी राष्ट्रके समान किंशुना उससे भी अधिक व्यवस्थित बनाना चाहते हैं । और इसलिये वे अपनेही बनाये हुए कानूनोंको अवश्य मानते हैं । इस तरह उस पर यह सीसरा आक्षेप भी नहीं हो सकता ।

एोजमत्ता पर राजकीय दृष्टिसे चौथा और अंतिम आक्षेप यह है कि इस मन्मपद्धतिमें म्गार्थमात्रक चापलुम (Demagogue) लोगोंको बहुत ही अवसर मिलता है । इस आक्षेपका विवरण अधिक देना पड़ेगा । एोजमत्ताक राज्यपद्धति भारत वर्षके इतिहासमें बहुत ही कम स्थानों पर देखनेको मिलती है । और इसलिये जेमे प्रर्यों (11. 12

guc) की कल्पना हमें होना कुछ कठिन बात है । परंतु जब कि पाश्चात्य वैज्ञानिकी कल्पना भारतमें आ रही है तब इस प्रकारके व्यक्तिकी कल्पना हो जाना भी आवश्यक है ।

कोई भी समान अथवा राष्ट्र सामुदायिक रीतिले कितना भी सुशिक्षित हुआ तो भी विचार शक्तिकी दृष्टिले उसकी व्यक्तियोंमें न्यूनाधिकता होवे होगी । किन्तुना बहुजन समाज साधारण शिक्षितही होगी और इसलिये वह दूसरोंके सिखाये मुताबिकही व्यवहार करेगी । सम्पूर्ण समाज शिक्षणकी एक विशिष्ट कोटितक पहुँच जानेके कारण उसके सम्मुख किसी विषयका विवेचन करने पर उसे समझनेकी शक्ति उसमें होनेपर भी उसकी प्रत्येक व्यक्तिमें स्वतंत्ररूपसे और अपनीही बुद्धिले उस विषयकी पूर्ण धिकिष्ठा कर सकनेकी योग्यता होना संभव नहीं है । लोकसत्ताक पद्धतिके कारण प्रत्येक प्रसन्नो हल करनेका काम अंशतः प्रत्येक व्यक्तिको करना पड़ता है ऐसी स्थितिमें मत देनेके लिये आवश्यक बातोंका सागोपाग और रुचिकर रीतिले जो कोई सर्व साधारणके सम्मुख वर्णन करता है वह उनके आदरका पात्र होता है । लोगोंके आदरका पात्र होनेवाला मनुष्य सुविचारक, प्रत्येक प्रसन्न गहरा तथा समर्पक रीतिले विचार करनेवाला और योग्य मतको सामाजिकतासे प्रगट करनेवाला होना चाहिये । इस कार्यके लिये उत्तम वस्तुत्वकी बहुत आवश्यकता होती है । परंतु सृष्टिमें यह एक साधारण निचम देखा जाता है कि जो पुरु गुणमें निपुण होता है वह दूसरे गुणमें हीन होता है । अथे मनुष्यको स्पर्श ज्ञान अच्छा होता है और गूंगे बहिरेको ग्राह्यसे दिसता है । इसी प्रकार गहन विचार करनेवालोंमें वस्तुत्व ताकि कम होती है । वे अपने विचार केवल छेदनरूपसे ही अगतके सम्मुख रखते हैं । परंतु सुधरे हुए देशोंमें जीवन कलह अधिक होनेके कारण वहाँके निवासियोंको अपने निर्वाहके उद्योगोंसे अवकाश बहुत कम मिलता है और इसलिये वे गहन विषयोंके ग्रंथोंका वाचन व मचन नहीं कर पाते जिससे उनका और गहन विचारकोंका विचार विभिन्न बहुत ही थोड़े रूपमें हो पाता है । ऐसी स्थितिमें साधारण लोगोंकी भाषामें लोगोंके परिचित उदाहरणोंके और अस्पष्टित वस्तुत्वशक्तिके द्वारा यदि कोई व्यक्ति अपने विचार प्रगट करे तो उसका धार्मिक परिणाम हुए बिना नहीं रहेगा । क्योंकि जो

नहीं है। अपने विचारोंको सूर्तिमान् रादा कर ओताओंको अपना कहना स्वीकार करानेकी शक्ति वक्ताके सिवाय दूसरेमें शायद ही होती हो। वस्तुस्थिति सचिकिका यह अपार सामर्थ्य प्राचीनकालसे प्रसिद्ध है। ऋग्वेदमें भी वाक्शक्तिकी प्रशंसासे कहा है कि—

यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि । तं ब्रह्माणं तं श्रपिं तं सुमेधाम् ॥
अर्थात् वाक्शक्ति चाहे जिस मनुष्यको उग्र, ब्रह्मज्ञ, ऋषितुल्य आदि कर सकती है। समय समय पर धर्म संस्थापकोंने इसी शक्तिकी सहायतासे धर्म प्रसारका कार्य किया है। राजकीय बातोंके संयंत्रमें इस शक्तिसे लिये उपयोगी भूमि लोकसत्ताके समान दूसरी नहीं है। क्योंकि लोकसत्ताके शासनमें लोगोंके अधिकारोंको अपने अनुकूल परिणत करानेकी इच्छासे वक्तामें स्फूर्ति उत्पन्न होती है। जहां लोगोंके हितमें कुछ सत्ताही नहीं होती वहाँ उनके आगे वक्तृता देनेका हेतु भी क्या हो सकता है ? इसलिये राजसत्ता अथवा अभिजनसत्ताके शासनमें वक्तृत्व शक्तिको बहुत कम अवसर मिलता है। और लोकसत्तामें बहुत अधिक मिलता है। इस अवसरसे काम उठा आदि वक्ता सर्व साधारणको अपने कहनेमें करले तो ओतागणके आवरण बह पात्र बन जाता है और सर्व साधारण उसे अनुकरणीय मानकर उसके विचारोंकी विकिस्ता नहीं करते। ऐसी दृष्टाते सर्वसाधारणको उत्तम विचारोंका अनुयायी बनाया गितना संभव है उसनीही किंवाहुना उससे भी अधिक संभावना—मनुष्यके स्वार्थपर स्वभाव पर दृष्टि देनेसे—हुए विचारोंके अनुयायी बनानेकी है। प्रसिद्ध इंग्लिश कवि शेक्सपियरने अपने 'ज्यूलियस सीज़र' नामक नाटकमें वक्ताके अपार सामर्थ्यका बड़ा सुंदर चित्र खींचा है। ज्यूलियस सीज़रका खून हो जानेपर जब उसका शत्रु उफन करनेके लिये जाया गया तब उसके खून करनेवालोंमेंसे ब्रूटस नामक एक व्यक्तिने सीज़रके खूनसे बचड़ा जानेके कारण इस कृत्यके भले सुरेपनका निर्णय करनेमें असमर्थ लोगोंके सम्मुख एक वक्तृता दी और उसमें बतलाया कि "सीज़र अत्यंत महत्वाकांक्षी पुरुष था। वह लोकप्रिय लोकसत्ताक राज्यपद्धतिको तोड़कर स्वयं धातुचाह बनना चाहता था। इस लिये लोगोंकी स्वतंत्रताकी रक्षाके अर्थ उसका खून करना हम लोगोंने आवश्यक समझा"। उसके कथनको सुनकर सर्व साधारण "साउ साउ" कहने और इस कृत्यकी प्रशंसा करने लगे। ब्रूटसके वाद

आज्ञासे बोलना शुरू किया । पहिले तो उसने खून धरनेवालोंकी स्तुति कर उन्हें यह विश्वास दिया दिया कि वह उनके विरुद्ध नहीं बोल रहा है । फिर क्रमशः सीझरके गुणोंका यह वर्णन करने लगा । उसने सीझरके अनेक गुणोंका और मनता परके प्रेमका वर्णन उदाहरण सहित करके श्रोताओंकी मनःस्थिति हलनी उलटी कर दी कि वे सीझरको एक प्रकारसे परमेश्वरका अवतार मानने लगे और उसका खून समान वीच काम करनेवालोंको मारकर उनका घर धर जला देने तकको वे तैयार हो गये । श्रोताओंकी यह स्थिति देखकर खूनी लोग बहाने मान गये । बचामें इस प्रकारकी शक्ति होती है । अतः वंशको डेमास्यमिजने और रोमन राष्ट्रको सिसरोने केवल वक्तृत्व शक्तिके कारण ही अपनी सुद्धीमें कर लिया था । और इसी साधनसे उन्होंने अपने अपने देशमें कर्तव्य जागृति की थी । परन्तु फ्रान्सकी राजनीतिके समय डॅटन, नॉबस्पियर, चर्चरह लोगोंने प्रायः प्रजामें खलवकी मचानेमें अपनी वक्तृत्वशक्तिले सहायता की थी । इंग्लेण्डमें भी समय समय पर राजकीय, सामाजिक, औद्योगिक आदि विषयों पर चर्चा करनेके लिये कुछ स्थापन हुए हैं जिनमें जनसंगण उत्तम प्रकारकी वक्तृत्व शक्ति, हाजिरनवाबीपन, लोकमत देखकर भाषण करनेकी समयसूचकता, लोकप्रिय कोटियाँ, युक्तियाँ, इंग आदि गुणोसे श्रोताओं पर अपना प्रभाव जमाते रहे हैं । इस कारणसे प्रचलित विषय-संबंधी सत्यज्ञान और गहन तथा विद्वेष विचारोके बटलेमें असत्यज्ञान, उबले विचार, और हेत्वाभास मूलक विचारसरणी, क्षणिक लाभकी आशासे लोगोंमें प्रचलित हो जानेकी आशंका है जिसका फल लोकसत्तात्मक राज्यपद्धतिमें बहुत हानिकारक हो सकता है ।

यह भाष्य भी ठीक नहीं है । जिस तरह स्वार्थसाधु चापखूस वक्ताओं (Demagogue) के लिये लोकसत्ताक राज्य पद्धति ही सर्वोत्तम भूमि है । उसी तरह डॉग और भ्रूँसासे कीर्ति प्राप्त करनेवालोंके द्वारा दुःकाल होनेका अधिक भय इसी पद्धतिमें नहीं है । क्योंकि राजसत्ता अथवा अभिजन सत्तामें वंशपरंपरागत श्रेष्ठताके सिवाय उच्च पद प्राप्त होनेका बहुत कम अवसर रहता है । इसलिये जिसपद्धती प्राक्षिकी संभावना बिल्कुल नहीं है अथवा बहुत कम है उस पद पर प्रतिष्ठित व्यक्तिसे बटका लेनेकी इच्छा करनेमें और उसके संबंधमें असत्य विचार फैलानेमें महारवाकांक्षी पुरुषोंका स्वार्थ रहता है । अतएव न जिसनेपर

मनुष्यका स्वभाव होता है। और इस स्वभावके अनुसार अप्राप्य पद या यस्तुकी झटी सखी निंदा करनेकी बहुत छोगीम उचैजनाका होना असाध्य नहीं है। ज्यों ज्यों उन्हें अपनी स्थिति असह्य मालूम होने लगती है त्यों त्यों उनके प्रयत्न अधिक और पकड़ते हैं परन्तु लोकसत्तामें इससे विरुद्ध भिन्न स्थिति होती है। लोकसत्तात्मक स्थितिमें यदि कोई व्यक्ति अपने युक्तिवाद और बुद्धि वैभवसे लोक प्रीतिका पात्र बन जाता है तो आगेपीछे उसे अपने कथनके अनुसार काम करनेके लिये तैयार भी रहना पड़ता है। क्योंकि उसे अधिकार मिल जानेपर लोग उसके वचनोंकी याद दिला दिला कर उस सुतायिक कार्य करनेकी सत्कार करते हैं। यदि उस समय वह अपनी बुद्धियो और कोटियोके अनुसार कार्य नहीं करता तो उसे अपमानके गहमें प्रजा डकेल देती है और फिर उसके लिये 'संभावितस्वचाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते' की स्थिति प्राप्त हो जाती है। इसलिये लोकसत्तामें यास्तविक गुणोंकी और सत्यताकी ही छाप छोगोपर पेट सकती है। नकली मालकी कीमत इस याजारमें कभी नहीं होती था उसका नकलीपन बहुत जल्दी प्रगट हो जाता है। और इस कारण ऐसे नकली लोकनायकोसे हानिके पदले छान ही अधिक होता है। 'निंदकका घर पडोसमें होना चाहिये' इस उक्तिके अनुसार अधिकारारूढ पक्ष अथवा व्यक्तिको उनके अवगुणोंका ज्ञान ऐसे लोक नायकोंके द्वारा हो जाया करता है और उन्हें अपनी मूल सुधारनेका अवसर मिल जाता है। इसके सिवाय साधारण जनतामें भी ज्ञानका प्रचार होता है जिससे वह अपने अधिकारको और उसका प्रतिरोध कौन किस प्रकार करता है इसको जान जाती है। फिर ऐसे नकली लोकनायक पुरुही पक्षमें नहीं होते। भिन्न भिन्न पक्षका समर्थन करनेवाले होते हैं इससे जनताको मत्स्येक पक्षकी बातें सुननेका अवसर मिलता है और उससे निर्णयका मार्ग और अधिक सुगम बन जाता है। इस प्रकार प्रतिस्पर्द्धियोंके द्वारा रस्ता चढते लोकनायककी तुच्छता दर्शक पदवी प्राप्त करनेवाले इन छोगोंसे भी राष्ट्रका छान ही होता है और इस कारण वह आक्षेप भी लोकसत्ताको दोषी नहीं ठहरा सकता।

लोकसत्ता पर राजकीय दृष्टिसे जो स्थूल आक्षेप किये जाते हैं उनका दिग्दर्शन ऊपर किया जा चुका है। और छोटे मोटे आक्षेपोंका समावेशभी

जब दूसरी दृष्टियोंसे इस पद्धति पर जो आक्षेप किये जाते हैं उनका विचार करना उचित होगा । इस पद्धति पर एक अर्थ साक्ष विपयक आक्षेप किया जाता है । वह आक्षेप इस प्रकार है कि सब प्रकारकी समता लोकसत्ताका ध्येय है । लोकसत्तात्मक पद्धतिके अनुपायियोंमें एक ऐसा समाजवादी (Socialism) पक्ष है जो मनुष्य-समाजमें सांपत्तिक विषमताको अन्याय मूलक समझता है । इस पक्षका कहना है कि कुछ लोगोंका स्वर्ण परिभ्रम न करते हुए भी अज्ञापरंपरागत संपत्तिके कारण अंतर विहासमें अक्ष रहना और कुछ लोगोंका परिभ्रम करते हुए भी—और प्रायः सङ्गृही होनेपर भी—सदा दारिद्र्यका दुःख उठाना, अस्मितावसत्ताके कारण होनेवाली अज्ञता और अधिकारकी विषमताके समानही अन्यायमूलक है और इस किये किस प्रकार राजकीय दृष्टिसे विषमता नष्ट कर देना अवसर है उसी प्रकार संपत्तिकी विषमता भी नष्ट कर देना उचित है । इस पक्षका यह भी कहना है कि द्रव्य, सामाजिक वस्तु है इसलिये प्रत्येक व्यक्तिके द्रव्यको अपने अधिकारमें लेकर समाजको चाहिये कि वह समानतासे उसे बाँट दे । व्यवहार दृष्टिसे ऐसा होना कदाचित् शक्य है, इसका विचार क्षणभरके लिये एक ओर रख कर देखना यह है कि लोकसत्ताके शासनकालमें यह विषमता नष्ट होकर समानता स्थायी रीतिसे रह सकती है या नहीं । यदि समानता रहे तो ठीक ही है यदि समानता न रही और अन्याय्य कारणोंसे विषमता उत्पन्न होकर राष्ट्रकी संपत्ति एकही वर्गके हाथमें चली गई तो फिर इस सत्ताको विकृतयोगी भावनेमें कोई संदेह नहीं रहेगा । आक्षेपकोंका कहना है कि लोकसत्तात्मक शासनमें भी इस प्रकारकी विषमता फिर उत्पन्न हो सकती है और वह इस प्रकार उत्पन्न होती है कि इस सत्ताके शासनकालमें प्रत्येक व्यक्तिको बुद्धिस्वार्थम् और विचारस्वातन्त्र्य होनेके कारण प्रत्येक व्यक्ति नवीन नवीन रूपवादी और अविचारक जातके सम्मुख उपस्थित कर सकती है । मानवीय बुद्धिपर किसी प्रकारका कृत्रिम दबाव जैसा कि धार्मिकपक्षका भाविके समयमें रहता है और इसके कारण वैकल्पिकसत्ताकी पृथ्वी अमण्डल सिद्धान्त लोगोंके बच्चोंमें कतारगुद भोगना पड़ना या लोकसत्तामें नहीं रहता । इसके सिवाय वर्तमानकाल भी धार्मिक बुद्धिपर्यायों में पड़ी शीघ्रतासे आगे बढ़ रहा है । धार्मिक ज्ञानकी व्याप्ति भी बहुत अधिक बढ़ती

योग करनेकी और छाकीय शोधका कर्तव्य है और इस लिये जगत्में नवीन नवीन शोधोंके कारण यंत्र सामर्थ्य अधिकामिक बढ़ता जा रहा है और इस कारण मानवीय क्रमसे किये गये कामकी अपेक्षा यंत्रका काम अधिक व्यवस्थित, कम खर्चका और कामदायक होता है। फल यह होता है कि प्रत्येक वर्गमें व्यक्तिगत कारीगरी कम हो जाती है। और बड़े बड़े कारखाने खुलते हैं। इन कारखानोंमें बहुत कुछ पूंजीकी आवश्यकता होती है। और कारीगरोको पारंपरिक कौशल्य प्राप्त कर नोकरी करना पड़ती है। इन कारखानोंमें जो काम होता है वह पूंजीवालोंको मिलता है और कारीगरोको केवल नोकरीपर ही संतुष्ट होना पड़ता है। जिससे एक वर्ग फिर जनमान हो जाता है और दूसरा वर्ग निर्धन अवस्थामें ही रहता है। क्योंकि मजदूरोंको काममेंसे भाग न मिलनेके कारण और तनखवाह भी वैसी चाहिये वैसी न बढ़नेके कारण कारिग्राहीमें रहना पड़ता है। यदि यह क्रम अधिक दिनोंतक रहा तो लोकसत्ता जिस विपमतासे डरती है वही विपमता उसकी स्वतंत्रताके सिद्धान्तके कारण समाजमें फिर फैल जाती है। और 'विनायक प्रकुर्वाणः रक्षयात्मास वानरम्' की स्थिति प्राप्त हो जाती है।

परन्तु यह आक्षेप अमपूर्ण है। अमुक कारणसे अमुक कार्य होता है। ऐसा कहते समय उस कारणका सविस्तर विचार करना उचित है। ऊपर यह विधान किया गया है कि लोकसत्ताके शासकमें भी अभिजनसत्ताके समान संपत्तिकी विपमता उत्पन्न होनेकी संभावना है। सूक्ष्म विचार करने पर यह विदित होगा कि लोकसत्तामें यह संभावना होनेपर भी इस संभावनाको सुधारनेका साधन जो लोकसत्तामें होता है वह अभिजनसत्तामें नहीं होता। यह साधन अनुशासनका अधिकार है। अभिजन सत्तामें जिनके पास संपत्तिका बड़ा हिस्सा होता है उन्हें ही अनुशासनका अधिकार होता है। इसलिये वे उस विपमताको बनाये रखनेसे ही अपने अधिकारोका उपयोग कर सकते हैं और स्वार्थके अनुरोधसे वे ऐसा करते भी हैं। साधारण जनतामें उस समय वन्दुस्थितिका ज्ञान होने पर भी उसे उठरने योग्य राजकीय सामर्थ्य नहीं होता। इस कारण जनताको अन्याय मटन करते हुए भी खुप रहना पड़ता है। परन्तु लोकसत्तामें अधिकारोका केन्द्र लोकपक्ष होनेके कारण संपत्तिक विपमताके बढ़तेही उसे बट

अथ लोकसत्ताके समये नहीं हो सकता । मस्युत उसके गद्य होनेका ही अन्व-
 खर रहता है । जैसे कि किसी कारखानेमें अधिक मुनाफा होने पर और उसमेंसे
 खजानाको भाग न मिलने पर जनता उस कारखानेके माल पर अधिक कर लगा
 सकेगी । और इस तरहसे कारखानेवालेके अनर्थादित लाभमें प्रतिबन्ध कर सकेगी ।
 आमदानी परका कर आजकल राष्ट्रकी आयका पुरु मुख्य भाग बन गया है । इस
 करकी वृद्धि कर देनेसे कारखानेवालेके लाभका बहुत बड़ा अंश राष्ट्रकी
 तिजोरीमें आ पड़ता है । और इस प्रकार अग्रत्यक्षरीतिसे यह सार्वजनिक
 मन्दाको मिलता है । कुछ वर्षों पहिले इंग्लैण्डमें कार्ड्स व कामन्स अर्थात् सरदार
 और मन्दाके शगवेके समय वार्षिक बजटमें पढ़नेवाली कमी केवल सरदारोंकी
 आमदनीमेंसे बसूल करनेका जो प्रयत्न किया गया था वह ऊपर कहे हुए
 मन्दा प्राप्तनाधिकारका दृश्य-उदाहरण है । सारांश यह है कि लोगोंके हाथोंमें
 सत्ता होनेसे राष्ट्रमें किसी प्रकारकी अव्यवस्था उत्पन्न होनेपर वह उसका
 सुधार कर सकते हैं । परन्तु यदि सत्ता हाथमें न हो तो 'क्षिर पर साँप और
 'बचाई दिमाक्य पर' कहावतके अनुसार मन्दा निरुपाम हो जाती है ।
 लोकसत्तामें संपत्तिकी विपमताकी रोक हो सकती है और अभिन्नसत्तामें
 नहीं हो सकती । इत्यधिके आक्षेपकोके कहे अनुसार दुरवस्था लोकसत्तामें
 नहीं हो सकती और ऐसी अवस्थामें अर्थशास्त्रविपयक यह आक्षेप भी
 लोकसत्ता पर नहीं आ सकता ।

इस पद्धतिपर नैतिक दृष्टिसे दो आक्षेप किये गये हैं । इसमेंसे पहिला
 आक्षेप तोकेविहक नामक लेखकने अमेरिकाके संयुक्त सत्थानकी लोक-
 स्थितिका प्रत्यक्ष अवलोकन कर किया है । इस लेखकका मत है कि अभिन्न-
 सत्तामें तो अल्प संख्याक लोगोंका हुकम होता है । परन्तु इस लोक सत्तामें
 बहु संख्याक लोगोंका हुकम होता है अर्थात् किसी बातको बहु मतसे अच्छी
 या धुरी ठहरा देनेपर इस पद्धतिमें उसकी अच्छाई और धुराई उसीसे
 निश्चित हो जाती है । और फिर उसके विरुद्ध यदि किसीकी सवसद्विवेक
 बुद्धि कुछ कहना चाहती है तो वह कहना उसके लिये बहुत कठिन हो
 जाता है । जगत्के व्यवहारोंमें यह अनुभव पद पद पर आता है कि एक
 अथवा कुछ लोगोंकी इच्छाके अनुसार चलना कितना कठिन है उससे भी
 अधिक कठिन व्यवधान समाजकी इच्छाके अनुसार चलना है । एकका जोकर

एक स्वामीकी अपसन्नताका मय नहीं होता । परन्तु लोकपवादका बहुत अधिक मय रहता है । 'यद्यपि छुदं लोक विरुद्धं नाचरणीयम् बोकरणीयम्' इस उक्तिमें लोकमतका इतना भारी प्रभाव प्रगट किया गया है कि उसके आगे सत्यमतको भी एक ओर रख देना उचित है । तो जब कि अधिकार न होनेकी हालतमें लोकमतकी यह स्थिति है । तो सत्ता मित्र जानेपर तो पूछना ही क्या है ? । सुभाषितमें लौकिकाचारके संबंधमें इतनी स्पष्ट आज्ञा दी गई है कि—

यद्यपि स्यात् स्वयं प्रज्ञा, त्रैलोक्याकर्षणक्षमः ।

तथापि लौकिकाचारं, मनसापि न छंघयेत् ॥

अर्थात् त्रैलोक्यका आकर्षण करनेका सामर्थ्य रखनेवाले ब्रह्माकी मनसे भी लौकिकाचारोंका उलंघन नहीं करना चाहिये । सारांश यह है कि लोकसत्ताकी अवस्थामें लौकिकापवादके भयसे अपने मित्रके मतको दबाकर दूसरोंके मतानुसार चलनेके लिये बाध्य होना पड़ता है । नैतिक दृष्टिसे यह अनुभवका अयोगमन है । तुकाराम सरीको साधु अपने आपके किये और पर्यायसे सब साधारणके लिये सुजागरणके सम्बन्धमें इस प्रकार कहते हैं कि

“सत्य असत्यसी मन केलें ग्वाही मानियेले नाही लोकमत” अर्थात् सत्य और असत्यका मन जो निर्णय करे वही मानना चाहिये लोकमत नहीं । लोकसत्तात्मक राज्य पद्धतिमें इसके विरुद्ध करना पड़ता है । अतएव नीतिशास्त्रकी दृष्टिसे यह समाज-व्यवस्था सद्योप है । इसके कारण जीवनके प्रत्येक व्यवहारके सम्बन्धमें अनुप्यके आत्म स्वार्तन्म पर दबाव डाला जाता है । यदि कोई पुरुष सिर पर हेड, शरीरमें घडी, पैरोंमें पैजामा पहिनना चाहे तो वा केवल लोक हँसार्हके भयसे ऐसा नहीं कर सकता । नारतयमें देखा जाय तें इस पोशाकमें दोप किसी प्रकारका नहीं है । जिस प्रकार हम पोशाक जैसे सुन्दर वस्त्रमें लोकमतका दबाव है उसी प्रकार महानपूर्ण बातोंमें भी उसका दबाव रहता है । पारस्परिक शिष्टाचार, ईश्वरोपासना आदि बातोंमें व्यक्तिगत मर्तोंकाही मर्यादा बनाया जाता है । अभिजनसत्ताक पद्धतिमें श्रेष्ठ पुरुषों किंसी मतसे मित्रता होनेपर व्यक्ति विशेष अपने अनुकूल मतवाले जनसमुदायमें मिला सकता है । परन्तु सम्पूर्ण समाजके मतके विरुद्ध व्यवहार क-

है ? इसलिये जिस पद्धतिके कारण इस प्रकार बहुसंस्थाक लोगोका अत्याचार होता है वह पद्धति नीति दृष्ट्या त्याज्य मानी जानी चाहिये ।

इस आक्षेपमें वर्णन की हुई स्थिति सर्वांशमें सत्य न होनेपर भी कुछ अंशोंमें सत्य अवश्य है । और वह अपरिहार्य है । जगत्में व्यक्तिको पूर्ण वास्तव्य कभी प्राप्त नहीं हो सकता । बहुजन समाजका मतही मात्थ किया जाता है । राजकीय दृष्टिसे देखनेपर भी लोकसत्तात्मक शासन व्यवस्थामें जब दो पक्षोंमें चुनाव की स्पर्धा होती है तब परामर्श पानेवाले पक्षमें बहुमतसे मनुष्योंके होनेपर भी उन्हें निराश होना पड़ता है । और उन सबोंकी हृच्छाके विरुद्ध राजकार्य चलाया जाता है । जब कि सम्पूर्ण व्यक्तियोंका मत समान नहीं हो सकता तब बहुमतही राष्ट्रका मत माननेके सिवाय दूसरी गतिही नहीं है । जो तत्त्व राजकीय संबन्धमें सत्य है वही समाजके दूसरे व्यवहारोंमें भी सत्य है । यदि प्रत्येक मनुष्य, आचार, विचार, धर्म आदिना स्वेच्छानुकूल व्यवहार करने कमे तो समाजमें किसी प्रकारका निर्बंध नहीं रहेगा । इस लिये बहुजनसमाजके आचरण अथवा मत आदर्श माने गये हैं । प्रत्येक मनुष्यका आचरण स्वार्तन्त्र, दूसरे मनुष्योंके आचरण स्वार्तन्त्रसे मर्यादित रहता है । एक प्रबंध करने स्वार्तन्त्रकी व्याख्या इती प्रकार की है । उसने लिखा है कि " दूसरोंके अधिकारोंमें बाधा न हो सके इस प्रकार अपने अधिकारोंका उपभोग करनेकी छूट होना स्वार्तन्त्र है " । इस दृष्टिसे दूसरोंका मन मिन धातोंसे दुखे उन्हें करनेका अधिकार किसीकी नहीं है ।

एक दृष्टिसे ऊपरका आक्षेप किसी अंशमें सत्य मानना पड़ता है । परन्तु मत्र यह है कि क्या लोकसत्ताके सिवाय दूसरी राश्वपद्धतियों पर इस आक्षेपको करनेका अवसर नहीं । यदि उन पर यह आक्षेप नहीं हो सकता तो वे अवश्य स्वीकार करने योग्य हैं । परन्तु सूक्ष्म विचार करने पर यह मात्थ होता है कि इस आक्षेपके लिये लोकसत्ताके समानही किंबहुना इससे भी अधिक स्थान दूसरी पद्धतियोंमें भी है । अभिजनसत्तात्मक पद्धतियोंमें एकसे एक चढ़ती हुई अंची श्रेणियों होती हैं । और उन प्रत्येक श्रेणीके लोगोंका एक छोटासा राश्वही होता है । और इन लोगोंका सुबम अधिक असह्य होता है । गति-शास्त्रका एक ऐसा नियम है कि कोई भी सत्तिका क्षेत्र जिसना कम होगा उसनाही उसका परिणाम अधिक होगा । इस नियमसे अनुसार सम्पूर्ण

शाम समाजके मर्यादित भागमें होता है। क्योंकि व्यक्तियोंके लिये वही मर्यादित कक्षा होनेसे व्यक्तियों उसके बाहिर नहीं जा सकती। गुणरासमें कितनीही उपजातियाँ ऐसी हैं जिनकी लोकसंख्या बहुत ही घीही हैं ऐसी उपजातियोंमें बन्नाका धन लेनेकी चाँठ इतनी आसवापक होती है कि उसके कारण तरणोंका विवाह होना कठिन हो जाता है। और समाजसे बाहिर होनेकी तैयारी न होनेतक नाक एकट्ठकर लोकमतकी धारण जाना पड़ता है। इसी प्रकार अपनी जातिके सिवाय दूसरी जातियोंमें विवाह न करनेका उन जातियोंमें नियम न होनेसे भी विवाह होना कठिन हो जाता है। परन्तु ऐसी घटनाएँ लोकसत्तात्मक पद्धतिके अनुसार चलनेवाली समाजोंमें नहीं हो सकतीं। कुछ वर्षों पहिले यूरोपके सरदारोंमें जो रीतियाँ जोरसे प्रचलित थीं उनको न माननेवाले लोगोका समाजमें रहना कठिन हो गया था। जैसे कि उस समय यह रीति थी कि यदि कोई किसीका अपमान करे तो उस अपमानका बदला दूँद चुनसे लिया जाय। और इस कारण इस रीतिसे विरुद्ध व्यक्तिको भी इसीका अनुकरण करना पड़ता था। दूसरी रीति उस समय यूरोपमें जुआ खेलनेके लिये लिया हुआ कण चुकानेको पवित्र कर्तव्य माननेकी थी। फिर चाहे वह धरण चुकानेके लिये लाया हुआ द्रव्य भलेही किसी गरीब व्यापारीको सत्कार ही क्यों न लाया गया हो। इस तरहका द्रव्य खाना सुरा नहीं माना जाता था। परन्तु जुआका फर्ज न चुकाना नीयतका कारण माना जाता था। इस प्रकार छुविम रीतिये मानी हुई मानापमान और कर्तव्याकर्तव्यकी जयावदारीके विरुद्ध होना समाजके मर्यादित भागोंमें अधिक कठिन होनेके कारण सामाजिक मतोंका यद्यन ऐसी समाजोंमें ही अधिक होता है। परन्तु लोकमतके परमनसाहिष्णु होनेके कारण तथा उपमें भिन्न भिन्न पधोंका विन्वृत क्षेत्र होनेके कारण व्यक्तिको रूँटका रतना अधिक भय नहीं रहता।

नीतिशास्त्रकी दृष्टिये इस पद्धति पर दूसरा आशय यह किया जाता है कि इसके कारण साधारणतया समाजकी नीति, हीन भयन्वाकी शोर जानी है। समाज मद्दा भन्दे और बुं मनुष्योंके रना गुणा होता है। यदि समाजके मद्द व्यक्ति ममान अधिकारके पात्र माने जाय तो मधरी गोपता समाज मानना पड़ती है। और फिर एक नीय मनुष्य श्री अट मनुष्य वरतरी

मताकी कल्पनासे नीच मनुष्य तो श्रेष्ठ होते ही नहीं है परन्तु श्रेष्ठ नीच हो जाते हैं। कोई दारु भाज अथवा सजायापता पुरुष किसी श्रेष्ठ पुरुषके साथ सदा व्यवहार करने लगे तो वह तो श्रेष्ठ पुरुषके समान योग्य हो न सकेगा परन्तु उस श्रेष्ठ पुरुषकी योग्यता अवश्य कम हो जायगी। और इस तरह water finds its lowest level अर्थात् जलके नीचे की ओर जानेके स्वभावानुसार समाज सबसे हीन श्रेणीपर आ पहुँचेगी।

परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है। इस विचार सरणीमें दो दोष हैं। समाजकी योग्यता किसी एक छोटेसे वर्ग अथवा व्यक्ति विशेष परसे उहराई नहीं जाती। यह समाजके सर्वसाधारण जनसमूहकी योग्यतापरसे उहराई जाती है।

अभिन्नसत्तामें जो सबसे श्रेष्ठ वर्ग होता है उसीपरसे यदि संपूर्ण समाजकी योग्यता उहराई जाय तो उससे बहुत कुछ नम हो सकता है। यहाँ पर यही गृहीत रखकर विचार करे कि श्रेष्ठ वर्गकी नीति भी श्रेष्ठही होती है। वास्तवमें उनकी नीति श्रेष्ठ है या नहीं इसका विचार पीछे करेंगे। तो यह मानने पर कि श्रेष्ठ वर्गकी नीति श्रेष्ठ है सब समाजको भी श्रेष्ठ माना जाय तो ऐसा मानना उचित और ठीक नहीं होगा। पाश्चात्य राष्ट्र जिस प्रकार कार्ळाइल अथवा कैंटके उत्पन्न हो जानेसे निर्दृष्टि-पर नहीं माने जा सकते। और हिन्दुस्तानमें इतिहास प्रसिद्ध एक ही व्यक्तियोंके व्यवहार कुशल हो जानेसे जिस प्रकार यह प्रवृत्ति-पर नहीं माना जा सकता उसी प्रकार समाजमें थोड़ेसे व्यक्तियोंके योग्य हो जानेसे संपूर्ण समाजकी योग्यता नहीं बढ़ती। प्रत्युत उस श्रेष्ठ वर्गकी योग्यता तक पहुँचनेमें अपनेको असमर्थ माननेवाले हीन वर्गमें नैतिक दृष्टिसे अपनी योग्यता बढ़ानेकी महत्वाकांक्षा स्फुरित होकर फैलने नहीं पाती। और इस प्रकारकी ईर्ष्या अभाय तथा निराशाके दबावसे वे अपनेको जन्म सिद्ध हीन मानने लगते हैं। और इसलिये श्रेष्ठ वर्ग द्वारा किये हुए अपमानको वे सहन करते हैं। यह बात समाज स्थितिमें रहनेवाली समाजमें नहीं होती। यहाँ सबके आगे सर्व सामान्य नीतितत्त्वोंका एकही आदर्श रहता है। और उसके अनुसार चलनेका हरएक प्रयत्न करता है। प्रत्येक

मैकी संभावनाके कारण अपनी योग्यता पढ़ानेका प्रयत्न करती है। और इस प्रकारकी स्वर्थासे समाज, सामान्य तथा प्रगतिकी और गमन करता है।

उक्त विचारसरणीमें यह माना गया था कि अभिजनवत्तत्वाका माना हुआ सर्व श्रेष्ठ वर्ग नीतिमें भी दूसरोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ होता है। परन्तु यह नीति कौनसी हमपर विचार करनेसे यह भासूँ होगा कि यह त्रिकाल-चापित नैतिक तथ्य नहीं है किन्तु मानासमान अथवा सिद्धाचारोंके जिन व्यवहारोंको उस श्रेष्ठ समाजमें नीति मानते हैं वह नीति है। स्वयं भाष्य करना चोरी न करना दूसरोंके धनका अपहरण न करना व्यवहारमें कुछ आचरण रचना आदि नैतिक नित्य तत्त्वोंके आचरणमें अभिजन वत्तत्वाका श्रेष्ठ गर्वदम्भी श्रेष्ठ नहीं होता। हाँ अद्यत्वे चलने, अधिक न धोखे, उहाराई हुई पद-तिले पोशाक पहिरने आदिकी नीतिमें वह अवश्य श्रेष्ठ हुआ करता है। पर इस प्रकारकी नीतिसे समाजका हानि लाभ कुछ विशेष नहीं है। क्योंकि इस प्रकारकी नीति, देवा, क्षेत्र और कालपर अवलंबित है। इन तीनोंके बदलनेसे यह भी बदल जाती है। इस प्रकारकी नीति वास्तविक नहीं किन्तु काल-निक है। वास्तविक नीतिमत्ता समाजकी सामान्य-सुधारणा, परंपरा और राष्ट्रीय धीक पर अवलंबित रहती है और उसमें लोकसत्ताके कारण कभी टिमता जानेकी संभावना नहीं है।

इस पद्धति पर सामाजिक दृष्टिसे भी दो आक्षेप किये जाते हैं। प्रथम आक्षेप यह है कि लोकसत्तामें नवीनता और विचित्रता नहीं रहती। बहुत विचित्रता सृष्टिका वास्तविक रूप है। चमत्कारसे प्रत्येक वस्तुमें नवीनता जाती है। और इसी कारण " उत्सवप्रियाः मनुष्याः " मनुष्योंको उत्सव, नवीनता अथवा चमत्कार प्रिय होते हैं। वही नवीनता न होनेके कारण लोकसत्ताके समर्थमें समाज वैचित्र्यरहित होता है और फिर निरुत्साही हो जाता है। समाजमें भिन्न भिन्न श्रेणियोंके लोगोंके कारण आचार विचार पोशाक, व्यवहार, आदिमें जो विचित्रविचित्रता होती है उसके कारण समाजमें एक प्रकारका उत्साह रहता है। परन्तु यह विचित्रता नष्ट हो जाने और झुंझणीपन आ जानेसे समाज अनुत्साही हो जाती है। परन्तु यह आक्षेप ठीक नहीं है। क्योंकि लोकसत्तामें व्यक्तिगत स्वातंत्र्य होनेके कारण आचार, विचार, पोशाक, व्यवहार आदिमें विचित्रता न होनेपर

मनुष्योंके वर्गपरसे आचार, विचार, पोशाक, मापण आदिका अनुमान किया जा सकता है। परन्तु अमेरिका सरीखे प्रजासत्ताक राज्यमें यह नहीं कहा जा सकता कि इन बातोंमें कब किस प्रकारकी विविधता दृष्टिगत होगी। अभि-जनसत्ताकी समान रचना राजाके उपबन्धके समान है। वह निश्चित नमूने पर धने हुए होनेके कारण उसकी यादिकाएं, कुंज, पुष्करिणी आदि भी निश्चित पद्धतसे धनी हुई होती हैं। एक बार इस प्रकारका धाग देना लेने पर फिर अनेक राजाओंके धाग देखे हुए से हो जाते हैं। परन्तु हिमालयकी लकड़ीके खंगलमें अथवा मलयार प्रदेशके धनोंमें गगन सुंथित वृक्ष, योजनों तक फली दुर्द्ध पुष्प यादिकाएँ, अट्टपूर्व वनस्त्राति, उच्च पर्यत-श्रेणीके ऊपरसे गिरने-वाले जल प्रपात, हिमालयदिव शिखर आदि सृष्टिसौंदर्य जिस प्रकार राजा-ओंके उपबन्धोंमें नहीं होता उसी प्रकार व्यक्तिगततन्त्रके क्रीडाङ्गणमें होने-वाले मानवीय बुद्धिके स्वतंत्र चतुर्षुकी समानता, उदरार्थे हुए नियमों और नमूनोंके दुग्म पर नाचनेवाली कृत्रिम बुद्धि धनी नहीं कर सकती। इसलिये यास्तविक विविधता लोकसत्तामें ही हो सन्ती है।

इस पद्धति पर अन्तिम आक्षेप यह है कि इसमें प्रत्येक मनुष्यका एक स्वद्वितकी ओर ही अधिक रहेगा क्योंकि ऐसी समाजमें निम्न वर्ग न होनेसे उन वर्गोंका कोई एक निश्चित हित न रहेगा। और ऐसी स्थितिमें “सर्वे सुखा, फाचनमाधयंति” की नीतिके अनुसार प्रत्येक मनुष्य ब्रह्मोपार्जनमें ही आत्मक हो जायगा। जिसके कारण सर्वगुणसंपन्नता अथवा सुसंस्कृति (Culture) की अभिवृद्धि न हो सकेगी। ललितकला, कान्ठ-शास्त्र आदिको सरदार और धनी लोगोंका आश्रय होता है। लोकसत्तामें इन लोगोंका अभाव होनेके कारण इन कलाओंकी वृद्धि भी न हो सकेगी। आरंगजेब बादशाहके समयमें गायनकला लुप्त होनेकी स्थितिमें आगई थी। क्योंकि बादशाहका सर्वे हृदय राज्य कारस्थानोंकी ओर रहता था और उसकी मानसिक प्रवृत्ति भी इसके विरुद्ध थी। गायनकलाकी यह स्थिति देख उसकी ओर बादशाहकी आभिरुचि उत्पन्न करनेके लिये गायनकलाके प्रेम्तियोंने बाद-शाहके महलोंमें जहाँ बादशाह अर्धियाँ सुनते थे वहाँ एक सुर्वेकी ठरतीसी बनाकर ले गये। और उसके साथ बड़े बड़े सरदार, उमराव, गवैये आदि गये। बादशाहकी इस ओर नजर पड़ते ही बादशाहने पूछा कि यह क्या

राज्यमें भूखे मरनेके कारण गायनकला मर गई है। बाबुसाह भी उस्ताद था। उसने उत्तर दिया कि यदि वह मर गई है तो उन्ने गहरा गद्दा खोदकर गाढ़ दो जिससे वह फिर न जीसके। कारण यह है कि जिस प्रकार औरंगजेबके शासनकालमें गायनकलाकी अवस्था हुई वही वशा लोकसत्तात्मक पेट भरू शासनमें होनेकी समावना है। शेक्सपियर सरील्ले पाश्चात्य कवि और कालिदास सरील्ले भारतीय कवि व तामसेन सरील्ले गवैयें वगैरह गुणी लोग बिना राजा और सरदारोंके उदयमें नहीं जाते।

यदि सुसंस्कृतिकी चिन्हस्वरूप कलाओंको धनिक और श्रेष्ठ मनुष्योंके मनोविनोदकाही आधार होता तो यह बाक्षेय लोकतापर किना माँ सकता था परन्तु वास्तवमें देना जान तो बसुस्थिति ऐसी नहीं है। यद्यपि धनिक और श्रेष्ठ पुरुषोंके मनोविनोदसे कलाओंकी उन्नतिमें सहायता होती है तो भी उनकी उन्नतिका मुख्य आधार मनुष्यस्वभावमें ही समाया हुआ है। ऐसे मनुष्य कितने मिलेंगे जिन्हें गायनकला जम्मसे ही प्रिय न हो और जो सुन्दर चित्र देखकर प्रसन्न न होवे हों। कविने कहा है कि “केपा नैया कथय कविता कामिनी कौतुहाय” अर्थात्—ऐसे कितने हैं जिनके कौतुककी कविता कामिनी पाल नहीं है तो जब कि कलाओंकी अभिवृद्धि का ही मनुष्यस्वभावमें ही समाया हुआ है तो जिस स्थितिमें मनुष्यको पूर्ण मतस्वातन्त्र्य और कृतिस्वातन्त्र्य होता है उस स्थितिमें उन कलाओंको सहायता न मिलनेकी समावना किस प्रकार की जा सकती है ? यह बात भी नहीं है कि लोकसत्तामें गुणोंके उत्कर्षके द्वारा लोकश्रेय प्राप्त करनेका अवसर न मिलता हो। यद्यपि यह ठीक है कि लोकसत्तामें धनी, गरीब, छोटे बड़े सब पर अपने अपने बन्धे करनेका भार रहता है। जो भी सबको समान रीतिले ही करना पड़ता हो, यह बात नहीं है। उसमें भी नापसिक्त दृष्टिले न्यूनाधिकता रहेगी ही। लोकसत्तामें शीतल्लोके छिये कानून देता कोई प्रतिबन्ध नहीं होता कि वे कलाओंको वाञ्छ न दें। अमेरिकामें इसके उदाहरण मिलते ही हैं। इसके सिवाय अमिजन सत्ताके धनिकोंका उदाहरण लोकसत्तात्मक शासनकी छायामें रहनेवाले धनिकोंके आये रहनेके कारण उनमें भी स्फूर्ति उत्पन्न हो सकती है। अमेरिकामें तो कलाओंके मातोपाग अध्ययनके छिये विद्यालय तक हैं। अतएव इस

प्रश्नके लिये लोकसत्ता बाक्षेय नहीं कर सकती ।

इस प्रकार लोकसत्तात्मक पद्धति पर जिसने प्रकारके आक्षेप भिन्न भिन्न दृष्टियोंसे किये जा सकते हैं उनकी परीक्षा कर देने पर यह सिद्ध होता है कि यह पद्धति राज्य शासन और समाज व्यवस्थाकी दूसरी सब पद्धतियोंसे श्रेष्ठ है। यद्यपि द्वितीय परिच्छेदमें सुधारणाके जो तत्त्व प्रतिपादित किये हैं उन तत्त्वोंके अनुसार ही लोकसत्ताका उद्भव होनेके कारण शास्त्रीय रीतिले भी यह पद्धति दूसरी सब पद्धतियोंसे उच्च ठहरती है। क्योंकि सुधारणाका मुख्य चिन्ह जो व्यक्तिस्वातन्त्र्य माना गया है, उसका प्रकटीकरण इसी पद्धतिमें सबसे अधिक होता है। जिस प्रकार अपने स्वतःके मार्गसे उन्नति करनेका अवसर देनेवाला धर्म, व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी दृष्टिले श्रेष्ठ माना जा सकता है और व्यक्तिपूर्ण आचार-स्वातन्त्र्य देनेवाली व्यवस्था जिस प्रकार समाज रचनाकी दृष्टिले श्रेष्ठ कही जाती है उसी प्रकार राज्य कारबारमें भी जिस पद्धतिके द्वारा वैयक्तिक मतका प्रतिबिम्ब अनियमित रीतिले राज्य व्यवस्था पर डाला जा सकता है वह पद्धति सर्व श्रेष्ठ मानी जाने योग्य है। और यह काम अभिजन सत्ताकी अपेक्षा लोकसत्तामें अधिक है। इसलिये यही सर्व श्रेष्ठ है। धार्मिक, मानसिक, सांप्रदायिक, धार्मिक आदि किसी भी विषयमें बाह्य उपाधिका विरोधही उन्नतिके लिये प्रतिबंधक होता है। इस विरोधके नष्ट हो जाने पर मानवीय प्रगतिही वृद्धि क्षपटले होती है। सुष्टिके वैयक्तिक-धर्मकी उपाधि और समाजके बहुमतकी उपाधियां कुछ भी हुआ तो भी सदा रहेंगी। परन्तु इन अपरिहार्य उपाधियोंके सिवाय अन्य कृत्रिम उपाधियोंका न रहना ही प्रगतिही दृष्टिले अधिक हितकर है। इस प्रकार चारों ओरसे विचार करनेपर यही सिद्ध होता है कि मानव य आयुष्यका श्रेयः साधन कर देनेवाली लोकसत्ताक पद्धतिही सब पद्धतियोंसे श्रेष्ठ है।

पदमंडल वर्कने अनुशासन करनेवाली सर्वोत्तम राज्यपद्धतिके स्वरूपका वर्णन इस प्रकार किया है कि

“ उत्तम राज्यव्यवस्था सांकाशिक और नगर सामकी प्राप्तिके अर्थ की हुई मालोदारी नहीं होती किन्तु भौतिक शास, कलाशौचक्य, सद्गुणोंका विकास आदिके पूर्णत्वके लिये यह एकत्रित देशवस्तुत्वके समान है” * राज्य-व्यवस्थाकी इस कसौटीपर लोकसत्तात्मक पद्धतिही ठहर सकती है। अतः यही पद्धति सर्व श्रेष्ठ है।

* A state is not a partnership in things subservient only to the gross animal existence of a temporary and perishable nature, but a partnership in all sciences, in all arts, in every virtue and in all perfection.
Burke.

चतुर्थ परिच्छेद ।

उपसंहार ।



प्रकरण पहिला ।

पूर्व वृत्त ।



संस्कृति शास्त्रके तत्त्व खोजनेके कौन कौनसे प्रमाण माने जाते हैं और उनमेंसे सत्र प्रमाण कौनसे हैं ? इनका विचार करनेके बाद सुधारणरूपी साम्य की नीमासा की गई । और उसमें उस साभ्यका लक्षण, उस तक पहुँचनेके उपाय, मार्गके विज्ञ और विज्ञोंको दूर करनेकी रीतिका विवेचन किया गया । इसके पश्चात् निश्चित की हुई तत्त्वनीमासाके अनुसार मनुष्य भाषकी सर्वांगीय कृतिकी परीक्षा कर उस कृतिके निम्न निम्न व्यवसायों और व्यवहारोंमें उस तत्त्वका पालन कहां तक और किस प्रकार होता है इसका भी सूक्ष्म अवलोकन उस व्यवसायोंकी चिकित्सा द्वारा किया गया और इस प्रकार संस्कृति शास्त्रके जो प्रमेय वाक्यीय रीतिले ब्रह्म उदरे उनका अभ्यास किया गया ।

परन्तु इसके साथही इसर नीमासकोंके इस विषय संबंधी प्रमेय कौनसे हैं ? यह जान लेनेसे तुलनात्मक रीतिले अपने सिद्धान्तोंके निरीक्षणमें सुभीता हो जायगा । तथा पहिलेके विवेचनोंमें अपने अपने मतानुसार जो सिद्धान्त निश्चित किये हैं वे कौनसे तत्त्व पर किये हैं इसका अवलोकन कर लेनेसे यह भी मात्स्य हो जायगा कि वे तत्त्व ठीकहैं या नहीं । और यदि ठीक नहीं है तो क्यों नहीं है ? और इस प्रकारके विवेचनसे अपनी विचार परंपरामें जो ब्रह्म होगी उसे दूर करना सुलभ होगा । इस लिये यहाँ सुधारणा शास्त्रके पूर्व वृत्त पर विचार किया जाता है ।

किसी भी देश, समाज, राष्ट्र अथवा संस्थाका इतिहास लिखनेवाले बहुतसे हुआ करते हैं। परन्तु केवल गत घटनाओंका उल्लेख और रसीली बातें लिख देनेसे तत्त्व विवेचनके कार्यमें कुछ भी सहायता नहीं मिलती। बिना गत घटनाओंकी मददमें रहनेवाले तत्त्वको निकाले केवल घटनाओंका उल्लेख कर भाभी पीढ़ीको कोई पाठ नहीं सिखलाया जा सकता। लोगोंको बुझार जाता है, सिर दुखता है, पेटमें दर्द है आदि रोगोंकी केवल सूची परसे औपचिकी योजना नहीं की जा सकती। बिना रोगीका मिठान किये ओर यह जाने कि बुझार उष्णताका है या शीत का है, दोषी है, अथवा सादा है, चिकित्सा करना मिरूपयोगी ही नहीं किंतु कभी कभी हानिकारक भी हो जाता है। बकाळतके घड़ेमें दोनो पक्षकारोंकी ओरसे सुवृत्त दिया जाता है। उसमें अपनी अपनी बाजूको सिद्ध करनेकी एक प्रकारकी विचार दृष्टि हुआ करती है। उस दृष्टिसे सुवृत्तका अचलोकन न करनेसे उन सुवृत्तोंकी संगति ही नहीं बैठती। और कामका विर्णय भी बुझकर हो जाता है। उसी प्रकार इतिहासकी गत घटनाओंकी चिकित्सा भी किसी न किसी तत्त्वके अनुरोधसे ही करना पड़ती है। अतएव उस तत्त्वके अनुसार सब बातोंकी परस्परमें श्रैंगति विवक्षाना चाहिये।

इस प्रकार आज तत्र संस्कृति शास्त्रकी चाकि मा जिन ओड़ेसे विवेचकोंके की है, उनके मतोंका अब अपन विचार करें। इन विवेचकोंमें केटही मुख्य है। इसकी जनता-धर्म और समाज रचना संबंधी कल्पनाका सविस्तर वर्णन गत प्रकरणमें किया जा चुका है। इसने जनताके चैतन्ययुक्त पक्षको सुधारणाका भाग तत्त्व और उत्तरी गुर-किष्ठी घतलाया है। औसिक शास्त्रकी प्रगतिकी उत्कृष्ट नीमांला करके धर्म कल्पना की उत्कर्षितसे उसका संबंध क्या है? इसका इस विद्वानने सुदूर विवेचन किया है। साथमें यह भी निखलाया है कि धार्मिक कल्पनाओंपर समाजके उच्च, नीच उपविभागोंकी रचना किस प्रकार अवलंबित है। परन्तु इस विद्वानका मुख्य दोष यह है कि इसने अधिमौखिक तत्त्वोंको अभास्यतिक अदख दिया है। आधिमौखिक विचार सरणीकी दृष्टि किस प्रकार नयादित है? और उस विचारसरणीको ही धर्मत्व देनेके प्रयत्नमें यह किस प्रकार असफल हुआ है? यह देख आये हैं। जगत्का जादि कारण कौबसा हो सकता है? उसमें आवश्यक गुण, धर्म है या नहीं? मनुष्यकी द्यूळ व सुस्म देहके

विचार कोई अविनाशी तत्व है या नहीं, इन बातोंका केंद्रने जो विचार किया है वह सक्षोप और अपूर्ण है ? और इस कारण वह यह न ठिकठा-लका कि धर्म तत्त्वोंस सरवज्ञानकी संगति किस प्रकार लगती है । इसी प्रकार आध्यात्मिक बातोंको अधिक महत्त्व देते हुए, इसने आध्यात्मिक परिस्थिति का विचार बैसा करना चाहिये या नहीं किया । और इस कारण बेट यह न बतला सका कि आपसमें एक पक्षमें समाजकी वर्तमान परिस्थिति किस प्रकार आई जाती है । और इसे किस तरह दूर करना चाहिये । क्योंकि उसके कह देने परसे ही तो कोई बात ही नहीं सकती । सन्ध्या-सन्ध्याको भी देखना चाहिये । और इस कारणसे केंद्र, धर्म, राजकारण, समाज तथा आदि मानवीय व्यवसायों में एकही तत्त्वका आविष्कारण किस प्रकार होता है, वह असंभव दिखाना नर सबकी आपसमें संगति नहीं निकाल सका । अर्थात् इसने मानसशास्त्रके नियमोंका बहुत कुछ उपयोक्त किया था. परन्तु अत तक उसे सामने न रखनेके कारण मनुष्यका मन, जनताके समाज सक्षोप, अपूर्ण और विसंगत रूपनाको देखता मान कर उसकी उपालना किस प्रकार करने लगेगा ? इसकी बाका उसे नहीं हुई । सारांश यह है कि यद्यपि केंद्रने सुधारणा कास्त्रके कुछ नियमोंके द्वारा मनुष्य जातिकी गति, स्थितिकी विचिन्ता करनेका उपक्रम कर देनेका पाहिका मान प्राप्त किया जो भी अपनी विचार श्रृंखलाकी सब कड़ियोंको परस्परमें न जोड़ सकनेके कारण उसका उपक्रम अपूरा ही रहा ।

इसके बाद गिबो नामक सन्ध्याका नवर है । इसने अपने सुधारणाके इतिहासमें निम्न निम्न सामाजिक, धार्मिक और राजकीय संस्थाओंका वर्णन बड़े बड़ेका किया है । और इन संस्थाओंके परस्परमें होनेवाले घात मत्थापा-लका परिणाम सुधारणा पर किस प्रकार होता है ? यह इसने अनेक उदाहर-णोंसे सिद्ध किया है । रोमकी सत्ताका नाश हो जानेपर, किन्तु अर्थात् (Barbarians) कहते हैं उन अर्धजनों-पूर्वजोंके द्वारा रोम साम्राज्यके अनेक प्रदेश पादक्षान करनेकी घटना प्रारम्भ कर रोमन धर्मसंस्था, रोमन धार तथा, रोमन राजनीतिकार्य रोमन समाज तथा, वर्गरहके इतिहासके अनु-क्रमसे इसने यह दिखाया है । इन संस्थाओंका कर्पांतर जागोके कारणसे किस प्रकार आग क्यों हुआ ? तथा कारणतरमें यह रूप भी अत्यन्त 'क्यूबलडिडम'का उदय किस प्रकार हुआ और फिर यही पक्षति विधित-

चंचक रामसचामें किस प्रकार परिणत हुई । तथा धर्मके संबन्धमें केवल आचार भाग पर ही सब आचार रख लेने और धर्मके वास्तविक तत्व मूल जानेसे ईसाई धर्मकी अवनति किस प्रकार हुई ? और उसके कारण व्युत्पत्तिको धर्म सुधारणाका अन्तर किस प्रकार मिला इसका भी उसने विवेचन किया है । परन्तु ये रूपांतर जिन तत्त्वोंके कारण हुए उन तत्त्वोंका गिजोने स्वतंत्ररूपसे विवेचन नहीं किया । जिस प्रकार किसी पदार्थ संग्रहालयमें असंख्य पदार्थोंको छाकर वर्गीकरण पूर्वक रख लेने पर भी यदि उनके वर्गीकरणके तत्त्वोंका उल्लेख न किया जाय तो उससे प्रेक्षकोंको जो ज्ञान प्राप्त होना चाहिये वह नहीं होता उसी प्रकार गिजोके इतिहासकी स्थिति हुई है । इसने यद्यपि सुधारणाका इतिहास लिखा परन्तु तत्त्वनिर्णय नहीं किया । हाँ इसके लेखनसे इतना काम अवश्य हुआ कि तत्त्व निर्णय करनेके योग्य सामग्रीका पट्टन कुछ संग्रह हो गया ।

गिजोके ही समान 'बकल' नामक विद्वानने भी एक सुधारणाका इतिहास लिखा है । इसमें इसने गिजोकी कमी दूर करदी है । इसने आधिभौतिक शास्त्रकी प्रगतिको सुधारणाका नियामक तत्त्व मान कर अपने इतिहासमें तत्त्व चिकित्सा की है । इसके विवेचनमें यह विशेषता है कि उक्त दोनों लेखक अपने विवेचनमें जो पौर्वात्य देशोंको मूल गये थे वह यह नहीं मूला और अपने मतानुसार उनकी स्थितिका भी इसने विचार किया है । और इसी लिये यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इसने पौर्वात्य देशोंको अस्त-सकृत्-विन सुधरे हुए ही माना है । इसका मत है कि अस्तसंपन्न महासूतोंसे उर कर ही पौर्वात्योंने इनका दासत्व अथवा इनकी सेवा करना स्वीकार किया । और इसी कारण पौर्वात्योंकी धार्मिक विचारसरणीमें पंचमहासूतोंको देव-स्थान प्राप्त हुआ । हिन्दुस्थानमें जो धर्मके लिये यज्ञ करनेवाले, पृथ्वीकी पूजा करनेवाले और मटियोंको देव मानकर उनकी भक्ति करनेवाले लोग हैं वे सृष्टिके रूपसे उरे हुए हैं, यह वक्तव्य मत है । वह कहता है कि उनके इस धर्म विचारके अनुसार इस सृष्टिके दासत्वका परिणाम उनकी परिस्थिति पर भी हुआ । पाश्चात्योंसे ससर्ग होनेके पहिले सुधारणाके साहित्यसे भारतवासी अपरिचित थे । रेखावादी, तार, टेलिफोन आदि सुखकी वृद्धि करनेवाले साधनोंका उन्हें ज्ञान न होनेके कारण वे सुधारणाकी सीढ़ी पर चढ़ न सके । पाश्चात्योंने इसके विरुद्ध किया । उन्होंने 'पंचमहासूतोंको अपना दास समझा उनकी

सेवा करनेके बदले उनसे अपनी सेवा करवाई । इस कारण वे सुदूरके सब छात्रगोत्रों को प्राप्त कर सके और सुधारणा उनके हाथकी कटपुस्तकी बन गई । असाधवा और शोकग्रम नष्ट हो गया । आर्थिक संपत्ति बढ़ गई । राजनीति-का सुधार हुआ । और इस प्रकार उन्हें श्रेष्ठ स्थिति प्राप्त हुई । यही तत्त्व बकलने इतिहासके सब प्रसंगों पर घटाकर सुधारणाका विवेचन किया है ।

इस विचारसरणीकी मूल आधिभौतिकशास्त्रोंके प्रमाण—प्रकरणमें विश-का दीगई है कि भौतिक शास्त्र परिमित है, सूक्ष्मरूप मन और उसकी गति स्थितिका वे अनुमान भी नहीं कर सकते । और मानस शास्त्रके अन्धा-सके सिवाय धर्म, राजनीति आदि मानवीय व्यापारोंके प्रेरक हेतुओंका बोध नहीं होता । और यह सिद्धान्त अत्य प्राम्य निश्चित हो गये हैं । परन्तु बक-लकी दृष्टि इतनी संकुचित हो गई है कि बाह्य मानवीय व्यवहारोंके इन सब अन्तोंको अनावश्यक ही नहीं किंतु अहितकारक समझता है । जिस धर्मके कारण चित्तको शांति प्राप्त होती है और मनुष्यकी निरंतर उच्च गमल करनेवाली मनोवृत्तिको विभ्रान्ति मिलती है उस धर्मको बकल, शुद्ध चित्तग्रम राजकरण संबंधी श्रेष्ठ नैतिक तत्त्वोंको वह मनुष्यजातिकी मूर्खता और उस-मूर्खताको सुधारनेके किये की हुई मूलके सिवाय दूसरा विरोध ही नहीं देता । और साहित्यको तो वह “ लोगोंकी विज्ञा मूल होनेके किये झूठे लोगों द्वारा रगा हुआ धर्मन ” समझता है । उसका कहना है कि “ नीतिशास्त्रसे जगत्के कामकी अपेक्षा हमारे ही अधिक हुई है । क्योंकि इस शास्त्रका आधार लेकर धार्मिक और राजकीय बातोंमें इटवायी लोगोंको अवास्तविक महत्त्व प्राप्त हो जाता है और उनके मसका अगता पर अनुकूल परिणाम होता है ” इस किये उसका स्पष्ट मत है कि जगतमें भौतिक शास्त्रही सुधारणाकी शुद्ध-किछी है । अता इतनी विषयव्य दृष्टिवाले मनुष्यको जगतकी वस्तु स्थितिका और उसके अंतर्धानी तत्वोंका सत्यज्ञान नहीं तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

इसके पश्चात् सस्कृतिशास्त्रकी नीमांसा कारलाइलने की है । इसने भी सुधारणाके विधानक तत्वको खोजनेका चल किया है । इसका निर्णय बक-ले विद्वान्क उरठा है । इन दोनोंके निर्णयमें उत्तर पूर्व और दक्षिणपूर्वके समान मेघ है । बालाईलके मतानुसार सृष्टिका आधिभौतिक स्वकम सब वस्तुपर किया हुआ मुलम्मा है । यह केवल वाक्यवैय है । मनुष्य शरीरपरके कपड़े जिस प्रकार मनुष्य नहीं हैं उसी प्रकार जगत्का अनुभवमें आनेवाला

रूप भी सत्य नहीं है । मनुष्य देहमें प्रेरकवस्तु दूसरी ही है जो कि आत्मा है । यही सत्य सत्य है । उसके जगत्की उपाधिमें पढ़नेके कारण ही उसको यह बाह्यरूप प्राप्त हुआ है । इस प्रकार कार्लाइलने जगत्की सुन्दर मीमांसा अपने “ सार्टर रिपार्टस ” नामक ग्रंथमें की है । और अपने ग्रंथका विनोद-रूपसे उसने उपनाम “ कपड़ेकी नीति मीमांसा ” रखा है । इसके मत, आर्यतत्त्व ज्ञानके वेदान्त मतसे बहुत कुछ भिद्यते हैं । इसके मतसे बिना शरीर-धारणरूप उपाधिके आत्मतत्त्व प्रकट नहीं हो सकनेके कारण यह विभूति-रूपसे सबसे अधिक श्रद्धा स्थितिमें व्यक्त होता है । और उस विभूतिके अव-लंबनसे ही समाज, सुधारणाके मार्गमें जा सकता है । उसकी इस श्रेष्ठ पु-रुषोंकी कल्पनामें धरुलके भौतिकशास्त्रके पंडितोंको स्थान नहीं दिया गया है । किन्तु दूर, महम्मद, गटे, सरीसे जन्माले तेजसे प्रकाशित और जग-त्की विनाशवान काँचकीको छोड़कर आत्मतत्त्वकी निख ज्योतिकी ओर प्रकाश बिन्दु छाननेवाले वैराग्यवान् पुरुषोंको ही स्थान दिया है ।

मातृवीय आयुष्यके अंतिम साध्यकी दृष्टिसे कार्लाइलकी मीमांसा अनुपम है । परन्तु प्रत्येक मनुष्यमें अंतरीक्षमें स्वैरसंचार करनेवाले चंद्रलक्ष्मीके समान ज्योत्सामके विस्तृत आकाशमें स्वच्छंद उड़नेका मातृवीय अथवा नैतिक सामर्थ्य नहीं होता । जगत्में प्रायः मनुष्य पाँचोंमें धूँधरे पहिरे हुए कद-रके समान परिस्थितिकी शृंखलासे जकड़े हुए हैं । और ऐसे ही बहुतसे लोगोंका समुदाय समान होती है । इसलिये वैदिक सुधारणाकी दृष्टिसे कार्लाइलकी मीमांसामें अपूर्णता रह गई है । जगत्में कौटुम्बिक, आर्थिक सामाजिक, राजकीय बगैरह अनेक प्रकारके संबंध मनुष्यके रहते हैं; परन्तु कार्लाइलने इन संबंधोंके परिणामकी चिकित्सा विद्येय रीतिसे नहीं की । और न आधिभौतिक व ज्योत्सामके संबंधकी तथा एकमेंसे दूसरेके मार्गमें जावेकी ही उसने मीमांसा की है । धरुलने संस्कृतिशास्त्रकी सबसे नीची सीढ़ीकी मीमांसा की है और कार्लाइलने सबसे ऊँची सीढ़ीकी की है और इसी लिये दोनोंकी ही अपूर्ण हुई है ।

यह अपूर्णता दूर करनेका हर्बर्ट स्पेन्सरने बहुत बड़ा प्रयत्न किया है । इसने विश्वके संपूर्ण पदार्थोंकी सर्व कालीन गतिस्थितिका सशास्त्रविवेचन करनेकी असीम महत्त्वाकांक्षा की है और अपने System of Philosophy सशस्त्रज्ञानपद्धति नामक शास्त्रमें उसका विवेचन उत्कृष्टतः सत्यकी प्रणालीसे

किया है। इस तत्त्वके मूल सूत्रोंका पहिले विवेचन किया जा चुका है। उनकी पुनरुक्ति करनेका कोई प्रयोजन नहीं है। इसके मतसे सृष्टिके सम्पूर्ण कोटिके पदार्थोंकी गति स्थिति उच्छान्तिके एकही तत्त्वसे होती है। हजारों-प्रकारकी वनस्पतियाँ, कुमिकीटकादि क्षुद्र जीव उनसे हाथी घोड़े आदि अधिक सामर्थ्यवाले जीव और अंतमें बुद्धि विविध मानवजाति इत सबकी गति उस उच्छान्तिके एकही तत्त्वके अनुसार होती है। एक विधिरूपसे अनेक विधिरूप होना, अनिश्चितका निश्चित होना, असंभवका संभव होना उच्छान्ति तत्त्वका ही फल है। जीवनरसयुक्त अंडेका इंद्रियाभ्यवयव युक्त पक्षी होना, घाँसके समान सीधा सरलरूप धारण करनेवाले खंजुका पंख, पाँच, भौंका आदि अवयवयुक्त परंतु अथमाना बन्दरकी विरूपता गष्ट होकर सुन्दररूपका अनुपम होना, उच्छान्ति तत्त्वका ही फल है। इससे भागे अंगारमें पशु समान पृथक् रूपसे रहनेवाले मनुष्योंका सगति प्रिय बनकर एक एक कुटुम्ब होना, फिर अनेक कुटुम्बोंका मिलकर एक वर्ग (bride) बनना अनेक वर्गोंके एक-करणसे राष्ट्र अथवा समाज होना उच्छान्ति तत्त्वका ही फल है। इस प्रकार एकविधतासे अनेक विधता ही अनुभवमें आती है। यह स्पेन्सरकी भीमांसाका संक्षिप्त विवरण है। इसने मानवसमाजकी आखिल सृष्टिको अपने उच्छान्ति तत्त्वका एक भाग माननेके कारण उसका स्वतंत्र विवेचन नहीं किया है। और इस कारण मानवीय-भ्रमसाधके अंतर्गत तत्त्व कौनसे हैं। और कौनसे तत्त्वोंसे समाज-धर्म अथवा राष्ट्रकी रचना होती है, और उनमेंसे कौनसे तत्त्व वास्तविक और कौनसे अवास्तविक हैं, इसका स्पेन्सरने विचार ही नहीं किया है। अनुपम प्राणीकी कृति सदा सहेतुक होती है और समाजमें उसका व्यवहार भी कुछ न कुछ विज्ञेय हेतुओंसे प्रेरित हुआ करता है इसलिये उन हेतुओंका फल, आपरणसे मिलेगा अथवा नहीं इसका विचार न्यूनतम-चिन्तित्वमें अवश्य होना चाहिये। और यह विचार न होनेके कारण स्पेन्सरकी विचार प्रणाली महत्त्वपूर्ण होनेपर भी व्यवहारिक दृष्टिमें निष्फल है, यही कहना होगा।

स्पेन्सरके विचारमें एक और छोप डिप्टकाई पदवा है वह यह कि स्पेन्सरक भीमांसा केवल श्रुत सृष्टिसे ही संभव रखने वाली है और शक्य अथवा स्पृह यन्तुनी उच्छान्ति किम प्रकार होती है ? यही यत्नकारनेका उसने यत्न किया है २१ कारण मूल सृष्टि और अतीन्द्रिय वस्तुओंके संबंधमें स्पेन्सरके विचारोंसे

कुछ ज्ञान प्राप्त नहीं होता। यह कभी दूर करनेका जर्मनीके हेगेल नामक तत्त्ववेत्ताने प्रयत्न किया है। इसने सृष्टिके स्पृष्ट रूपकी ओर न देख केवल मनः सृष्टि और विचारसृष्टिका ही विवेचन किया है। तो भी इन दोनोंमें अपूर्व विचार-साम्य है। उल्लान्तिके जिन तत्त्वोंको स्पेन्सरने स्पृष्ट सृष्टिपर धराना है वे ही हेगेलकी विचारसृष्टिमें भी अनुभवमें आते हैं। स्पृष्टके सुप्त-होने, धीमेके टेढेतिरठे होने और विलगताके सुसंगत होनेके तत्त्वको ही हेगेल-छने भी प्रमाण माना है। अंतर केवल इतनाही है कि हेगेल मानसिक विचारोंको सृष्टिका आधिक्य मानता है।

यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति यद्वाचा वदति तत्कर्म करोति।

“ यत्कर्म करोति तत्फलेन अभिसंपद्यते ”।

अर्थात् “ मनुष्य मनसे जो विचार करता है वही वाणीसे बोलता है। और जो वाणीसे बोलता है वैसा ही कर्म करता है और जो कर्म करता है उसीका फलरूपसे अनुभव करता है। हेगेलका भी यही सिद्धान्त है। और इसलिये न केवल मनुष्य कृतिकी ही किन्तु स्पृष्ट सृष्टिके रूपकी अब भी उसने विचार शक्तिको ही माना है। जिस प्रकार केवल नेत्रोंसे अन्धक रूपसे दिखालाई देनेवाला तारक समूह, दूरबीनकी सहायतासे मनुष्यकी विचार शक्तिके उद्दीपित हो जाने पर व्यक्त और अनेकविध दिखने लगता है और इसमें मनुष्यके अंतःकरणकी जिज्ञासाका विचार कारणभूत होता है उसी प्रकार विचारशक्तिकी तीव्रताके कारण मनुष्य फलाकौशलरूप, धात्रीप शोध आदि अनेक प्रकारके सुखोंके साधन ढूँढता है और अंतमें जब मौक्तिक साधनोंके सुलोपमोयसे वृत्ति नहीं होती तब विचारशक्तिके ही कारण आत्म-चिन्तनाके पीछे लगकर

यः स्वात्मपति रेवः स्यात् आत्मवृत्तश्च मानवः।

आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते

की स्थितिको प्राप्त होता है। यह हेगेलकी भीर्मासाका सार है। हेगेल और स्पेन्सर इस दोनोंकी भीर्मासाके मिळनेसे विश्वके स्पृष्ट और सूक्ष्म रूपकी संपूर्ण चिन्त्रिता होती है परन्तु केवल हेगेलकी भीर्मासा स्पेन्सरके ही समान सदीप है। और इसके बड़ी दो कारण हैं जो स्पेन्सरकी समालोचना करते समय ऊपर दिखाया जाये हैं। एकने अपनी उपपत्तमें केवल स्पृष्ट

सृष्टिको समझा तो दूसरेमें सूक्ष्म सृष्टिको आदि कारण मानते हुए विचार सृष्टिकी मीमांसामें हाथ डाला परन्तु इन दोनोंके उद्योगकी व्यसि विस्तृत होनेके कारण मानवीय संस्कृतिके परिमित विषयोंका सापेक्षसे विवेचन करनेका काम दोनोंमेंसे एक भी न कर सका । दूसरा दोष यह है कि दोनोंकी चिकित्सा एक दोषीय हुई । अर्थात् स्पेन्सरने स्थूल सृष्टिकी चिकित्सा की तो हेगेलने सूक्ष्म सृष्टिकी । और इसलिये स्थूल व सूक्ष्म व आधिनीतिक और आध्यात्मिक दृष्टिसे मानवजातिकी सुधारणा किस प्रकार होती गई और इन दोनों दृष्टियोंका परस्पर क्या सम्बन्ध है ? यह साकलकी कठियां जोड़नेका काम स्पेन्सरके समान हेगेल भी न कर सका ।

इस प्रकार मानवीय प्रगतिका गौरव बंधा सुलझानेका काम पश्चात्प विद्वानोंने जो कुछ किया है उसपर विचार करनेके बाद यदि भारतीय विचार परंपरा पर विचार करें तो महसूस होगा कि यहाँ इस दृष्टिसे प्रयत्न ही नहीं हुआ है । सर्व जगत् सिध्दा है । परमह्य ही श्रेष्ठतत्व है । मनुष्यकी जगत्की वस्तुओंको सत्य माननेकी समझ केवल माया है, इस प्रकारके विश्वासको माननेवाली विचारसरणीमें मानवीय व्यवहारोंकी चिकित्साको अवकाश बहुत न मिले तो इसमें आश्चर्य नहीं है । रामनीतिशास्त्र, चातुर्वर्ण्य प्रथाव समाज रचना, अज्ञानादिपर कर्म मीमांसाशास्त्र, व्यवहार प्रकरणादि कानून, उत्कर्ष-तिवाद्के ही समान सृष्टिकी उत्पत्तिकी चिकित्सा करनेवाले वैशेषिक वर्णन आदि बहुतसे व्यावहारिक शास्त्रोंपर अत्यंत असूक्ष्म और अपूर्व ग्रंथ प्राचीन-कालमें लिखे गये हैं । परन्तु मानव संस्कृतिको मुख्य विषय मानकर उसके समाज रचना, धर्मसाधन, राजकारण आदि विभागकर उन सबमें मनुष्य-कृति किस पद्धतिसे गमन करती है, इनका परस्परमें क्या सम्बन्ध है और इन सबके सकलित परिणामोंसे समाजका उत्कर्ष और अयक्य किस प्रकार होता है इसका साधत विवेचन चिकित्सक पद्धतिसे किया हुआ नहीं मिलता । इसका कारण यह है कि भारतका यह विश्वास है कि यदि सर्वगत ऊपरके ध्याव-हारिक शास्त्रोंका अभ्यास निचा जाय तो भी निकाल-सत्य उपवज्ञानकी यह समानता नहीं कर सकेगा । क्योंकि इन दोनोंकी भूमिका ही मिल है । भारतवर्षकी यह प्राचीन विचारसरणी है कि यदि जगत्को सत्य मानें तो उस कथनोंको महत्त्व देना चाहिये । और यदि उसे नभर मानने योग्य आत्मिक उन्नति हो जाय तो फिर नभर वस्तुकी चिकित्सा करनेसे काम कुछ

नहीं है । और इसी कारण भारतमें इन दो भिन्न प्रकारके धारोंका विचार-कर मानवीय प्रकृतिकी चिकित्सा करनेका प्रयत्न नहीं किया गया है । जो भी वर्तमानकालमें पाम्भाव्य विद्याके मसर्गके कारण स्थूल सृष्टि और मानवीय व्यवहारोंका एकत्र विचार करनेका मद्देन भारतवासीको मालूम होनेसे संस्कृतिके प्रथमकरण करनेकी इच्छा प्रयत्न तथा होने लगी है । ऐसे समयमें उस चिकित्साके कार्यमें सहायता मिलनेके लिये चिकित्साके मुख्य मुख्य तारोंका ज्ञान होना आवश्यक है और इस दृष्टिसे इस ग्रन्थमें किया हुआ प्रयास अवश्य महत्व पूर्ण माना जायगा, ऐसी भाशा है ।

प्रत्येक विषयका विचार हर ओरमें होना चाहिये । आजतक जो चिकित्सामें हुई है उनमें इस प्रकार विचार नहीं किया गया है । यह बात इस प्रकारमें किये हुए विवेचनसे ध्यानमें आये बिना नहीं रहेगी । पहिले इसका विचार होना चाहिये कि सुधारणाके तरंग निश्चित करनेके प्रमाण अथवा साधन कहाँसे हैं ? फिर उन साधनोंसे तत्त्व मिश्रण हो जाने पर किस साध्य-स्थितिकी अपेक्षा की जाती है उसके प्रति, हम आ रहे हैं या नहीं यह जाननेके लिये उसका लक्षण अथवा स्वरूप समझना चाहिये । इसके पश्चात् उसके मार्गका ज्ञान होनेकी आवश्यकता है । मार्गका ज्ञान हो जानेपर उन मलोंसे अपने पहिलेके गये हुए लोगोंकी कृतियोंका विश्लेषण कर निश्चित किये हुए तत्त्व उनकी कृतियोंमें हैं या नहीं इसकी परीक्षा करना चाहिये । इस प्रकार सारा-शुद्ध पदसिसे आजतक इस विषयका अभ्यास न किये जानेके कारण इस पदसिसे किये हुए इस नवीन उपक्रमके लिये योग्य कारण और अवसर या यह कहनेमें कुछ हानि नहीं है ।

प्रकरण दूसरा

सुधारणाका अवल स्वरूप,



अब तक सुधारणा-शाखा सम्बन्धी किये हुए विवेचन परसे जो सिद्धान्त निकले हैं उनका विद्वेष रीतिसे विवेचन करना अधिक बोधकारक होगा। सुधारणा अथवा संस्कृति एक ही समयमें कार्य करनेवाली अनेक शक्तियोंका संकलित परिणाम है। ये शक्तियाँ कौन कौनसी हैं और इनका समाज पर किस प्रकार परिणाम होता है ? इसका जो विवेचन अब तक ही युक्त है उन्नीका यहाँ मक्षित रीतिसे अवलोकन किया जाता है।

सुधारणाके घटकावपवोका मूल चर्चाकरण करनेसे उनके चार भेद होंगे। प्रथम वर्तमान परिस्थिति द्वारा भेद अधिनैतिक ज्ञान तीसरा भेद वर्तमान और चौथा भेद ज्ञान। अब इनके कार्योंका यहाँ अवलोकन करना उचित होगा।

वर्तमान परिस्थिति यह पहिली भेद है। कोई भी व्यक्ति अथवा समाज परिस्थितिले बद्ध होता है। इसलिये उसकी प्रगतिकी चिकित्सामें परिस्थिति ही सुधारणाका निदानक तत्व होती है। इस परिस्थितिका अपने समयकी सामाजिक, धार्मिक, भौतिक, राजकीय आदि सब प्रकारकी विचारसरणीसे अवलोकन निकट सम्बन्धहोता है। और इसलिये परिस्थितिके द्वारा ही उस उच्चान्त समाज या व्यक्तिकी अवस्थाकी पूर्ण कल्पना हो सकती है। भौतिक परिस्थितिके कारण राजकीय परिस्थिति निश्चित होती है और इन दोनोंके मिश्रणसे समाज रचना होती है और ये तीनो भौतिक, राजकीय तथा सामाजिक परिस्थितियाँ भौतिक अवस्थाके किये कारणमूल होती हैं। प्रारम्भ कालमें देशकी वायु, भूमि, लोक-संख्या और मानव वृद्धि ही समाजकी निम्न निम्न अंतर्जातियोंकी विपणनकी जड़ रहती है। इन अंतर्जातियोंमें परस्पर होनेवाली स्पर्धा तथा उसके कारण होनेवाले झगड़ोंसे राजकीय और अधिक भेद पड़ते हैं इसी प्रकार स्वस्थता प्राप्त हो जानेपर उद्योग धंधोंके कारण उन शक्तियोंकी समाज रचनामें उच्च नीच भाव वरपन्न हो जाता है। तथा द्विविध

अथवा दूसरेके देशपर अधिकार कर लेनेसे जेता और भित्तोंमें स्वामी सेवक सम्बन्ध उत्पन्न होता है जिससे राजा, महाराजा, सरदार, जमीरदार, मध्यम वर्ग, मसदूर वर्ग आदि अनेक प्रकारकी विपन्नता उत्पन्न हो जाती है । और इस प्रकारकी विपन्नताके कारण ऊपर बतलाये हुए भिन्न भिन्न श्रेणीके लोगोंकी साधन संपत्तिमें भी न्यूनताधिकता हो जाती है जिससे उस समाजकी रचनामें श्रेष्ठ और कनिष्ठ, धनिक और गरीब, शिक्षित और अशिक्षित आदि अनेक भेद पद आते हैं । इन सामाजिक भेदोंसे समाजके नीतिशास्त्रमें भी अंतर पद आता है । गरीबोंकी और धनियोंकी नीति कल्पना भी भिन्न हो जाती है । जो बात गरीबोंके लिये अपराध स्वरूप होती है वही धनियोंके लिये विद्यास और श्रेष्ठका कारण मानी जाने लगती है और एक प्रकार की हीन स्थिति प्राप्त हो जाती है । परंपरा इतने ही परिणामसे रूढ़ती नहीं है किन्तु राष्ट्र अथवा समाजकी प्राण अथवा जीवन स्वरूप जो एक सर्व श्रेष्ठ साम्य कल्पना होती है—जो कि किसी की स्वातंत्र्य रूप, किसी की जाप्या-सिक, किसी की कीर्ति प्राप्त करनेकी और किसीकी पर पीड़ा उत्पन्न होती है वह भी—अव्यक्तिको प्राप्त होने लगती है । और अंतमें कुछ, श्रेष्ठ तथा सत्य नीतिके पाये पर समाजकी रचना हो, अथवा पाशाधिक बलकी सत्तापर इसका निग्रह भी परिस्थितिले ही होता है । इस प्रकार सुधारणाके पाँचके अंगका—परिस्थितिका—परिणाम होता है ।

इसके बाद दूसरा भेद भौतिक शास्त्र है । सुधारणाका नियामक तत्त्व परिस्थिति होनेके कारण उसमें अनुकूल परिवर्तन होनेसे सुधारणाका मार्ग अधिक सुलभ हो जाता है । यह अनुकूल परिवर्तन करनेका बहुतसा श्रेय भौतिक शास्त्रको प्राप्त है । इसके द्वारा जो लाभ हुए हैं उनका प्रायः सर्वोंको अनुभव होनेसे उसका सविस्तर वर्णन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । संक्षे-पसे इतना ही कहना बस होगा कि इस शक्तिके कारण जो भौतिक प्रगति हुई है उससे मनुष्यको उसके असंख्य साधन प्राप्त हुए हैं । शारीरिक परि-श्रमके कितने ही कार्य यंत्रोंके द्वारा होने लगनेसे कितना ही मानवीय श्रम बच गया है । और अब मनुष्य जातिको केवल बुद्धि विषयक भार उठानेकी ही आवश्यकता रह गई है । समाजमें शारीरिक परिश्रम पीछे श्रेणीका मान्यता है और इसके कारण समाजमें ह्युमिन्न भेद उत्पन्न होते हैं परन्तु यदि भौतिक शास्त्रकी सहायतासे मानवीय श्रमका काम पत्रोंसे लेनेकी क्रिया

इसी प्रकार अन्ध्राहृत रीतिसे चलती रही तो यह कृत्रिम नैवन्मावके अदृष्टे नष्ट हो जानेकी और सुधारणाके कार्यमें बहुत कुछ सहायता प्राप्त होनेकी आशा है । इस शास्त्रके कारण समाजकी आर्थिक स्थितिमें बहुत कुछ उन्नति होती है और यह बात पाश्चात्य राष्ट्रोंके उदाहरणसे अच्छी तरह मानव समाजके ध्यानमें आ चुकी है । इस शास्त्रके कारण अनेक नये नये उद्योग बंधोंके उत्पन्न होनेसे मनुष्योंमें परस्पर बहुत कुछ संर्बन्ध बढ गया है और विद्याचारमें भी वृद्धि हुई है । और इस कारण अंगली समाजका एकनिध स्वरूप नष्ट होकर समाजकी अनेक विध स्वरूप प्राप्त हुआ है ।

परन्तु केवल परिस्थितिके अनुकूल होनेसे ही सुधारणा नहीं होती । इसके किये परिस्थितिमें होनेवाले अंतरोंका एक दूसरेसे ब श्रेष्ठ कल्पनासे समीकरण होनेकी आवश्यकता होती है । यह समीकरणका कार्य बहुत कुछ अंतर्गत भौतिक शास्त्रने किया है । बहूककी शक्ति इसी शास्त्रकी शोधका फल है जिससे दुर्बलकी दुर्बलताका बलवान शक्तिके भी समीकरण हुआ । इसी समीकरणके कारण गुलामोंके समान समाजके एक अर्धंग अंगमें सामर्थ्य आई और गुलामकी सत्ता नष्ट हुई । इसी प्रकार रेखागद्दी, तार, टेलीफोन, छापाखाने आदि साधनोंसे ज्ञानका प्रचार बहुत सुलभ होगया जिससे अक्षित्ति-तोंकी बुद्धि हीनताका अल्पसंख्याक सुशिक्षितोंकी बुद्धिमत्तासे समीकरण हुआ । इस प्रकार भौतिक शास्त्रने समीकरणके कार्यमें बहुत कुछ सहायता पहुँचाई है ।

इस शास्त्रने एक दूसरा कार्य और किया है । यह कार्य समाजकी धर्म कल्पनाको सुस्थित करना है । पिन्ध पूजा, एक देवाल, कर्मके मतसे सृष्टिसेवा और पौराणिकीके मतसे परमेश्वर सिद्धि इनसब धार्मिक अवस्थाओंका रूपान्तर होनेमें मुख्य कारण मृत भौतिक ज्ञान ही है । इसकी सहायतासे ज्यों ज्यों मृष्टि चमत्कार हल होने लगे त्यों त्यों वेदत्वकी कल्पना बदलती गई और पत्थर, मिट्टी, छीप, सिंहकी दूटी दुई पूछ, आदिको देव माननेकी स्थितिसे निन्दित कर इन सबके भीतर रहनेवाली अंतर्प्राणी कल्पनाके आधारकी विचार मार्गमें छेकर अंतमें यह विदनेवाला जगत् केवल भाव मात्र है और ज्ञानके सिवाय सर्वरूप मिथ्या है यह प्रयोगपूर्वक माननेकी तर ओष्ठिहर छात्रकी स्थिति तर मनुष्य प्राणी आ पहुँचा है । इन दृष्टिमें धर्म कल्पना पर भी इस शास्त्रका बहुत कुछ परिणाम हुआ है ।

इस प्रकारकी स्थिति होनेपर भी पौर्वात्थोंके इस शास्त्रकी ओर दुर्लक्ष करनेसे आर्थिक, भौतिक आदि सब वास्तुओंसे उनकी हीन अवस्था हो गई है। इन देशोंमें मनुष्यकी शरीर सामर्थ्यका उपयोग उल्लेख योग्य न होनेके कारण अपार श्रम सुप्त बला गया है। यदि यह श्रम बचा होता तो श्रम करनेवालोंको उसना ही किबहुना उससे भी अधिक मूल्य प्राप्त हुआ होता और बुद्धि सामर्थ्य बढ़गया होता, परन्तु ऐसा करनेका मार्ग ही छोड़ दिया है। कष्टे मालका उपयोग बंज रचनाके अभावमें न कर सकनेके कारण संपत्ति होने पर भीख मांगनेकी नौबत आई और सांप्रतिक दु स्थितिकी वृद्धि हुई। शिक्षाका प्रचार न हो सना। उद्योग धंदोंमें विविधता नहीं आई। नियमित धंदोंकी ओरही लोगोंका अधिक झुकाव होनेके कारण उन धंदोंके करनेवालोंकी संख्या बढ़ानेसे सभी की स्थिति पराथ हो गई। परवेयोंसे बहुत कुछ व्यवहार न हो सकनेके कारण वैशरीति, रामकार्य, समाजशास्त्र आदि का भी परिचय न हो पाया और सामान्य-तया पौर्वात्थोंको अज्ञानाधिकारमें विवाहीत प्राणीके समान बैठे रहना पड़ा। परन्तु पाश्चात्थोंकी सहायतासे अब यह परिस्थिति धीरे धीरे बदल रही है। और उनके सहवाससे अथवा उनकी देखरेखके नीचे प्राप्त हुए शिक्षणसे इस शास्त्रमें प्रवेश होकर प्रगति होने लगी है और आशा है कि इस वृत्तासे बहुत शीघ्र उन्नति होगी।

सुधारणाके कार्यमें भौतिक शास्त्रके इतने परिणामोंका विचार करनेके बाद उसकी थोड़ीसी विरह बाव भी देखना उचित है। केवल इन्हीं प्राणियोंकी सीमासे अधिक महत्त्व देनेसे ऐहिक वस्तुओंके काम की कालसा असीम हो जाती है और सुखके भौतिक साधनोंके बढ़ने पर उनकी और अधिक वृद्धिके लिये बहुत तृष्णा हो जाती है। भौतिक सुखोंकी कालसा अधिक समान है इसमें साधनरूपी आत्म जितना अधिक ढाळा जाय उतनी ही अधिक बढ़ बढ़ती है। सुखकी यह कालसा नीसि स्वतः और धार्मिक कल्पनाओंसे नियंत्रित की जा सकती है। यदि यह कल्पना धार्मिक कल्पना न होतो जिस प्रकार साधन संपत्तिना स्वतः का सौख्य बढ़ानेमें उपयोग होता है उसी प्रकार दूसरोंका नाश करनेके काममें भी उपयोग हो सकता है। इसलिये भौतिक शास्त्रोंको मर्यादित रख कर उनके महत्त्वका समाज पर अधिक प्रभाव न बढ़ने देनेका ध्यान रखना चाहिए।

इसके सिवाय मौलिकशास्त्रोंमें एक दूसरा दोष और है। यह यह कि इसमें मनुष्यके अन्तःकरणमें रहनेवाली अथवा रहने योग्य अतृप्त आकांक्षाओंको तृप्त करनेकी सामर्थ्य नहीं है। और इसीछिये सुधारणाके कार्यमें इसे कैरय नहीं दिया जा सकता। जो मन मनुष्यका एक महत्त्वका भाग है उस मनका यह अथ इस शास्त्रसे नहीं लगता तो उस मनकी गतिक अंत इन शास्त्रोंसे किस प्रकार जाना जा सकता है।

इसीछिये सुधारणाका तीसरा भेद धर्म माना गया है। किसी भी वस्तुका परिचय होनेपर उसका आज स्थान जाननेकी मनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। छोटे छोटे आदक तक भी प्रत्येक बातकी जड़ पूछा करते हैं। और विद्वाने ही धार चतुर कहानेवाले वयस्क मनुष्योंसे उन आदकोंके प्रसोंके उत्तर नहीं बन पड़ते। व्यवहारमें अनुभवमें जानेवाली यह निस्वकी घटना है। मनके धर्मके अनुसार ही सम्मुख दिग्गनेवाले स्थावर अंगमात्मक इस सृष्टिका आदि कारण जाननेकी सब विचारकीछ मनोंकी साहसिक प्रवृत्ति होती है। यह तृप्त करनेके छिये धर्मके सिवाय दूसरा साधन नहीं है। धर्म ही परमेश्वर की आदि कारण दिखटाकर मनकी अज्ञान्ति दूर कर देता है और धर्म, मनकी सुधासासनाकी शान्ति भी स्वर्गसुखकी कल्पनासे करता है। तथा मरनेके बाद आत्यंतिक पादा हो जानेकी नीतिका प्रतिकार भी आत्माके अमरत्वकी उपपत्तिके द्वारा धर्मही करता है। आर अंतमें, सुख, दुःस्थिति, पारीरिक व्याधि, मानसिक उपधि, निर्धनताके आस, धीन कुम्भके अपमानसे सुखी लोगोंको इसी धर्ममें पुण्य कर्मोंके द्वारा सुख प्राप्त करा देनेका अभिप्राय देकर उनके मनोंको शान्त करता है। अपार सकटों और प्रतिकूल परिस्थितियोंसे भरे हुए जगत्में अनेकेका निभाव होना कठिन है, इस भयसे बने हुए लोगोंको ईश्वरका आचार दिखला कर उन्हें चिन्ता रहित करनेका काम भी धर्मही करता है। क्योंकि ' धर्मैव हन्ते व्याधिः ' यह शास्त्रोपदेश है। इसी प्रकार आधुनिक अत सरुव जब संपूर्ण प्रिय वस्तुओंसे सम्बन्ध टूटनेका प्रसंग आता है तब—

अज्ञानि भूमौ पशवश्च गच्छे । भार्या गृहञ्चारि जनः स्मशाने,
देहभ्रितायां परलोकमार्गे । धर्मानुगो गच्छति जीव एकः ॥
अर्थात् मनुष्यके बाद संपति जहाँ की तहाँ रट जाती है, पशु गुदानमें ही बंधे रह जाते हैं। भार्या घरके दरवाजे तक और गृह मित्र स्मशानही तक साथ आते

हैं । और यह वेद धितामें ही रह जाती है केवल एक धर्म है जो जीवके साथ जाता है ।” इस कल्पनाके द्वारा धर्म केवल इस जन्मका ही नहीं किन्तु परलोकका साथी है और उसके आश्रयके बिना मनुष्य असहाय है, इस भावनाको भी धर्म ही दृढ़ करता है । इस प्रकार अपरिहार्य परिस्थितिकी भावनाका समीकरण भावी सुस्थितिकी कल्पनासे कर समीकरणके कार्यों धर्म सहायस्वत होता है ।

सुधारणाका अंतिम भेद तत्त्वज्ञान है । भौतिक परिस्थितिकी विषमताका भौतिक उपायोंसे समीकरण करनेका काम जिस प्रकार आधिभौतिक शास्त्रसे होता है उसी प्रकार धर्मके द्वारा भौतिक परिस्थितिका समीकरण अतिभौतिक उपायोंसे होता है । परन्तु भौतिक परिस्थितिसे विष्कूल भ्रष्ट हो जाने पर तत्त्वज्ञानके साम्राज्यमें प्रवेश होता है । प्राणीमात्रको यह कल्पना असह्य होती है कि एक दिन आधिभ्याधि युक्त वेद और सुखके साधनोका सर्वस्व नाश हो जायगा । वैदादिकोंका भाषा प्रत्यक्ष दिखता है परंतु वैदादिकोंके व्यतिरिक्त जो “ अहं ” कहनेवाला पदार्थ है वह नित्य होना चाहिये इस भावनासे मनुष्यको विचार करता है वही तत्त्वज्ञान है । मनुष्यके इस अवशिष्ट भागका विश्वके अंतर्धामी तत्त्वसे क्या संबंध है ? इसका विचार तत्त्वज्ञानमें होता है । सम्पूर्ण पदार्थोंमें एकही तत्त्व है उस तत्त्वका और अपना सेम्य-सेवक संबंध है, धर्मके इस प्रमेयसे तत्त्व ज्ञानका प्रारंभ हुआ है । कुछ लोगोंने इस संबंधको भी दूरका समझा और उस आद्यतत्त्वके निरंतर समीप रहनेकी कल्पना की । यही कल्पना तत्त्वज्ञानका अंत मानी जाने लगी । समीप रहनेकी कल्पनासे मनुष्यकी बुद्धि डीठ हो गई और इसलिये उसने आत्माही परमात्माके समान है इस कल्पनाका प्रादुर्भाव किया और अंतमें यह जीवात्माही परमात्मा है इसके सिवाय सर्व मिथ्या है ऐसी दुहाई अद्वैतमतके द्वारा फिरवाकर यह बुद्धि कृतकार्य हुई । अर्थात् स्वतःकी आत्मस्थितिमें परमात्माकी कल्पनाकी तुलनासे मनुष्यको जो न्यूनता भाव्य हुई उसका समीकरण इसप्रकार कर उसने अपनी आत्मिक उन्नति की ।

भौतिक शास्त्रके विवेचनके समय पौर्वात्य देशोंकी भौतिक-शास्त्र सम्प्रदायी उपेक्षाका वर्णन किया गया है उसी प्रकार तत्त्वज्ञानका उद्देश्य करते समय इस सम्बन्धमें पाश्चात्य विचारसरणीकी उपेक्षाका भी वर्णन करना आवश्यक है । क्योंकि उस देशमें तत्त्वज्ञानकी चिकित्सा जैसी होनी चाहिये वैसी नहीं

हुई। केवल मात्रकक वहाँ इसका प्रारंभ हुआ है। अभी पौर्वात्य देशोंके समाज उन्नतता प्राप्त नहीं हुई है। दोनों समाजोंमें एक २ विषयमें उन्नति करनेके कारण चर्चापि श्रेष्ठता संपादन की है परन्तु सर्वांगीन सुधारणा नहीं हो सकी है। क्योंकि सर्वांगीन सुधारणा इन दोनोंके मधुर मिश्रणके सिवाय नहीं हो सकती, यह तर्कवितर्कके द्वारा निर्णय कर चुके हैं। विचार-विनिमय होनेसे परस्परकी कमियोंका ज्ञान होता है। उसी प्रकार गुणोंका भी ज्ञान होता है। और इस रीतिसे दोष दूर करके गुणोंको प्राप्त करनेमें सुभीता होता है। वर्तमानमें पूर्व पश्चिममें इसी प्रकारका विचार विनिमय होने लगा है। इसलिये यह जाया करनेमें कुछ हानि नहीं है कि दोनों ओर अपनी पूर्वपरपराका विविधत्व रक्षनेवाली परन्तु दोनोंका त्याग करनेवाली संस्कृ-
तिका उदय होगा।

प्रकरण तीसरा.

सुधारणाका चल स्वरूप.



सुधारणाकी क्रिया यांत्रिक क्रियाके समान है । जिस प्रकार कच्चा माल यांत्रिक क्रियाके द्वारा धीरे धीरे सुंदर रूप धारण करता हुआ जगतके सन्मुख जाता है उसी प्रकार अतंसकृत समाज सुधारणास्वामी यंत्रके द्वारा सुसंस्कृत अवस्थाको प्राप्त होता है । यह प्रक्रिया समझनेके लिये यांत्रिक ज्ञानकी आवश्यकता है । किसी मिलमें जानेपर सैकड़ों चाक, पहे धौंर दिखलाई पड़ते हैं परन्तु उनका स्वरूप और कार्य, उनके अस्तित्वका महारव, उनका परस्पर संबंध आदिका सूक्ष्म ज्ञान हुये बिना यंत्रमें कच्चा माल डाल कर पक्का नहीं बनाया जा सकता । यंत्रका वह ज्ञान दो प्रकार प्राप्त करना पड़ता है । एक तो यह कि यंत्रके सय कल्ल जुमें प्रयुक्त प्रयुक्त कर उनका परस्परमें क्या संबंध है और वे किस प्रकार आपसमें जोड़े जाते हैं इसका ज्ञान । दूसरे यह कि वह यंत्र चलता किस प्रकार है ? उसके जुमें एक दूसरे पर क्या क्रिया-प्रति क्रिया करते हैं ? और उन सबोंकी क्रियाका कच्चे माल पर क्या परिणाम होता है ? इन दोनों प्रकारके ज्ञानकी अत्यंत आवश्यकता है क्योंकि पहिले प्रकारका ज्ञान हुये बिना विगड़ जानेपर यंत्र सुधारा नहीं जा सकता । और दूसरे प्रकारके ज्ञानके बिना यंत्र चलानेकी कला नहीं जा सकती ।

इसी प्रकार सुधारणाके यंत्रकी स्थिति है । इस यंत्रके संबंधमें भी दोनों प्रकारके ज्ञानकी आवश्यकता है । अर्थात् एक तो सुधारणाके अवयवोंका 'प्रयुक्त प्रयुक्त ज्ञान होना चाहिये दूसरे सुधारणाकी प्रक्रियाके समय उन अवयवोंका समाज पर किस किस प्रकार परिणाम होता है इसका ज्ञान होना चाहिये । गत प्रकरणमें यह बतलाया जा चुका है कि भौतिक परिस्थिति, आधिभौतिक शास्त्र, धर्म और तत्त्वज्ञान ये चार सुधारणाके मुख्य अंग हैं और इनका मुख्य स्वरूप क्या है तथा एक दूसरेका परस्परमें कैसा परिणाम होता है । अर्थात् पहिले प्रकारका ज्ञान तो गत प्रकरणमें हो चुका है अब यह देखना है कि उन अवयवोंको प्रति मिलखे पर उनकी क्रिया किस प्रकार होती है ?

सम्पूर्ण समाजोंमें उन्नति अथवा प्रगतिकी स्थितिकी पराकाष्ठा, सर्वोत्तम अवस्था अथवा महत्तम साम्यके आवर्तारूपसे किसी एक ध्येय (Ideal) की कल्पना की जाती है। इस संबंधमें आस्तिक नास्तिक, आधिभौतिक अति-भौतिक, ईसाई अथवा ईसाई मतवादी, हैत जद्वैत आदि सर्व विवेचकोंका एक मत है। इसी प्रकार अखिल मानव समाजका भी एक ध्येय होता है। यद्यपि यह साम्य या यह महती अवस्था जगतमें कहीं व्यवहार परिणत नहीं हुईं तो भी उसके अनुरोधसे समाजके सर्व प्रयत्न होते हैं। " अनाथकारोन्विष दीपवर्धनम् " अत्यन्त धने अंधकारमें दूरपरसे तेजस्वीम दिखाने के समान विषम परिस्थितिके प्रभुर अंधकारमें साम्य, समाजके लिये तेजोवाचक होता है। परन्तु जिस प्रकार पृथाय कलिकाको-दर्शोदिधार्यं सुगन्धित करनेके लिये पुष्पस्वरूप होवेतक ठहरना पड़ता है, ज्ञानसे हाथके निकले हुये हीरेको अपने तेजसे देखनेवालोंकी आँखोंमें चकाचौंध पैदा करनेकी शक्तिके लिये क्षान्तर चढ़ने तक ठहरना पड़ता है, समुद्रमें बाल बनेवाले मछलरको घर जानेके लिये समुद्रतट जानेतक धारितले नाव सेना पड़ती है अथवा न्यायनशीको कानून बनाते समय उस कानूनके विरुद्ध होनेवाले झोकातका और—शिक्षणसे कम होकर उस कानूनका स्वरूप लोगोंको अन्धे प्रकार न साक्ष्य हो जाय तबतक धारितसे वर्तान करना पड़ता है उसी प्रकार समाजको भी अपनी साम्य-स्थिति प्राप्त होनेके लिये भौतिक, आध्यात्मिक, आर्थिक आदि अनेक प्रकारके कष्टकाकीर्ण मार्गोंसे अपने पैर धीरे धीरे आगे बढ़ाना पड़ते हैं इस कारण साम्यस्थितिकी प्राप्ति का कष्ट निकट न होकर दूर होता है। सत्य युगमें मनुष्यकी शुद्धता, धारि, सत्य-निष्ठा, समत्वकी भावना, स्वातन्त्र्यमेव इन सबका मिश्रणही समाजकी आवर्त स्थिति थी। परंतु प्रायः दो हजार ईसवी सवत अतीत हो जानेपर भी यह स्थिति अभीतक प्राप्त नहीं हुई। और हिंदू आर्य पद्धतिके दिसावसे तो अभी कलियुगके पाँच लाख वर्ष और अतीत होना है तब कहीं यह स्थिति फिर प्राप्त होगी। इस प्रकार समाजको अपना साम्य प्राप्त करनेमें बहुत समय लगता है परंतु समाजकी आयु भी उसीके समान बहुत लंबी चौड़ी होनेके कारण साम्यकी प्राप्तिकी आशा करना हानिकारक नहीं है। व्यक्तिगत आयुष्य बहुत कम होता है। इसलिये व्यक्तियोंको अधीरता भी बहुत होती है। उसे यह उरः उरः इच्छा रहती है कि अपने अंत-

करण द्वारा कल्पित साध्य-स्थिति बहुत शीघ्र कमसे कम अपने अन्तर्गम ही अवश्य प्राप्त हो । इसी इच्छाका समाधान करनेका कार्य सुधारणा-यंत्रका धर्मवच करता है । मनुष्यकी आकांक्षा तृप्त करनेका आश्वासन धर्मही देता है और इस कारण जिस धर्मके सत्त्वज्ञानकी जिस मानसे मानवीय अंतःकरणमें तथा उसके बाद सर्व विश्वके अंतःकरणतक पहुँच हो सकती है उसी मानसे उस धर्मका स्वीकार करनेवाली व्यक्ति अधिक शीघ्र उन्नतिको प्राप्त होती है । सुसंस्कृत धर्ममें कुरावको केवल ईश्वरकी आज्ञा नहीं किंतु सम्पूर्ण उपलब्ध साधनोंका संग्रह माना है और इस कारण यह धर्म स्वतंत्र शोधक बुद्धि अथवा स्वतंत्र ईश्वरीय प्रेरणाके लिये प्रतिबंधक हो गया है । पहूदी धर्ममें उसके अनुयायियोंके उपमेयों और उपवर्गोंकी संकुचित स्थानोंको बहुत महत्त्व देनेके कारण तथा उनके देव जिहोशहाका स्वरूप अभिन्नवसत्तात्मक होनेके कारण यह धर्म स्वतंत्र विचार और सार्वत्रिक स्वतंत्रताके लिये पोषक न हो सका । इसी प्रकार किसी न किसी तरहकी विशेषता प्रत्येक धर्ममें हुमा करती है और उन्हींके अनुसार उनके अनुयायियोंकी प्रगति होती है । परंतु यह एक साधारण नियम है कि प्रत्येक धर्मकी कर्मफलकी प्राप्तिकी आशा निकटके समयमें दिसलाईकर मानवीय आतुरता तृप्त करना पड़ती है ।

समाजकी श्रेष्ठ और उच्छाभिलाषी व्यक्तियोंकी व्यवस्था इस प्रकार धर्म और सत्त्वज्ञानके द्वारा हो जाने पर भी समाजके शेष भागका सुधारणाके इस चक्र द्वारा कुछ सुधार नहीं होता । जगत ब्रह्म भय है । प्रकाश और छाया, सुख और दुःख, उच्च और नीच, स्वतंत्र और परतंत्र, अभिमान और सुशामदी, धनी और गरीब, स्वामी और सेवक, इस प्रकार अनेक ब्रह्मोंसे अगत भरा हुआ है । और जिस प्रकार ब्रह्मोंकी जोड़ीमें एक भाग बलवान् होता है उसी प्रकार दूसरा भाग भी बलवान् होता है । प्रकाश अितना अधिक होता है अंधेरा उसके असावमें उसनाही घोर होता है । जिस परिणामसे सुखका अनुभव अधिक होता है उसनाही उसके गह हो जानेपर दुःखका अनुभव शीघ्र होता है । समाजके एक भागमें जिस प्रकार संपत्तिका एकीकरण अधिक होता है उसनाही दूसरा भाग निर्धन और भिखारी होता है इत्यादि अनेक प्रकारके द्वैत अगतमें दिसलाई पड़ते हैं । समाजके इस द्वैत-रूपके कारण यदि कुछ लोगोंको धन्यवस्तुओंके संबंधमें वैराग्य हो जाता है तो चौकीके लोगोंको उच्च दृश्य वस्तुओंके प्रति प्रेम होता है । एक मनुष्य जाना

पीना शुरूकर ब्रह्मानन्दमें मग्न हो जाता है तो दूसरा ' जर्ण कृत्वा पूर्तं विवेकं ' के सिद्धान्तका पाठ्य करता है एक " कान्ताके समान मधुर बचनोंसे विरल दूरण करनेवाली कविता-धुंदरी पर आसक्त होता है " तो दूसरा कहता है कि " पिपासितैः कान्तरसो न पीयते " । एक योग साधनसे " समलोष्टा-ममकाचनः " बनता है तो दूसरा " सर्वे गुणाः कांचनमाप्रयति " कहता है । एक संन्यासी होकर " न कुत्रापिबसेद्व्यहम् " कहकर कहीं तीन दिनोंसे अधिक नहीं ठहरता तो दूसरा सुखी मनुष्यका वर्णन ' अनुष्णीचाऽप्रवासीच ' कहता है । जहाँ-इस दूसरे-दृश्य वस्तुजोपर प्रेम रखनेवाले, जगत्कारके भी घृत पीनेवाले, व्यसनरसका पान करनेवाले, द्रव्यको ही सब कुछ समझनेवाले, प्रवासको उपाधि माननेवाले-वर्गको धर्मके विचार-प्रधान और तत्त्व-ज्ञानात्मक भागकी अपेक्षा ऐहिक जीवन अधिक सुखमय करनेवाले साधनोंकी आवश्यकता ही अधिक भासित होती है । इसीलिये धर्म और तत्त्व-ज्ञानके साथ साथ आधिभौतिकशास्त्रका चक्र समाजके इस सर्व साधारण जन-तारुणी भागपर फिरने लगाता है ।

धर्म शब्द बहुत व्यापक अर्थका है । मनुष्यमात्रकी कृतिपर देखरेख रखनेवाले और उसका नियमन करनेवाले अष्ट आश्रयस्वसंबंधी विचारोंमें जनेक प्रकारकी कल्पनाओंका समावेश होता है । और इसीलिये धर्मसाधनके प्रकरणमें तथा अन्वयन किये हुये विवेचनके अनुसार इस अष्टतत्त्वके स्थापनपर निर्बंध सुझाव सुझावसे लेकर उचसे उच बुद्धिकी योजना प्रसङ्गसे होती रही है । धर्मकल्पनाका इस प्रकार परिवर्तन होनेमें आधिभौतिकशास्त्र कारणीभूत हुआ है । ज्यों ज्यों इसके कारण सृष्टिके पदार्थोंका चमत्कार-रहस्य स्पष्ट होता गया ज्यों ज्यों उन पदार्थोंका ईश्वरत्व नष्ट होता गया और अंतमें सर्वांतर्धानी एक ईश्वरकी कल्पना की गई । इस प्रकार सुधारणाके धर्मरूपी अवयवपर भौतिकशास्त्ररूपी अवयवकी मिश्रा होती है ।

इसके विरुद्ध स्थितिमें जब भौतिकशास्त्र अहमन्व्य होकर सम्पूर्ण सृष्टि अपने हाथमें लेने लगाते हैं तब उनके नियमनका काम धर्मको करना पड़ता है । समाजके जिन क्षेत्रोंका निवारण भौतिकशास्त्रोंके द्वारा—उनकी आकांक्षा होते हुये भी-नहीं होता उस समय धर्मकी आगे जाकर यह काम करना पड़ता है और इस प्रकार धर्मकी भौतिक शास्त्रोंपर प्रतिक्रिया होती है ।

अब बाकी बची वर्तमान परिस्थिति । कच्चे मालके गुणानुसार पक्के मालका स्वरूप हुआ करता है । बारीक और अच्छे कपड़े तैयार करनेमें इजिप्ट देशका ऊँचे शारवाका कपास जितना उपयोगी होगा उतना देशी कपास नहीं होता । उसी प्रकार यदि समाजकी मूलस्थिति अच्छी हुई तो सुधारणा धर्मके द्वारा वह समाज धीमेधीमे सुसंस्कृत हो सकेगी । शीत-वायु प्रधान देशोंमें जनसमाजको सतत उद्योग करना अधिक सुलभ होता है । पहाड़ी प्रदेशके लोग अधिक मजबूत होते हैं । समुद्र तट पर रहनेवाले अधिक साहसी होते हैं । चौरस प्रदेशपर रहनेवाले आलसी, उष्ण प्रदेशके निःसस्त्र, परदेश गमनको जुरा समझनेवाले लोग एकान्ती, उपजाऊ भूमिके निवासी सुखमिय और प्यारीसी भूमिके निवासी कष्टमिय होते हैं । यह स्वभावभिन्नता जल वायु, भूमिप्रदेश आदि परिस्थितिके कारण उत्पन्न होती है । धूर पर्वतोंकी समाजके वंशज प्रायः धूरही होते हैं और डरपोक समाजके डरपोक । उसी प्रकार कल्पना मिय (Idealist) लोगोंके वंशज भी, कार्य लोगोंके समान कल्पनामिय निकलते हैं और व्यवहार मिय पाश्चात्य लोगोंके वंशज उद्योगशील होते हैं । इस आज्ञावशिताका भी परिस्थितिमेंही समावेश होता है । संपत्तिमान देशोंमें व्यापारका विस्तार होता है और कलह मिथोंमें युद्ध कौशल्य वृद्धि पाता है । समाजके यह स्वभाव भी परिस्थितिमेंही सम्मिश्रित होते हैं । जिस समाजमें परस्परमें अनेक भेद होते हैं उन्हींमें भेद पद्धति और अधिक विस्तृत होती है और जिनमें भेद वृद्धि नहीं होती उगमें परस्परके भेद निकालकर अभ्यासानुसार समाजका ऐक्यतामय रूपही रचनेकी ओरही प्रवृत्ति होती है । परंपराका परिणाम भी परिस्थितिकाही एक भंग है । इसलिये परिस्थितिको सुधारणाकी प्रक्रियाके प्रथम विचारमें लेना पड़ता है ।

परिस्थितिकी ओर दुर्लक्ष करके सुधारणा की अपेक्षा बिगाड़ होनेके बहुतसे हास्यास्पद प्रयत्न अनुभवमें आते हैं । समाजका स्वभाव, उसकी स्थिति, उसकी परंपरा और रूपांतर ग्रहण-शक्तिका विचार किये बिना दूसरी परिस्थितिवाली समाजकी प्रगतिके नियम उस समाज पर लागू करके बहुतसी बार बुराबुरा उत्पन्न हो जाती है । पोर्तुगीज लोगोंके हिन्दुस्थानमें प्रवेश करकेके पश्चात् हिन्दुओंकी धर्मावस्था, बहुदेवपूजा, भेद वृद्धि आदिके स्थानपर ईसाई धर्मकी सत्य निर्णय वृद्धि, एक देव पूजा और तत्त्व ग्रहणकी

सुधारणा और प्रगति ।

योजना करनेके लिये गोवा प्रान्तके मूल निवासियोंको ईसाई धर्मकी दीक्षा दी गई । परन्तु परिणाम यह हुआ कि उधमें इन सङ्घर्षोंके उत्पन्न होनेकी अपेक्षा उन्होंने इन्हें भी अपनी परंपराके दृग्दर्शनोंमें मिला डाला । उधमें मेव धुम्कि बनी रहनेके कारण कोकणस्थ ईसाई, देसस्थ ईसाई आदि मेव पढ़ गये । ईसाई धर्मके मिराकार देवताके स्थानपर देवालयोंमें दूसरी देवमूर्तियोंके साथ साथ एक बौद्धकी मूर्ति और अधिक बढ़ गई और नवीन रीति रिवाजोंके स्थानपर मूलके आचार विचार ही कायम रहे । परिस्थितिकी ओर दुर्लक्ष कर सुधारणा की कलम मूल धारुमें लगायेका यह परिणाम है । राजकीय अत्यासनामें अपनी वैध राजव्यवस्थाको सदा कायम रखनेवाली प्रजा पर इंग्लेण्डके राजा जॉनके शासन कालमें अथवा दूसरे जेम्सके शासनमें जो अत्याचार करनेके प्रयत्न किये गये और उनमें सफलता प्राप्त नहीं हुई इसका कारण उन राजाओंके परिस्थितिकी ओर ध्यान नहीं दिना । इस किये संस्कृतिके क्षयमें परिस्थितिके पूर्ण अन्यासकी अत्यंत आवश्यकता है ।

व्यक्तिका शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, धार्मिक और तात्त्विक आदि सब दृष्टियोंसे उत्कर्ष होना, यह सुधारणाका साध है । व्यक्तिकी यह उन्नति व्यक्ति पर समाजकी नैतिक कल्पनाओंके समूहके दबाव पड़नेसे होती है, यह उस सुधारणाका मार्ग है । और समान अथवा व्यक्तिकी वर्तमान प्रतिकूल परिस्थिति उस मार्गमें विघ्न है और समाजकी नैतिक व तात्त्विक कल्पनाओंसे परिस्थितिके समीकरण करना उस विघ्नको दूर करनेका उपाय है । इस सम्बन्धमें जब तक जो कुछ इस ग्रंथमें कहा गया है उस दिशासे सुधारणाका प्रयत्न किया जायगा तो आशा है कि शीघ्र ही अथवा कालांतरमें पूर्वकी ओर अथवा पश्चिमकी ओर वह फलरूप होकर मानवीय कल्पनाका सत्ययुग कभी न कभी अवश्य देखनेको प्राप्त होगा, इसमें संदेह नहीं ।

प्रकरण चौथा सिंहावलोकन



अब तक संस्कृति शास्त्रका पूर्ण विचार किया गया, सर्व दृष्टियोंसे अवलोकन किया और सब प्रकारकी कसौटी लगाकर उसकी परीक्षा की। इस विस्तृत प्रयत्नका सार संक्षेपमें समझाने और अब तक गुंथी हुई विचारमालिकाकी सब मभियोंको सुस्तगत रीतिसे एकके बाद एक लगानेके हेतुसे इस प्रकरणमें गलत सब प्रकारणोंकी और हेतुओंकी परस्पर संगति बैठानेकी योजना करनेका प्रयत्न करेंगे।

पहिले प्रकरणमें सुधारणाकी "प्रमाण चिकित्सा" की गई है। सुधारणा शास्त्रका पूर्ण ज्ञान होनेके लिये प्रथमतः उस शास्त्रके सत्य माननेके साधन प्राप्त होना आवश्यक है। प्रमाण शब्दका अर्थ भी "प्रमाया-करण" अर्थात् किसी भी वस्तुका अथवा विषयका सत्य ज्ञानका साधन' यही होता है। यह प्रमाण क्या है? इसके संबंधमें सिद्ध सिद्ध मत हैं। इन मतोंके पुरस्कर्ताओंका कहना क्या है? इसका विचार कर अंतमें सुधारणाका सत्य प्रमाण कौनसा है? इसकी चिकित्सा पहिले परिच्छेदमें की गई है।

पहिले परिच्छेदके प्रथम प्रकरणमें इतिहासको प्रमाणभूत माननेवालोंके मतका विवेचन किया गया है। इतिहास वादियोंका कहना है कि जगतके ऐतिहासिक प्रसंगोंमें से ही सुधारणाके सत्य निकलते हैं। क्योंकि सुधारणा भी एक प्रकारसे समाजके क्रमवाः होनेवाले अवस्थांतरोंकी ही एक अवस्था है और ये अवस्थान्तर इतिहासमें दिखलाई पड़ते हैं। यह इतिहासका वर्तमानक भाग है। इस पूर्वपक्षका इस प्रकार उत्तर है कि एकके बाद एक कई हुए प्रसंगोंका नियमरूपसे बोध नहीं होता। व्यक्ति अथवा समाजको गलत प्रसंगोंके चर्चकसे आगेके उन व्यवहारोंका जिनसे उन्नति हो सके ज्ञान नहीं होता। इसलिये यह इतिहास प्रमाणभूत नहीं हो सकता। इसपर इतिहासके विवेचनात्मक भागके पुरस्कर्ता कहते हैं कि इतिहासकी पहिली उपपत्ति सर्वोप होनेपर भी जिसके द्वारा भूतकालीन प्रसंगोंपरसे सिद्धान्तरूपमें कुछ नियम निकलते जाते हैं इतिहासकी वह विवेचनात्मक पद्धति, प्रमाण माननेके योग्य है। परंतु इस आक्षेपका भी निरसन किया गया है। बने हुए प्रसंगोंका विवेचन

करनेके लिये वर्तमानकालके ज्ञानकी आवश्यकता है। गतकालकी घटनाओंका स्फूर्तरूप नष्ट हो जानेके कारण, उनके प्रमाण वर्तमानकालकी घटनाओंको ध्यानमें लिये बिना गत घटनाओंके विवेचनसे सिद्धान्त नहीं निकाले जा सकते। इस लिये वर्तमानकालके ज्ञानके अभावमें केवल इतिहास निरूप्योगी है। तत्कालीन परिस्थितिके ज्ञानसे मनुष्यको समाजकी गतिस्थितिके जो नियम माहूम होते हैं वे नियम ठीक हैं या नहीं, इसकी परीक्षाके लिये इतिहासके द्वारा केवल उदाहरण मिल सकते हैं। यही इतिहासका कार्य है।

इस प्रकार इतिहासका प्रमाणत्व अस्ति होनेपर दूसरे प्रकरणमें आधिभौतिकशास्त्रके प्रमाणत्वपर विचार किया गया है। आधि-भौतिकशास्त्रोंके उत्कर्षसे मनुष्यको प्राप्त होनेवाली सुस्थितिको ही सुधारणा समझकर, इस शास्त्रके सिद्धान्तोंको सुधारणाका प्रमाण माननेवाले पक्षका उस प्रकरणमें उपन्यास किया गया है। बेकनकी विचारसरणीका इतिहास पैकर फिर इस पक्षको उत्तर दिया गया है कि इस प्रमेयमें भी दो खूबे हैं। पहिली यह यह है कि निर्जीव सृष्टिके संबंध रखनेवाले आधि-भौतिक नियमही इस शास्त्रके द्वारा सजीव सृष्टिपर लगाये जाते हैं जो कि लग नहीं सकते सजीव सृष्टिमें सूक्ष्मकी विविधता होनेकी आवश्यकता है। सूक्ष्म वस्तुओंमें प्रथम ही मनका विचार किया जाता है। जिस मन और बुद्धिकी सहायतां मनुष्यको आधि-भौतिक ज्ञान होता है उस मन और बुद्धिका ज्ञान भौतिक शास्त्रोंके द्वारा नहीं हो सकता इसके सिवाय प्राणवाकिके उद्भवका ज्ञान से इसके लिये अगम्यही है अतएव आधि-भौतिकशास्त्र सुधारणाका प्रमाण नहीं हो सकता। इस प्रकार ठहराकर कार्यतत्त्वज्ञान पद्धतिमें यह तर्क प्राचीनकालसे जिस प्रकार माना गया है उसका उपनिषदादि धर्मोंसे विवेचन किया गया है। इसके पश्चात् स्पेन्सरके उच्छ्रितवादसे मिलनेवाले आरंभवादके अथवा थ्यूटेके पूर्वीय मर्मोंसे समानता रखनेवाले परिणामवादकी विशेष मान्यता न होकर भौतिक बातोंकी जिस तक पहुँच नहीं है उस अज्ञात्के कारणकी विवेक करनेवाले विवर्तवादको विशेष महत्त्व जिस प्रकार प्राप्त हुआ यह अतएव भौतिक-शास्त्र वादियोंका कहना ठीक नहीं है यह निश्चय किया गया है। तीसरे प्रकरणमें अधिभौतिक प्रमाणका विचार किया गया है। और उसमें मानस शास्त्रकी ही सुधारणाका प्रमाण समझनेवाले पक्षका उल्लेख

किया गया है । उस पक्षका कहना है कि मानव प्राणी अंतःकरणकी भाव-
नाले व्यावहारिक कार्य करता है इसलिये अंतःकरणके नियमोंका ज्ञान करा
देनेवाला मानस शास्त्री प्रमाणभूत है । कुछ दिनोंसे प्राणि शास्त्र (Biology)-
नामक नवीन शास्त्र परिचयमें आ रहा है । इस शास्त्रके नियमोंके अनु-
सार यह सिद्ध हुआ है कि मन और मस्तिष्कका निकट संबंध है । यद्यपि
वायुके समान चंचल होनेके कारण मनकी गतिकी विद्या ठहराना अनिश्चित
है तो भी मज्जातंतुओंमें होनेवाले अंतरोंसे मनकी स्थिति साधारणतः जानी
जा सकती है । मज्जातंतुओंके दो भाग होते हैं । एक संवेदनात्मक और
दूसरा गतिप्रधान । इन पर होनेवाले परिणामोंका संबंध मनके हृत्तन्त्रमसे
होता है । और इस कारण वर्तमान मानस शास्त्रमें शरीर और मन दोनोंका
वर्णन किया जाता है । अतएव मानस शास्त्र प्रमाणभूत है । इसका उचर
यह है कि यद्यपि इस शास्त्रके द्वारा मनकी गतिका विश्लेषण किया जा सकता
है तो भी परिस्थितिके ज्ञानके बिना मनकी भावी गतिके संबंधमें इस
शास्त्रके द्वारा कुछ नहीं कहा जा सकता । इसके सिवाय मन पर इन्द्रियोंका भी
संस्कार होता है और उन इन्द्रियोंके विषयीभूत पदार्थ भौतिक शास्त्रके
द्वारा जाने जा सकते हैं अतएव मानस शास्त्रको भौतिक शास्त्रकी सहायता
लेना भी अपरिहार्य हो जाता है ।

केवल मानसशास्त्रके प्रमाणभूत न माने जानेपर कार्डिनल न्यूमनने अपना
अंतःप्रमाण नामक एक नवीन प्रमाण निकाला है । इसका कहना है कि
संज्ञके समय ज्ञानी पुरुषोंको जो स्फूर्ति होती है वही सत्त्वासत्यके निर्गम
करनेमें पूर्ण सहायता देती है । न्यूमनके इस मतका सार जाननेके लिये
न्यूमनके समयके भौतिकशास्त्र और धर्मके अंगदोंका वर्णन किया गया है । इन
शास्त्रोंको क्रमशः बुद्धिवादी और धर्मभ्रष्टावादीका कल्पित नाम देकर न्यूम-
नने धर्मपक्ष ब्रह्म किया और यह सिद्धान्त ठहराया है कि धर्मका अनुसरण
करनेवालोंमें अंतःस्फूर्ति होती है और उनका वर्तन-जीवन व्यवहार—ही
सुधारणके नियमोंका ज्ञान माना जा सकता है । इसका यह कहना या कि
भौतिकशास्त्र शक्य व्यवसायकतम माने जा सकते हैं निश्चयात्मक नहीं ।
उसके इस कहनेको ठीक न मानकर यह सिद्ध किया गया कि सुधारणाकी ज्ञान
शक्तिमें भौतिकशास्त्रोंकी सहायता आवश्यक है और इस प्रकार उसकी पहिची
भूलका निरसन किया गया है । इस विद्वान्की दूसरी भूल यह है कि यह

करना हास्यास्पद है। इस लिये सुधारणाका " निवामक तत्त्व " परिस्थिति ही है, यह सिद्ध किया गया है।

परिस्थितिके निवामक तत्त्व होनेके कारण विरोधी परिस्थितिको बदलने अथवा सुधारणाके मार्गसे पत्थर हटानेके उपायका विचार चौथे प्रकरणमें किया गया है। परिस्थितिको बदलनेका उपाय ' समीकरण ' है यह बतलाते हुए सिद्ध किया गया है कि जगत्में सर्वत्र समीकरणका तावही अनुभवमें आता है। हीनपक्षी पक्षको किसी प्रकारकी सहायता देकर बलवान्पक्षकी समानतामें लादेना समीकरण कहलाता है। दुर्बल मनुष्य राजाके अधिकार और कानूनोंकी सहायतासे सबलके समान हो जाता है। ममाजका निम्न श्रेणीका भाग बन्दे दिये हुए विशेष सुनीसोके कारण उच्च भागके समान होता है। भौतिक परिस्थितिकी दृष्टिसे दुर्बल प्राणी भौतिकशास्त्रोंके उपकरणोंके द्वारा अपनी सामर्थ्य बढ़ाता है और प्राज्ञ स्थितिका वैगुण्य धर्ममें आती हुई पुण्य करवानेके द्वारा मनुष्य निकास ढालता है। इन प्रकार जगत्में परिस्थितिकी समीकरण बाध रहता है। अतएव वर्तमान परिस्थितिका उच्च नैतिक कल्पनाओंसे समीकरण करनेसे परिस्थिति अनुकूल हो जाती है, जिसके कारण प्रगति व सुधारणा हो सकती है।

इस प्रकार साध्य भीमासा कर लेने पर तीसरे परिच्छेदमें उसके नियमोंके अनुसार समाजके मित्र निम्न व्यवहारोंका विवेचन किया गया है। परिच्छेदके पहिले प्रकरणमें समाज-रचनाका विचार किया है। अठारहवीं सताब्दिक समानतावादका शास्त्रीय रीतिसे किसीने अभ्यास नहीं किया था। इसका धारक ऑगस्ट कॉमने किया। और अपने मत 'Positive philosophy' नामक ग्रंथ द्वारा प्रकाशित किये। इस विद्वान्के ' अश्लिष मानव समाजको एक स्रेणिक और चैतन्ययुक्त सेवनीय बस्तु मानकर उसके धारीकी भीमासा की। और यह ठहराया कि अश्लिष मानवकी चैतन्यके धारीका पुरोहित वर्ग अथवा तत्त्वज्ञानी वर्ग आद्य भाग है। व्यापारी वर्ग दूसरा भाग है और मजदूर वर्ग तीसरा भाग है। यह भाग क्रमशः एक दूसरेसे नीची श्रेणीके हैं परन्तु इन सब भागोंके मिलनेसे ही जगत्ताकनी धारीकी रचना होती है। इस मत पर दो आक्षेप किये जाते हैं। पहिला यह कि तत्त्वतः इस विचार सरणीमें सम्पूर्ण मनुष्य प्राणी समान नहीं माने जाते। सुद्ध मेद् और सामान्य अर्थोंको छोड़ देनेपर सम्पूर्ण मानव समाज तत्त्वतः समान है और

इसलिये उसमें उपाधिकृत भेद करना अस्वाभाविक और अन्यायपूर्ण है । दूसरा भाक्षेप यह है कि यदि मान लिया जाय इस प्रकारकी समाहरचना करलीगई तो यह निश्चय नहीं कहा जा सकता कि मानव समाज इस प्रकारकी रचना सदा मान्य करेगा क्योंकि मनुष्य प्राणी स्वभावसे ही परच्छ-आलुवर्ती नहीं है । इस भाक्षेपपर “ काठेढवि गो विनो ” वे प्रत्याक्षेप किया है कि “ जगत्में सर्वत्र विपमता ही विखलाई पड़ती है । विपमता ही जगत्की कुंजी है । एक दिशासे विपमता निकालनेका प्रयत्न करने पर वह दूसरी दिशासे उत्पन्न होती है । मनुष्य प्राणियोंके त्यागवर्णी, पीतवर्णी और श्रेयवर्णी इस प्रकार तीन भेद हैं । इसी प्रकार विशिष्ट परिस्थिति और विशिष्ट आनुवंशिक संस्कारोंके योगसे समाजकी संस्कृतिका ह्रुकाव एक विशिष्ट प्रकारका होता है और उसीमें उस समाजकी विशेषता होती है । यह विशेषता नष्ट करना वाच्य भी नहीं है और इष्ट भी नहीं है । यह प्रयत्न करनेसे समाजही कालांतरमें नष्ट हो जाता है । भिन्न भिन्न समाजोंके समान अत्येक समाजोंमें भिन्न भिन्न उपभेद भी रहेंगे ही फिर समाजत्वकी पेंट करनेसे कामही क्या है ?

इस प्रकार पाश्चात्य विचार परंपरा विखलानेके बाद हिन्दुस्तानके आधुनिक प्रचल समाहरचनाका इतिहास दिया गया है । और पाश्चात्य भाषाके विद्वानोंके प्रयोग द्वारा यह सिद्ध किया है कि इस रीतिकी अद् वेदोंके समयमें भी थी । फिर यह बतलाया गया है कि उपनिषद् कालमें यह रीति गुणधर्मपर किस प्रकार अवलंबित थी । इस उपनिषद् कालमें भारतनिवासी अपने गुणधर्म-नुसार वर्ण परिवर्तन कर सकते थे । उपनिषद्कालके बाद पुराणकालमें यह व्यवस्था रद्द हुई और यह आनुवंशिक मानी जाने लगी । इस प्रकार वर्ण व्यवस्थाका धर्जन करने पर पाश्चात्य विद्वानोंके इसकी उत्पत्ति विषयमें जो मत हैं उनका दिग्दर्शन कराया गया है । इस पद्धतिको ब्राह्मणोंका शुद्ध मान-नेकी विचार कुछ कल्पना छोड़ देनेपर इस पद्धतिके सर्वधर्म श्रेयकीरहने यह मत दिया है कि “ यह व्यवस्था केवल वेदोंके कारण ही अस्तित्वमें आई है ” । परंतु यदि ऐसा होता तो अत्येक वर्णधारियोंको अपने अपने वेदोंके अनुसार वर्णके होना चाहिये था, पर व्यवहारमें ऐसा नहीं देखा जाता । एक वेदको भिन्न भिन्न वर्णके लोग करते हैं । इवेदसंगका कहना है कि वेदोंके भेद, फिर उनके कारण प्राप्त हुई अस्मत्सिद्धता और फिर उल्ले

स्वातंत्र्यके कारण प्राप्त होनेवाली धृष्टता जादिले यह पद्धति भारतवर्षमें स्थायी बन गई है । इस उपपत्ति पर सेनार्ट नामक क्रेच पद्धतिने यह आक्षेप किया है कि यह उपपत्ति एक न हो कर अनेक उपपत्तियोंका मिश्रण है । इस विद्वान्के मतसे सुधारणा की और जानेवाली प्रत्येक समाजमें जातिभेद होना समाजकी प्रगतिका स्वाभाविक परिणाम है ' रिस्ले 'ने इस कथन पर शंका की है कि यदि यह स्वाभाविक परिणाम है तो पाश्चात्य देशोंमें जातिभेद क्यों नहीं दिखलाई पड़ता । जंतमें रिस्लेने अपना यह मत दिया है कि ' सेनार्ट 'के कथे अनुसार समाजको प्राप्त होनेवाले इस विभेदात्मक स्वरूपका विष्णुस्तानमें स्थायी हो जानेका कारण भारतीय सत्त्वज्ञानात्मक कल्पना और देव परिस्थिति है ।

पहिले प्रकरणमें इस प्रकार समाज रचना पर विचार करनेके बाद दूसरे प्रकरणमें धर्म विचारका आरंभ किया गया है और कौटके इस मतका आविष्कार किया गया है कि जगत्में सर्व-श्रेष्ठ-वस्तु अश्लिल मानवजाति है अतएव इसकी सेवा-प्रणसेवा-ही सर्व-श्रेष्ठ-धर्म है । कौटके समयमें धर्म-श्रेष्ठके एक एक प्रवेश पर क्रमशः नैतिकशास्त्रका आविष्कार जननेके कारण कौटके मन पर भी उसका परिणाम दृढ़ हुआ अतः उन शास्त्रों-नैतिकशास्त्रों-द्वारा अश्लेष ईश्वरकी अमान्य उद्हराकर कौटके उसके स्थान पर अनताकी स्थापनाकी । इसके मतसे धर्मकल्पनाकी उत्कृष्टिकी चार अवस्थाएं होती हैं । पहिली अवस्थामें मनुष्य, सृष्टिके कुछ स्थूल पदार्थोंकी ही स्थूल रूपसे ईश्वर मानता है । यह चिन्ह पूजाकी अवस्था कही जा सकती है । दूसरी अवस्थामें अनेक देव-पूजा आरंभ होती है जिसमें मनुष्य स्थूल पदार्थोंको देव मानना छोड़कर सृष्टिके प्रत्येक पदार्थके अद्वैत भिन्न भिन्न देव मानने लगता है । तीसरी अवस्थामें सम्पूर्ण वस्तुओंमें केवल मात्र एकही ईश्वर है, इस प्रकार एक-देव-पूजात्मक कल्पना दृढ़ होती है और चौथीमें अश्लिलसृष्टि मानवीय कर्तृत्वके आधीन होनेके कारण मानवसमाज अथवा जनताही अंतिम श्रेष्ठ कल्पना मानी जाती है । कौटके इस विचारमें दो दोष हैं । पहिला दोष यह है कि कौट नैतिकशास्त्रसे अगम्य बातोंको नहीं मानता । नवका अस्तित्व, सद्गुणोंकी कल्पना, परिमाण शास्त्रिकी कल्पना स्थूल पदार्थ न होते भी नैतिकशास्त्रवादी मानते ही हैं फिर केवल ईश्वरकी कल्पनाको ही मान्य न करनेमें कोई कारण प्रतीत नहीं होता । दूसरा दोष यह है कि कौट यह मानता है

कि मनुष्यका यह स्वभाव है कि जिन बातोंके रहस्यका उद्घाटन वह नहीं कर सकता उसका कर्तृत्व वह अपनेही सरीखी विशेष व्यक्ति पर लाद देता है । इस कारण पहिले तो देवत्वकी कल्पना उद्भव होती है और फिर तब पदार्थका रहस्य प्रकट हो जाता है तब वह कार्णतरमें नष्ट हो जाती है । परमेश्वरकी कल्पना भी इसी प्रकार की है और वह कार्णतरमें नष्ट होनाही चाहिये । परंतु कैंटके नियमोंके द्वारा ही ईश्वरकी सिद्धि होती है । क्योंकि प्राणोत्पत्तिके समान सृष्टि चमत्कारोंके रहस्यका न तो स्फोट हुआही है और न भौतिकशास्त्रोंके द्वारा हो सकता ही है अतः ऐसे कार्योंमें परमेश्वरके समान श्रेष्ठ कर्तृत्व शक्तिकी कल्पना करना अपरिहार्य हो जाता है ।

इस प्रकार कैंटके दोय दिक्खानैके पश्चात् ईश्वर सिद्धिके पक्षमें कुछ प्रमाण दिये हैं । ये प्रमाण तीन प्रकारके हैं और परस्पर पूरक हैं । पहिला प्रमाण ' कारणवाद ' है इसके द्वारा सिद्ध किया गया है कि जगत्का कोई न कोई कारण होना ही चाहिये । दूसरा प्रमाण कर्तृवाद है । इसके द्वारा यह सिद्ध किया है कि वह कारण जड़ नहीं हो सकता । किंतु कर्तृत्वशक्ति युक्त ही होना चाहिये । फिर तीसरे स्वरूपवादके द्वारा इस कर्तृत्व शक्तिके स्वरूपकी चिकित्सा की गई है और इस प्रकार इन तीनों प्रमाणोंसे ईश्वरका अस्तित्व सिद्ध किया गया है ।

परमेश्वरका अस्तित्व सिद्ध करनेके पश्चात् तीसरे प्रकरणमें धर्मसाधनका विचार किया गया है । धार्मिक कल्पनाकी जड़में रहनेवाले आदित्यत्वकी कल्पनासे संबंध रखने वाली उपपत्तियोंकी चिकित्सा की गई है । एक पक्ष कहता है कि धर्म, अज्ञाका विषय है । अज्ञाके बिना धर्मकल्पना साध्य नहीं । इस मतकी पुष्टिमें मेक्समूलरके वचन उद्धृत किये गये हैं । दूसरी उपपत्ति यह है कि धर्म बुद्धि विषयक है । बुद्धिसे अग्राह्य कल्पनाओंको जब हम व्यवहारमें असंस्कृत छेड़ते हैं तो धर्मके संबंधमें यह तत्त्व असत्य कैसे माना जा सकता है ? इस उपपत्तिके संबंधमें लाहवनिद्ब्लूका कथन उद्धृत किया गया है । तीसरी उपपत्ति यह है कि धर्म, मनोविकार अथवा भावनाका विषय है । इस मतका पुरस्कर्ता टिंडाल है । इस प्रकार निम्न निम्न विचारोंका विगृह्येण कराके यह निष्कर्ष निकाला है कि धर्मको बुद्धि, अज्ञा और भावना इन तीनोंका योग्य परिमाणमें जाधार होता है । फिर पूर्वोक्तिहासका परीक्षण कर प्रत्येक कालकी धर्म-कल्पना उस कालकी परिस्थि-

तिका निर्दोष होती है यह सिद्ध किया है। परिस्थिति पर धर्म-कल्पनाके अर्थात् अन्तर्गत रहनेकी धर्मों जो उत्पन्न होता है उसे प्रतिबिम्ब कहते हैं। प्रत्येक समाजकी सामाजिक, राजनैतिक और नैतिक कल्पनाएँ उस समाजके धर्मके स्वरूपमें प्रतिबिम्बित होती हैं। इसेही प्रतिबिम्ब तत्त्व कहते हैं। देवाप्रधान देवता, स्वल्पप्रधान देवता, जातिप्रधानदेवता, पूर्वजोंकी निर्दोष देवता, आदि अनेक प्रकारकी देवताओंकी कल्पना इस तत्त्वका उदाहरण है। धर्मकी अन्तर्गत रहा हुआ दूसरा तत्त्व समीकरण-तत्त्व है। इस तत्त्वका स्पष्टीकरण पहिले कर भाये हैं।

धर्मका अंत तत्त्वज्ञानमें होता है। स्पष्टका त्यागकर सूक्ष्मकी ओर करनेवाली बुद्धिको धर्मसे संतोष न होनेके कारण यह बुद्धि तत्त्वज्ञानमें प्रवेश करती है। इस संबंधमें यह भीमाता की गर्ह है कि सृष्टिके आविर्भावका और मनुष्यमें रहनेवाले अज्ञान-तत्त्वका परस्परमें क्या संबंध है? फिर यह वर्णन किया गया है कि मनुष्यकी स्वातंत्र्यप्रिय बुद्धि अपने पूर्ण समाधानार्थ, छोड़कर, समीपता और सकृपताकी सीढ़ियों पर क्रमशः चढ़कर अंतमें दोनोंका पूर्ण तादात्म्य सिद्ध करनेवाली साधुत्वताकी कल्पनामें किस प्रकार विरामप्राप्त करती है।

इसप्रकार धर्मतत्त्वकी चिकित्सा करनेके बाद समाजों पर धर्मका परिणाम क्या होता है? इसका विचार किया गया है। मानसिक दृष्टिसे देखते धर्मके द्वारा चित्तको शांति प्राप्त होती है। यह धर्मका पहिला परिणाम है। दूसरा परिणाम यह होता है कि मनुष्यके अंतःकरणमें जो दया, परोपकार, प्रेम आदि भावनाएँ होती हैं वेनी धर्मकी कल्पनासे सुप्त होजाती हैं। गीतामें स्वकी-मेमको "धर्माधिकारो कामोस्ति भूतेषु भरतर्षभ," कहकर धर्मका आचार दिया है। धर्मका तीसरा परिणाम यह है कि उसके कारण जगत्के अनेक प्रकारके व्यापारोंकी चंचलतामें भी एक प्रकारकी स्थिरता दिखालाई पड़ती है। चौथा परिणाम यह है कि धर्मके कारण मनुष्यको उद्योग, प्रवृत्ति और कर्म मार्गमें मोत्साहन मिलता है। क्योंकि 'इयं कर्मैव तस्मात् त्वं' यह धर्मका उपदेश है।

इस प्रकार धर्मके नैतिक और मानसिक परिणाम हैं। व्यवहारमें धर्मका बहुत कुछ उपयोग नहीं होता सोभी व्यवहार करनेवाले मनका नियमन करनेके

छिये इसकी आवश्यकता अवश्य है, यह इस प्रकरणके अंतमें निश्चित किया गया है ।

इस परिच्छेदके चौथे प्रकरणमें राज-कारणका विचार किया गया है । अरिष्टदलका कथन है कि मनुष्यप्राणी राजकारणप्रिय प्राणी है ऐसे मनुष्योंका कुछ विशिष्ट तत्त्वोंपर एकीकृत हुना समावही राष्ट्र कहलाता हैं । राष्ट्र बननेमें छद्मगुणोंकी अत्यंत आवश्यकता होती है । पहिला गुण क्रोड-संख्याका विशिष्ट प्रमाणमें होना है । दूसरा गुण विशिष्ट-भूमिप्रदेश है । इस प्रकारके भूमिप्रदेशके रक्षणार्थ उत्पन्न होनेवाले अभिमानके कारण राष्ट्रीयभावनाका अत्यंत परिपोषण होता है । तीसरा गुण सामान्य-हितमूलक पेशवाका होना है । अत्येकका व्यक्तिगत स्वार्थ तो होताही है परंतु उसके सिवाय सामान्य हितके एकीकरणकी राष्ट्रमें आवश्यकता होती है । चौथा गुण शासित और शास्ताका भेद होना है । शास्ताओंके भेदसे ही राज्य-शासन-पद्धतिमें भेद होता है । ये पद्धतियों राजसत्ता, अभिजनसत्ता, अल्पसंख्याक-राजपद्धति और लोकसत्ताक पद्धतियोंके नामसे उल्लिखित होती हैं । राष्ट्रका पाँचवाँ गुण राष्ट्रकी रचनाका सदैव अथवा सेन्ध्रिय प्राणियोंके समान होना है । धारीके अवयव कार्यभेदसे परस्परमें भिन्न होते हुए भी अवयवभावसे धारी ही हैं वही प्रकार राष्ट्रके भिन्न भिन्न विभाग राष्ट्रपुरुषके अवयव ही हैं । छठवाँ गुण राष्ट्रमें एक विशिष्ट कल्पनात्मक प्राणका होना है । यह प्राण भिन्न भिन्न देशोंमें भिन्न भिन्न होता है । इस प्रकार वर्णन किया गया है ।

इन छद्म गुणोंसे युक्त समाज ही राष्ट्र कहलाता है । इस प्रकार राष्ट्रकी भीर्मासा करनेके बाद हिंदुस्तानके राजकीय अनुशासनकी पद्धतिके इतिहासका अवलोकन किया गया है । वैदिक कालमें केवल बल सामर्थ्य पर राजपद माना जाता था । वैदिक कालके पश्चात् स्मृतिकालमें राज्योंमें सुव्यवस्था हो जाने पर अनुशासनका प्रभु उपस्थित हुना । और जिस राजाके पदका प्रभा रक्षण करना ही श्रेष्ठ-धर्म प्राचीन कालसे माना जाता था उसके अधिकार राजसभा और मंत्रिमंडलके द्वारा नियंत्रित किये गये । इस भाँति इतिहासका अर्धाधीनकाल पर्यंत परीक्षण करके यह निष्कर्ष निकाला है कि वर्तमान कालका अंधे भ्रमराज्यका होना ही है । इस इतिहासके अवलोकनसे यह भी अनुमान निकाला गया है कि हिंदुस्तानमें ऐसी कोई राज्यपद्धति प्रचलित

होनेका उदाहरण इतिहासमें नहीं है जिसमें लोकमत्ताको स्थान मिला हो अथवा राजकीय अनुशासनके महत्त्वके प्रसन्न लोकमत पर अवलंबित रहे हो ।

पश्चात् पाश्चात्य देशके राजकारणकी कल्पनाके इतिहासका अबलोकन किया गया है । जिसमें राजाको ईश्वरका अंश माननेकी 'Divine Rights of Kings' उपपत्तिले प्रारंभ कर राजाकी सत्ताका उगमस्थान प्रजा ही है परंतु प्रजामें यह अधिकार राजाको सदाके लिये दे बाला है, इस उपपत्ति तकका वर्णन किया गया है । फिर इस सत्यके बाद उत्पन्न होनेवाली इस कल्पनाका विवेचन किया गया है कि अब कि राजा, प्रजाका प्रतिनिधि है तो वह अपनी सत्ताके संबंधमें प्रजाको जबाबदार भी है । अंतमें पाश्चात्य देशकी इस कल्पनाका वर्णन कर कि राजा और प्रजामें जो संबंध है वह करारके तौर पर है और इस कारण अधिकारका अतिक्रमण होनेसे प्रजा अपने दिये हुए अधिकार राजासे पीछे ले सकती है, अब तक होनेवाली राजकीय कल्पनाकी उल्लान्तिका विवेचन किया गया है ।

इसके बाद राजकीय अनुशासनकी दृष्टिसे अधिकाररूप पक्षको दो भागोंमें विभाजित किया है । पहिला अभिजनसत्ताक विभाग, दूसरा लोकसत्ताक विभाग । और फिर इन दोनों विभागोंके गुणावगुणका विवेचन किया है । इसमें प्रथम अभिजन सत्ता पर विचार किया गया है । और यह बतकाया है कि इस सत्ताका जाघार विपमता होनेके कारण, समताके तत्त्वपर प्रतिष्ठित लोकसत्तासे इसमें तत्त्वतः भेद है ।

इसके पश्चात् स्थायत्वपणकी दृष्टिसे अभिजन सत्ता पर कौन कौनसे आक्षेप होते हैं इसका विचार किया गया है । ऊपर बतकाये अनुसार पहिला आक्षेप इस पद्धति पर यह है कि यह सदा विपमताके तत्त्वको मान देती है । जिससे समाजका एक भाग हीनस्थितिमें रहता है । और दूसरा भाग प्रभावशाली बना रहता है । हीन स्थितिमें रहनेवाले पहिले भागमें स्वतःके सबधमें अविश्वास, सुहाम्ब, अनीति आदि दुर्गुणोंकी वृद्धि हो जाती है और दूसरे प्रभावशाली भागमें उद्वेगता, अनिमान, दूसरोंके अधिकारोंका अतिक्रमण करनेकी दुर्घासना आदि दुर्गुण बढ़ जाते हैं । और इस कारणसे समाज उच्चतिका ओर न जाकर जवनतिका ओर जाने लगता है । दूसरा आक्षेप यह है इस राज्यपद्धतिके कारण समाजमें अज्ञानकी बढ़चारी होती है क्योंकि साधारण जनताको अज्ञानमें ही रक्षन

यह पद्धति उत्तम समझती है। ताकि उसे अपने अधिकारोंका ज्ञान न होने पावे। और अज्ञान सदा अवनतिकका कारण होनेसे इस प्रकारकी राज-सत्ताके शासनमें समाजकी अवनति ही होती है। तीसरा आक्षेप यह है कि समाजका श्रेष्ठ भाग आरक्ष्यमें रहता है। दूसरोंके अगले उद्घोषण होनेकी उस भागको आवृत्त होनेसे समाजमें उल्साहसून्यता, शीघ्रहानि, बुद्धिर्मांध, कर्तव्यविस्मृति, दुर्गुणप्रवृत्ति आदि अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं। जिससे समाजमें झुन छग जाता है अतः उस समाजके नाश होनेका अवसर प्राप्त होता है। इस प्रकार अभिजनसत्ताक पद्धतिके दोष बतला कर लोक-सत्ताक पद्धतिके गुणोंका वर्णन किया है और दिखलाया है कि इस पद्धतिसे समाजमें समता, पारस्परिक प्रेम, स्वतःके अधिकारोंका ज्ञान, दूसरोंका अधिकार-हरण न करनेकी सावधानी, ज्ञानकी वृद्धि, कर्तव्यनिष्ठा आदि गुणोंकी वृद्धि होती है।

इसके बाद लोकसत्ता पर होनेवाके आक्षेपोंकी परीक्षा की गई है। पहिला आक्षेप यह है कि इस पद्धतिके कारण एक व्यक्ति अथवा अल्पसंख्याक व्यक्ति-समूहका समाजकी साधारण जनता पर दबाव रहता है। जिन समाजोंमें भेदोपभेद अधिक हैं उनकी ध्यक्ति पर अपने अपने धर्मकी उच्च व्यक्तियोंका ही दबाव रहता है परंतु भेदोपभेद नष्ट हो जाने पर उन श्रेष्ठ व्यक्तियोंका प्रभाव भी नष्ट हो जाता है और सम्पूर्ण समाजका प्रभाव व्यक्ति पर पड़ता है। परंतु यह धर्का केवल शब्दच्छल है। क्योंकि लोकसत्तामें प्रत्येकको समाजमत बनानेके काममें कार्यवाही हो सकनेकी छूट होनेके कारण अपने ही द्वारा बनाये हुए लोकमतका दबाव अपने ऊपर पड़ता है, यह कहना अपने कंधों पर आप बैठनेके समान हास्यास्पद है। लोकसत्ता पर दूसरा आक्षेप यह है कि इस प्रकारके शासनमें सम्पूर्ण व्यक्ति समान मानी जानेके कारण आधार, विचार व रूपना आदिमें भी असमानता हो जाती है और ऐसी अवस्थामें यदि कोई व्यक्ति बुद्धि अथवा पराक्रमसे श्रेष्ठ हुई तो उसे रोकने-वाली कोई शक्ति न होनेसे उसके अनियन्त्रित हो जानेकी संभावना है। इसका उत्तर यह है कि जिस समय समाज अतिरिक्त होता है उस समय अधिकारारूढ बुद्धिमान् पुरुषोंकी बन जाती है। परंतु समाजके सुशिक्षित और मित्राधिकार-रक्षणमें उत्तर होने पर व्यक्तिवित्तोपके श्रेष्ठता पर पहुँच जानेपर भी यह अपने अधिकारोंका दुरुपयोग नहीं कर सकती। क्योंकि

यह जानती है कि जिसने मुझे श्रेष्ठ पद पर विठलाया है वह मुझे उत्तार भी सकता है। इसके बादका आक्षेप ऊपरके सब आक्षेपोंसे बिकर है। यह आक्षेप इस प्रकार है कि सब प्रकारसे समानता होने पर समाजको स्थिति देनेका काम कौन करेगा ? और यह न होनेसे समाज कभी आगे न बढ़ सकेगी। जिस देशमें बड़े पुरुष नहीं हैं उसका इतिहास भी महत्त्वपूर्ण नहीं है। क्योंकि किसी भी राष्ट्रका इतिहास, उस राष्ट्रके महान् पुरुषोंकी चरित्रमाच्छिन्न है। इस आक्षेपका निरसन इस प्रकार है कि लोकसत्तामें कोई महान् पुरुष उदयमें नहीं आवेगा, यह कल्पना ही झँड़ी है। गत आक्षेपके उत्तरमें यह कहा गया है कि पराक्रमसे उदयको प्राप्त हुआ पुरुष लोकसत्ताके समक्षमें अध्याचार न कर सकेगा, इस कथनका यह प्रयोजन नहीं है कि कोई महान् व्यक्ति लोकसत्ताक-शासनमें उत्पन्न ही नहीं होगी। लोकसत्ता पर चौथा आक्षेप यह है कि इस शासनमें बदमासोंको (Demagogue) बहुत जगह मिलता है। स्वार्थी लोग अपने स्वार्थ-पर सत्कर्मोंका पर्दा धाक कर सामान्य लोगोंको फँसा सकते और अपना स्वार्थ सिद्ध कर सकते हैं। परंतु आक्षेपक लोग यह भूल जाते हैं कि जिस राज्यपद्धतिका यह तत्व है कि लोगोंमें मत देनेकी बुद्धि हो उसमें मतदार सब बढमास लोगोंकी बातोंमें कभी नहीं फँस सकेगा।

इस प्रकार राजकीय दृष्टिसे होनेवाले लोकसत्ता परके आक्षेपोंका निरसन करनेके बाद इस दृष्टियोंसे होनेवाले आक्षेपोंका विग्वहान किया है। अर्थशास्त्रकी दृष्टिसे इस पद्धति पर यह आक्षेप है कि इस पद्धतिके शासनमें रूढ़ीवाले लोग, शास्त्रीय शोधकी प्रगतिके कारण अधिक संपत्तिवान् अल्पवय बलवान् वन जायेंगे और गरीब लोग अधिक गरीब होंगे। परंतु इसका उत्तर यह है कि लोकसत्तामें साधारण जनताके हितमें कानून होनेके कारण संपत्तिकी वैदनी समानताके तत्वों पर करनेकी सामर्थ्य की जनतामें होती है अतएव इस समयको स्थान नहीं मिल सकता।

नैतिक दृष्टिसे भी लोकसत्ता पर एक आक्षेप यह किया जाता है कि व्यक्तिकी नीतिमत्ता और शिक्षाचार ठहरानेका काम समाजके हितमें होनेसे व्यक्ति-स्वार्थव्य यह हो जाता है। परंतु यह आक्षेप भी ठीक नहीं है। क्योंकि लोकसत्तामें समाजकी नीतिमत्ता, सद्गुण और सुशिक्षण पर अवलंबित होनेसे व्यक्ति पर अनौप्य दबाव पड़नेकी आशंका ही नहीं सकती। और

समाजका शोष्य-उचित-दवाव रहनाही चाहिये, यह पहिले उद्घाराया जा चुका है। इसके बाद एक सामाजिक-भाक्षेप यह है कि अभिजनसत्तामें ऐश्वर्य और सत्ताके प्रदर्शन करनेके जो विविध-प्रसंग प्राप्त होते हैं वे इस पद्धतिके कारण नष्ट हो जाते हैं जिससे समाजमें चहुँक पहँक न रह कर उदासी और एकभिषता प्राप्त होती है। इसका उत्तर यह है कि बुद्धिविषयक प्रसंग निर्माण कर उनमें आनन्द प्राप्त करना ही सुशिक्षित समाजको प्रियकर होता है। और यह मान भी लिया जाय कि कदाचित् आनन्द और विविध-ताके प्रसंग लोकसत्तामें कम आवेंगे तो भी अभिजनसत्तामें जिन प्रसंगोंमें जोग शुक्लमके समान समझे जाते हैं उन प्रसंगोंसे मखा उन्हें आनन्द कैसे हो सकता है? पीठ पर शक्करकी बोरी खादे हुए गवैको शक्करका मखा ही क्या मिष्ठ सन्ता है ?।

इस प्रकारके स्फुट भाक्षेपोंका संपूर्ण निरसन कर यह सिद्ध किया है कि लोकसत्ता ही राजकीय दृष्टिसे नियमबद्ध व्यक्तिस्वातंत्र्यका अंतिम स्थान होनेके कारण सुधारणाकी सर्वोत्तम अवस्था है।

इस प्रकार तृतीय परिच्छेदमें सुधारणाकी कसौटी पर कस कर मानवीय व्यवसायोंके सर्वे अंगोंकी परीक्षा की गई है। फिर चतुर्थ परिच्छेदमें किये हुए विवेचनका उपसंहार किया है। इस परिच्छेदके पहिले प्रकरणमें सुधारणाकी उपपत्तिकी मित्र मित्र विवेचकोवे जो विक्रिस्ता की है उसका पूर्ववृत्त दिया गया है। और उसमें प्रथम ही केंद्रकी उपपत्ति पर विचार किया है। इस उपपत्तिमें यद्यपि भौतिक साक्ष्यका पूर्ण और मानसशास्त्रका बहुत कुछ अभ्यास किया गया है तो भी भौतिक परिस्थिति और तत्त्वज्ञानकी अपेक्षा करनेके कारण यह उपपत्ति अपूर्ण ही रह गई है। इस विषयका बहुत कुछ विवेचन गत प्रकरणोंमें किया जा चुका है। इसके बाद गिजोकी उपपत्तिका विचार किया है। इस विद्वानके विवेचनमें ऐतिहासिक प्रसंगोंकी छावनीन मित्र मित्र शास्त्रोंके नियमोंकी पद्धतिले की गई है। परंतु अपने विवेचनसे निकलनेवाले सिद्धान्तोंका और सर्वोंका स्वतंत्र विचार इसने नहीं किया। अतएव शिक्षणके रूपसे इस विद्वान्के विवेचनका मूल्य बहुत कुछ कम हो गया है यह दिसलाया है। तीसरा विवेचक चकक है। इसने गिजोकी अपेक्षा अधिक शास्त्रशुद्ध रीतिसे विचार किया है। इसने यह निश्चित किया है कि सुधारणाका विद्यालय-तत्त्व आधिभौतिक-

ज्ञात है। परन्तु भौतिक-शास्त्रकी दृढता पीछे सिद्ध की जा चुकी है उसके अनुसार यह ज्ञात सुधारणाके मंदिरकी नींव कमी नहीं माना सकता। कार्लो-इरने इसके सिद्ध केवल आत्मिक उन्नतिको ही सुधारणाका नियामक-तत्त्व माना है और आत्मिक उन्नतिके आवर्धन पुरुषोके चरित्रमें संशुद्धिके तत्त्व मिलनेका सिद्धान्त निकाला है। परंतु हेतु और युक्तियोंसे यह सिद्ध किया गया है कि वर्तमान आधिभौतिक परिस्थितिही सुधारणाका नियामक-तत्त्व है। परंतु कार्लोइरने इस तत्त्वपर ध्यान सक्त नहीं किया है। इस कारणसे उसकी उपपत्तिको एक प्रकारसे दृश्य-कायका रूप प्राप्त हुआ है। जिस प्रकार नाटक देखनेसे किसीको उपदेश नहीं मिलता या उपदेश मिलनेपर भी तदनुसार व्यवहार करनेकी प्रेरणा नहीं होती वही प्रकार प्रतिशुद्ध परिस्थितिमें कार्लोइरकी विचुत्तिका लीकासे भी कुछ उपदेश प्राप्त नहीं होता अथवा स्फूर्ति नहीं आती। इसके बादकी बहुत कुछ व्यापक योजना हर्बर्ट-स्पेन्सरकी है। इस विद्वानने सरलको कठिन, विसंगतको सुसंगत और भ्रमको अनेक क्रमवाले उत्क्रान्तिवादसे ही सुधारणाका गोरत घंटा सुलझानेका प्रयत्न किया है। परंतु इसकी उपपत्तिमें दो दोष हैं। एक दोष तो यह है कि इसने दृश्यवाचि-प्रेरित केवल मानवसमाजका विचार न कर सम्पूर्ण स्थूल सृष्टिका विचार किया है जिससे इसकी उपपत्ति मानवसुधारणाकी दृष्टिसे विना प्रयोजनही व्यापक बन गई है। दूसरा दोष यह है कि इसकी उपपत्तिमें सूक्ष्म-सृष्टिको विस्तृत अवकाश नहीं है। कुछ थोड़ेसे फरकसे ऐसा ही प्रयत्न अर्मन विद्वाद् हेगेकने किया है। अंतर यही है कि स्पेन्सरने जिस उत्क्रान्तिवादके द्वारा स्थूल सृष्टिका विचार किया था वही उत्क्रान्तिवादके द्वारा इसने केवल विचारसृष्टिका ही विचार किया। इससे एक तो इसकी उपपत्ति अधिक व्यापक हो गई, दूसरे उससे केवल विचारसृष्टिका ही संभव रहनेके कारण यह पूर्ण न हो सकी। इस प्रकार सम्पूर्ण प्रसिद्ध ग्रंथकारोंकी उपपत्तियों सद्योप होनेके कारण शास्त्रज्ञ और सर्वांगीण उपपत्तिके लिये अती स्थान है और उसे हूँदनेका इस ग्रंथ द्वारा प्रयत्न किया गया है, यह सिद्ध किया है।

चौथे परिच्छेदके दूसरे प्रकरणमें सुधारणाके मुख्य मुख्य अंगोंका प्रत्यक्ष प्रयत्न वर्णन कर सुधारणाका अथवा स्वरूप दिखलाया गया है। इस प्रकरणमें वर्तमान परिस्थिति, आधिभौतिक ज्ञात, धर्म और तत्त्व ज्ञानरूप सुधा-

रणके चार अंगोंका और उनके कार्यका स्वतंत्र विवर्णन कराया गया है । फिर तीसरे प्रकरणमें इन चारोंके परस्परमें एक दूसरे पर होनेवाले परिणामोंका वर्णन किया गया है । इस वर्णनमें यह दिखलाया गया है कि वर्तमान-परिस्थिति, सुधारणारूपी अंगमें प्रथमांश करनेके लिये बाला हुआ समाजकी कठेमांशका मूलस्वरूप है । जब यह समाजकी मांश पहल पहले आधि-भौतिक शास्त्र-रूपी चक्रकी गतिमें पहुँचता है तब इसका रूप बहुत कुछ बढ़ जाता है । इसी समय भौतिकशास्त्रोंपर धर्मचक्रका परिणाम होता है जिससे भौतिक-शास्त्रकी गतिका नियमन होता है और भौतिक शास्त्रका धर्मचक्र पर प्रभाव पड़ता है जिससे धार्मिक कल्पनाएँ बढ़ जाती हैं । अन्तमें तत्त्वज्ञानके द्वारा समाजको आखिरका रूप प्राप्त होता है परंतु इस दशाको सब नहीं पहुँच पाते । बोद्धीसी व्यक्तियोंके सिवाय बाँकीपर केवल तीनों चक्रोंका ही परिणाम होता है । इसका स्पष्ट भागमें सार इतना ही है कि साधारण जनसमान धर्मकल्पना तक ही पहुँच पाता है और तत्त्वज्ञान तक केवल विचारवान् और बुद्धिवान् लोगही जा सकते हैं ।

इस प्रकार इस अंगका स्वरूप है । अबतक किये हुए विवेचनका सारांश सूत्ररूपसे इस प्रकार कहा जा सकता है कि "सुधारणाके तत्त्व जाननेका साधन कोई एक शास्त्र न होकर सर्व शास्त्रोंके नियमोंका एकीकृत प्रमाण ही है । और अवास्तविक सामाजिक अर्थनोंको सोढ़कर व्यक्तिको उत्कर्षकी ओर जानेके लिये स्वतंत्रता देना ही सुधारणाका साध्य है । परंतु व्यक्तिको स्वच्छन्द नहीं होने देनेके लिये उस पर समाजकी संकल्पित सदसहिवेक बुद्धिका अथवा नीतिनिर्बंधनोंका प्रभाव रखकर उसे प्रगतिकी ओर खेजाना सुधारणाका मार्ग है । इस मार्गकी गतिका नियमन करनेवाली वर्तमान भौतिक परिस्थिति होती है और उसका अष्ट कर्तव्यकी सहायतासे समीकरण करनेसे मार्गके विक्र दूर हो जाते हैं । सुधारणाके अष्टकअर्थव्यव वर्तमान परिस्थिति, आधिभौतिक शास्त्र, धर्म और तत्त्वज्ञान वे चार हैं । इनके एक दूसरे पर होनेवाले परिणामोंसेही समाजको संस्कृतिकी साध्य स्थिति प्राप्त होती है ।

पाश्चात्य और पौराणिक, स्थूल और सूक्ष्म, व्यावहारिक और तात्त्विक, आधिभौतिक और आधिनीतिक, कर्तव्यपूर्ण और कल्पनामय, ऐसी द्विविध संस्कृतियोंका एकत्र मिलन होकर उसमें दोनोंके गुणोंका मिश्रण और दोनोंका शास होना असाध्य नहीं है । और ऐसा प्रयत्न करनेके लिये पूर्व और

पश्चिमके सभोगके कारण सुखमत्ता भी प्राप्त हो गई है । "Too far West is East" अर्थात् पश्चिमविशाकी ओर अधिक अधिक जानेसे पूर्वी गोल होनेके कारण मनुष्य पूर्वको पहुँच जाता है, यह तत्त्व जिस प्रकार स्पष्ट दृष्टिसे ठीक है वही प्रकार तत्त्व दृष्टिसे भी ठीक है । इसपरसे दोनोंमें तात्त्विक भेद न होकर अवस्था भेद ही है, यह सिद्ध होता है । हमारी अंतःकरणसे भावना है कि यह प्राची प्रतीचीका संयोग एकको कर्त-व्यदक्ष और दूसरेको आत्मदक्ष बनाते हुए दोनों समाजोंको संस्कृतिकी साम्य स्थितिकक पहुँचावे ।

समाप्त ।



सूचीपत्र ।



अतिर्मासिक प्रमाण ४८	ऐरिस्टाटल ११५
अत स्फूर्ति प्रमाण ५६	ऐतरेयोपनिषद् १३३
अद्वैतसंप्रदाय १८७	औरंगजेब १३
अद्वैत सिद्धान्त ८२	कैंट, इम्यानुजल ३१,४०,५१,१४१
अनेकदेवत्व १४५	कणाद ४३
अभिजनसप्त ७,८०,११३,१२५, २११,२१२,२१३	कर्तृवाद १५९
अँडेक्लांडर ८८,८९	कॅरिस्टिया १३७
अशोक ५,९	कमल ऐल्व १३३
आकर्षणतात्व १५४	कॅम्ब्रिज ८६
आफ्टोरुन १३८	कॉट, आगस्त ७०,९१,९२,९३,९८, १११,११४,११८,११९,१२०,१३३, १४२,१४३,१४४, १४८,२५१
आधिर्मासिकशास्त्र २७,	किन्डपूजा ९३,१४६,२६२
आनुवंशिकता २७०	खंडग्रस्त ५
इतिहासशास्त्र ३	अनताधर्म १४०,१४३,२५१,
इन्द्र २००,२३३	जॉनराजा ११,२२८.
इन्दुसनकी उपपत्ति १३५	जिहोष्ठा १७६
ईश्वरका समर्थन १५१, १५५	ज्यूजिजिस सीक्षर १३
उत्क्रातिवाद २४,१३८,१५०,१७१, १५६	जेम्स, विन्डियम ८६
उत्तरमीमासा १८४	उर्नर ६२
उपमान पद्यति १८	डॅलिडा १२३
पद्मवेद - १२९,२००	टिडॉल १७१
एकदेवपूजा १४५	टेनिसन १६३
ऐडम्स ६६,	डेमास्थनिक १३७,२३७
एगर्सन १७,७३	डू बॉय रैमंड ३४

तत्त्वज्ञान १८५, २६५
 तुकाराम २४२
 तैत्तिरीय उपनिषद् १२९
 वरायास १९४
 दर्पणशास्त्र ९८
 दर्शन ४३
 दार्विनी १७४
 देवापि १३२
 धर्मसत्ता ७
 धर्मसत्त्वा २१३
 धर्मसाधन १६५, २६४
 धर्मके परिणाम १९१
 धर्मकल्पनाओंके व्यवस्थातर १७३
 नचिकेता १८४, १८५,
 जोंडों, मॅक्स २५
 नीतिशास्त्र २१३
 नीरो १३, १८२
 नियामक तत्त्व ९०
 निर्वाण १८८
 कॉन्सल
 कारणवाद १५९
 कार्येण ५, १२,
 कार्बोन्हा १२३, १२७
 कार्जाइल ४, ११, ११, १३, १८, १४७,
 १५०, २५४
 कालिदास ६१, ६२,
 काश्यप, अजातशत्रु १३९
 केजर्ब प्रि ३२, १६०, १६१, १६३
 क्रोन्मूक १२९
 कौशीतकी उपनिषद् १३१

कंदोसैं ११४
 कॉम्बेल २३०
 कौटुंब १३८
 काइस्ट, वीशू ११, १३, १३, १६७,
 १८२, २१३
 रिस्तीधर्म, २१३ व्यवस्थातर १८२
 खालिप्या ११३
 गटे ७२
 गॅलिगिओ ५९, २३९
 गार्म्य थालाकी १३१
 गिजो २५२
 गिडिन्ड १२७
 गीतारहस्य १४८
 गुलामी ८, १८२
 गोमिनो, कार्लेट आर्थर १२१
 ग्रामपंचायत पद्धति २०४
 ग्रीन १७
 ग्रीट १७
 प्रोक्लिमस, झूगो २०६
 प्राणव्यनीति २०५
 चातुर्वर्ण्यपद्धति ११३, १२९
 चार्कसराजा, २३० वृद्धरा २३०
 जेपोलिबन १३, ६२, २२७, २३१
 नेल्फील्डकी उपपत्ति १३४
 नेहम्बूर ६२
 न्यूटन ६२
 न्यूमन, कार्लिन ५७, ५९, ६३, ६४, ६६
 परिणामवाद ४३
 परिस्थितिका समीकरण १०२
 पञ्चमसत्ता ८

पेंडिसिअन १३३, १३७
 पेंड्रिया पोटेस्ट्याम् १३७
 पूर्वमीमासा १८४
 प्रतापसिंह १३
 प्रतिविम्बतल १७७
 प्रवाहन बैवाली १३१
 प्रीटर २३१
 प्लेटार्के १३६
 प्लेविअन १३७
 फेंडि ६९
 फॉयदर्विक १४३
 फॉन्वेयर २४
 फिन्डे १००
 फिन्डे १४१
 फेजरर्वेक्स १११
 फ्रेंच राज्यक्रान्ति २३०
 फ्यूडल सिस्टम २५२
 बकलची उपपत्ति २५३
 बर्क, एडमंड १०८, २०६, २४६
 बकसत्ता ७
 बॅरुडकी पद्धति ९१
 बार्फे, अर्नेस्ट १६
 बायबल १४८
 बिशे १२३
 बुस्नेर, ज्युबिलिज ३६, ४४,
 बुद गौतम ५१, १६७, १६९,
 बुद्धिप्रामाण्य १६९
 बुद्धराम्यकोपनिषद् १३०, १४२, १९१
 बेन, अँकेलाडर ५०
 बेकन, छार्ज १९

बोदी, ऑन २०५
 बोर्सेकेट, वनोडे १९७
 बौद्धधर्म १८९
 ब्रौसस, द १४४, १४५
 अणवद्गीता ४४, ६३, ६४, १४७,
 १४९, १६३
 भवभूति १८, २०२
 भावनावाद १६९
 भूगर्भशास्त्र ९७
 भूमिकात्रम १४९
 भूबोधघन ५९, १५५
 भौतिकशास्त्र २७, ११४, २६१
 मज्झसूत्ति १३१ २०२, २०३,-
 मनोभावना २१२
 मुहम्मद १, ११, १३,
 महाभारत २०४
 महाबानपंच १६८
 मैक्सपाव्हेली २०५
 मैक्सवुलर ४२, १२९, १४७, १५१
 मैसिडोनिया १२५५
 माण्यसंप्रदाय १८६
 मानसशास्त्र ७६, ८२
 मानवजातिविभेदशास्त्र ११२
 मोटिल्यु २०६
 मोम्लन ६२
 मोर्टिनो ८८
 विष्णु पुराण १६४
 म्युंटे ४०, ५५
 म्युनिनि १६३
 म्युंतेन्बिया १२३

शतपथ ब्राह्मण १३१
 डॉलेंट कोर्दे १३,
 डिर्कंदर वादघाह ५
 डिफ ४९
 शिवाजी महाराज ११, २१३
 शोमिजाय् १२४
 शेक्सपीयर ६२, २३६
 शेले ३, ५१
 शंकराचार्य १५७, १८७
 श्रीकृष्ण भगवान् ११
 श्वेतेक १५
 श्लोयरमेकर १४१,
 श्वेतकेतु आरुणैय १३१
 सरकार, विनयकुमार २३
 सम्राज्यरचना १०९, ११०
 सम्राज्यशास्त्र ८०
 समाजहितवादी पक्ष १८३, २११, २३९
 समीकरण (परिस्थितिका) १०९
 समीकरण तत्त्व ७६, १७८, १८९, २६२
 सलोकता १८६
 साम्यमीमासा ७७
 सिसिऑन १२५
 सिसरो २०४, २३७
 सेनात १२६, १३७, १३७
 स्थापितशास्त्र १०२
 स्पार्टा १३८
 स्पेन्सर, हर्बर्ट १६, २४, २१, ५१, १५,
 १११, १६१, १७२, २५६, २५७
 मित्र, जान्स्ट्रुमट ५१, ११०, १११
 मित्र, जेम्स ८९

मेकोले १७, ५१९
 मोले, कोर्दे १९८
 म्युलेटी १३९
 नाटक १३२
 नाट्यवस्तु १३१, १९१, २०२
 योगवासिष्ठ १४८
 रविबर्मा ६२
 राजसत्ता धर्मियंत्रित ८०, १९६
 ,, मर्यादित १९६, २१३
 राजनीतिशास्त्र १०
 राजकारण (व्यावहारिक शास्त्र) शास्त्र १०
 रमायण १८७-पद्यति ४४
 रिस्के, सर हर्बर्ट १३५, १३६,
 रुसो, जीन २०८, २०९, २१०
 रॉब्सपीयर २३७
 लम्बेरेयर ६६
 लॉक बॉन्ट ५१, २०६, २०९
 लाइवलीब्ड १७०
 लॉन्, सर जोकिन्हूर ३५, ४७, १७९
 लिब ५०
 लोकसत्ता २९२
 वक्तृत्व २३५
 बेंट, जेम्स २२, २८
 बर्बेस्वर्थ १६३
 वाजसनेयीसंहिता १२९, १३०
 वॉर्ड, हेस्टर १११,
 वासिष्ठन जोर्जे ६२, २१३
 विश्ववाद ४८
 सृष्टिपूजा ६३
 स्वरूपवाद १५९

पुस्तके ११, १७

दार्शनिक ६६,

हैनिबोल १२

हैल व होम १२३

हिंदू लोग १५५

हीनयानपर्यय १६८

होगेळ ३, २५७

होग, ओं १२९, १३३

होल्म २०६, २०९

होल्डे, होर्टे ३९



शुद्धाशुद्धि पत्र-

—:0:— .

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५ वि. प.	१०	उसके	उसके लिए
७ "	३	व्यक्ति	व्यक्तिके
११	३	निश्चित	निश्चित नहीं
१६	२७	Hegels	Schlegel's
१९	२८	यह	"
३१	१६	स्पष्ट	सुष्ट
३६	१७	मे	है
५१	२५	शब्दके शुद्धाशुद्धके	शब्दकी शुद्धाशुद्धिके
"	२७	मछेबुरे	मछे बुरेपन
५९	१२	आश्रय	आश्रय न
६०	८	ही तत्व	हीनत्व
६२	१९	भवमूर्ति	कालिदास
७०	४	Indnction	Induction
७२	६	एक	उस
७३	१३	वे	वे एक
"	२५	(Great,	महान् (Great,
८०	१९	फिर चारे	—फिर चाहे
९६	१३	आकर्षण	अपकर्षण
१०३	१८	शर्तोंकी	शर्तोंके लिए
१०५	१६	नियत कर	नियत कर देते हैं ।
११०	२५	अतरंग	अतर
१२०	१०	जाति वर्ग	जाति व वर्गकी
१३८	१२	इनमें	इनमें आपसमें
१४६	१०	अरती	अहरती

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४८	२१	रुपै	रुपये
१४९	४	"	"
१५२	१६	उसकी	उनकी
१५३	१६	मानी जाती है	मानता है
१६०	२३	अपरिहार्यकी	अपरिहार्य
१६८	१९	हीनमान	हीनमान
१६९	४	आदर पूर्व	आदर पूर्वक
१७०	६	समानाधिकरणसे	समानाधिकरणसे युक्त
१७५	२०	प्रताप	प्रपात
१८७	१२	पीटरर	पीठपर
१९८	४	प्राणी छष्टिके लिए	प्राणी छष्टिकी विशेषताएं
२१३	१	अगर	और
२२१	२८	शोरुये	शोरुये
२२४	११	चंभार	चम्हार
२४३	२	यद्यपि	यद्यपि
२४६	१०	गवं	गवं
२४७	४	यर	उमके



श्रीमान् झाझाबाइ नरेश द्वारा संरक्षित
श्री राजपूताना हिन्दी-साहित्य सभाका
हिन्दी प्रेमियोंसे निवेदन !

जहाँ नहीं साहित्य नहीं आदर्श वहाँ है,
जहाँ नहीं आदर्श वहाँ उत्कर्ष वहाँ है।

वास्तवमें साहित्य देशका प्राण है, उसका जीवन है और उसके अस्तित्वको कायम रखनेका प्रधान स्तम्भ है। प्रत्येक देशकी उन्नति और अवनतिका सारा दारोमदार साहित्य पर है। आप देखते हैं कि जिस देशने तरकी की है, जो जाति ऊपरको उठी है, वह सब साहित्यके बल पर हुआ है। प्रमाणस्वरूप पाश्चात्य देशोंको एक सिरेसे दूसरे सिरे तक देख जाइये। आप देखेंगे कि भारतकी अवनतिका प्रधान कारण साहित्यकी अवनति है। जो भारत सारी दुनियाँका साहित्य-विरोधमि था, जिसमें अशोक, चन्द्रगुप्त, विक्रम, और भोज जैसे विद्या-रसिक भूपाळ हुए, जो व्यास, वाल्मीकि, सूर, तुलसी, भूषण, बन्द, कपिल, कणाद, कालिदास, दण्डी, श्रीहर्ष, जिनसेन, उमास्वामी और बाँकर जैसे महारथियोंका जनक रहा, अफसोस ! आज वही भारत अवनतिके गहरे गर्तमें गिरा जा रहा है। मगर, सब पूछिये तो इसके उन्नत होनेका समय अभी आया है। स्वर्गीय महात्मा लिखकका कहना है कि यदि किसी राष्ट्रके मार्गमें कठिनाइयों नहीं आवे, तो वह कदापि उन्नत नहीं हो सकता। अब कोई देश नहीं हिन्दोरोसे हिंजने लगता है, अब कोई विजातीय सभ्यता उसकी प्राचीन सभ्यता और साहित्यसे टकराकर अपना अधिकार जमाना चाहती है, तभी देशमें प्रतिभावाली आदर्श साहित्य-रपी अन्न लेकर अपने अपने राष्ट्रकर्मों और साहित्यकी रक्षा करते हैं। ठीक यही अवस्था

भारतकी राष्ट्रभाषा और ३० करोड़

हिन्दियोंकी मातृभाषा हिन्दी,

की समझिये। अब तक माता पर बहुत प्रहार होते रहे

पत्र-पत्रिकाओं और ग्रन्थालयोंका प्रकाशन, अनेक हिन्दी साहित्य प्रचारक संस्थाओंका स्थापन, और मुजान केंद्रोंकी केन्द्रीका समन्वय बतला रहा है कि हिन्दीका साहित्य श्रीप्रही सर्वाङ्ग पूर्ण होगा। यह बड़े हर्षकी बात है। मगर फिर भी इसके प्रचार मार्गमें बड़े बड़े रोड़े अटकाने जा रहे हैं—साहित्यके नाम पर कूड़ा कर्कट इकट्ठा किया जा रहा है और वास्तव साहित्य-रुचि कुछ होती नहीं, यह बड़ अन्ध नहीं है। अस्तु इन्हीं सब बातोंको मदे नजर रखकर झांकावाले हिन्दी-प्रेमी नरेश महाराजराणा सर भी भवानीसिंहजी साहब महापुर के सी एच. आई की सरअतामें—

श्री राजपूताना हिन्दी-साहित्य सभा

की स्थापना हुई है। राजपूतानेकी यह एक ही साहित्यिक संस्था है। इसके प्रधान उद्देश हैं—हिन्दी भाषाकी हर तरहसे उन्नति करना, और हिन्दी भाषामें व्यापार, वाणिज्य, समाजनीति, पुरातत्त्व, साहित्य, इतिहास, उपन्यास आदि विभिन्न विषयों पर अच्छे अच्छे ग्रन्थ प्रकाशित करना और सस्ते मूल्य पर बेचना। इसके लिये १) प्रवेश की केन्द्र स्थाई ग्राहक बनाये जाते हैं, और उनको सभाकी प्रकाशित पुस्तकें पौने मूल्यमें दी जाती है। बी. पी. खर्चा उन्हींके खिम्मे रहता है। इसके सिवा ५००) देनेवाले 'स्थाई सभ्य,' १००) देनेवाले 'बीचन सभ्य' और ६) वार्षिक देनेवाले 'साधारणसभ्य' समझे जाते हैं। इस समय इन स्थाई ग्राहकोंकी विशेष जरूरत है। केवल अफसोस है कि सभामें इनकी सन्तोषजनक संख्या आज तक नहीं हुई है। जो सभा विराट आयोजनके साथ हिन्दीके साहित्यक्षेत्रमें उतरी है, जो सोते हुए राज-पूताने हीको जगा देनेके लिये नहीं, बल्कि १० करोड़ हिन्दुस्थानियोंमें हिन्दीका प्रेम उत्पन्न करने और उनमें नया जीवन फूँकनेके लिये काममें हुई है, उसके सिर्फ ३० स्थाई ग्राहक ! और जिसमें भी राजपूतानेके सिर्फ तीन ! बड़ी कच्चाकी बात है। अब आप खयाल कर सकते हैं कि जब स्थाई ग्राहकोंकी यह हालत है, तो बताइये सभा कैसे काम करके बतावे ? प्रकृत तो यह उदया जा रहा है और हमारी भी थिकी स्वाहिस है कि पढ़ाई का माध्यम हिन्दीमें हो, मगर जिन हिंदी भाषियोंमें हिंदी प्रचारकी बड़ी गारी आवश्यकता है और जिनमें यह सभा हिंदीका प्रचार करना चाहती है, उनकी तरफसे ऐसी उदासीनता हो तो किसके बज्जर यह अपने उद्देशको पूरा करे ? काम एकका नहीं

है—समस्त भारतीयोंका है। सभा आपकी है, किसी व्यक्ति विशेषकी नहीं।
आइये मिलकर काम कीजिये-हमारा हाथ बँटाइये। सिर्फ—

आठ आने जमा करा कर

स्वाई ग्राहक बनना तो आपके लिये कोई बड़ी बात नहीं है। आप बन सकते हैं, और अपने इष्ट मित्रोंको भी बना सकते हैं। सभा भविष्यमें बड़े बड़े काम करके दिखाना चाहती है। यदि इसको १००० एक हजार भी स्वाई ग्राहक मिल गये, तो ऐसा काम—जो आज तक हिन्दीमें नहीं हुआ, यह करके बता देगी। पर आपकी सहभागिताके बिना कुछ नहीं होनेका। इसका भविष्य आपके हाथमें है। यदि आपको इसका जीवन सफल बनाना है, यदि आपको हिन्दी माताकी सेवा करके मातृभ्रमसे उन्मुक्त होना है, यदि आपको पाश्चात्य ढेकाके सामने जैसा मस्तक रखना है, यदि आपको उचित स्वाधीनतापूर्वक जीवन व्यतीत करना है, यदि आपको अपने पूर्वजोंकी कीर्ति उज्ज्वल बनाना है, और यदि आप चाहते हैं कि हम, हमारी स्त्रियों, हमारी कन्याएँ, हमारे बालक, आदर्श रूप होकर समारमें जीवन सफल कर सकें, तो उठ बैठिये और इस सभाके सभासद नही, तो स्वाई ग्राहक तो जरूर बन जानेकी कृपा कीजिये।

आपको उत्तमोत्तम साहित्य पर बैठे मिलेगा, आप उन्नत होंगे, फिर आपका यह उन्नत होगा और जो प्रत्येक युवकके उन्नत होनेसे भारत वातकी बातमें उन्नत हो जावगा। और फिर हम आप एक नयेही शान्तिदायी युगमें विचरण करेंगे। एवमस्तु।

सभाकी प्रकाशित पुस्तकें ।



१ सरस्वतीचन्द्र ।

यह वही गुजरातीके प्रसिद्ध उपन्यास-सम्राट्का अनुवाद है जिसकी जोड़का उपन्यास आजतक किसी भी देशभाषामें नहीं निकला है। इसे केवल बटना-बैचिब्यका खजाना कहना मारी मूल होगी। बल्कि—आज कौनसी नीति है, कौनसा आदर्श है, कौनसा गुण है, कौनसी सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म भावना है, जो इसमें न आगई हो। कहना बस इतनाही है कि जिसने इस उपन्यासको नहीं पढा, उसने मानों कुछ नहीं पढा। मूल्य १।।।) सजित्का २।) पुस्तक अमी छपकर आई है।

२ राईका पर्वत ।

मूल लेखक गुजरातीके साक्षर श्रीरमणभाई महीपतिराम नीलकंठ । माया-न्तर कर्ता 'काम्यालंकार' पं गिरिधर शर्माजी नवरत्न । इस अपूर्व नाटकमें चरित्रकी उन्नता, स्वार्थ-त्यागका आदर्श और अनेक नीतियाँ इतनी खूबीसे ऐसी सूक्ष्म कल्पनाओं द्वारा लिखलाई हैं कि एकाएक दातोंतले अंगुली दबानी पडती है। प्रत्येक समाजके श्रीपुरुषोंको यह पुस्तक अवश्य पढ़नी चाहिए। पुस्तक हाल हीमें छपकर तैयार हुई है। मूल्य सादीका १।।।) सजित्का २।)

३ जयाजयन्त ।

के० गुजरातीके प्रसिद्ध नाटककार पं. नान्हालाल दलपतराम कवि । अनुवादक 'काम्यालंकार' पं. गिरिधरशर्माजी नवरत्न । छपाई सफाई सुन्दर। मूल्य सादीका १।) सजित्का १।।) स्वर्गीय भावोंका भंडार और भावुकोंका प्राण यह अपूर्व नाटक गुजरातमें इतना प्रसिद्ध है कि सारी गुजराती जनता इसकी स्वर्गीय भावनाओंपर जी-जानसे लड़ू है। कर्मनिष्ठा, आचारनिष्ठा, निःस्वार्थप्रेम, वैश्विक ब्रह्मचर्य और आत्मसत्त्वका इसमें ऐसा आदर्श और उच्च भावनाओंसे भरा-खाका खीना गया है कि कविकी अलौकिक कल्पप्रतिभा, समुच्च भावपूर्ण कृति, वर्णनशैलीकी पद्धता और कल्पना-कौशलके चमत्कारपर दातों तले अंगुली दबानी पडती है। चरित्र-निर्माणके लिये यह बहुत ही आदर्श पुस्तक

हैं। जिस कविकी प्रतिभापर महात्मा गांधीजी तक मोहित है और जिनके वचनोंको नवजीवनमें स्वयम् प्रकाशित करते थे उसी का रवीन्द्रनाथ टागोरकी उभयसे उच्च कल्पनाओंसे भी उच्च विहार करनेवाले कवि नान्दालालकी यह अपूर्व कृति है। यदि आपको जीवनका आनन्द लेना है, सद्भावोंका विकास करना है और साहित्यकी उन्नतिमें हमारा हाथ बँटाना है, तो इस हिन्दी अनुवादको अवश्य पढ़िये।

“ प्रताप, ” “ कर्मवीर ” आदि पत्रोंने इसकी मुक्त कंठसे प्रशंसा की है। “ विजय ” की सक्षिप्त राय छुनिये।

... .. जयाजयन्तका चरित्र कथा है, हमारे प्राचीन आदर्श, समाज-संगठन, चरित्रनिर्माण, सदाचार, ब्रह्मचर्य, पवित्रप्रेम, स्नेहलभ, आत्मलभ और उज्ज्वल चरित्रकी प्रति-मूर्ति है।—“ विजय ”

व्यावहारिक-विज्ञान ।

(ले०—कृष्ण गोपाल माधुर)

आज कौनसा ऐसा काम है, जो विज्ञानके अज्ञानके बिना चल जाता हो। खाने, पीने, सोने, बैठने, चलने, फिरने, आदि प्रत्येक काममें विज्ञानकी अस्तरत पड़ती है। किन्तुहल हमारे लिये ऐसीही विज्ञान उपयोगी होगी, जो व्यावहारिक हो। ऐसे विज्ञानका ज्ञाताही भविष्यमें नवीन तत्त्वोंका आविष्कर्ता हो जाता है। इस पुस्तकके मित्र मित्र निबन्धोंमें व्यावहारिक और उपयोगी विज्ञानको ऐसी सरल, रोचक भाषामें समझाया है कि प्रत्येक बात आसानीसे समझमें आ जाती है। हिन्दीमें अपने ढंगकी यह एकही पुस्तक है। बड़े बड़े विज्ञान-विचारकोंके आविष्कारों, क्लेशों, मन्थों और मोठोंसे इसके लिखनेमें सहायता ली गई है। छपाई, सफाई, सुन्दर, बढिया कागज, ४४ पृष्ठ संख्या २०३, मूल्य २० पत्रोंसे झुकोसित पन्नी शिष्टका २) सादीका १।८८ कई पत्रोंने इसकी मुफकंठसे प्रशंसा की है। उनमेंसे कुछ पत्रोंकी सक्षिप्त राय यहाँ दी जाती है।

.....पुस्तकके कुछ अध्याय बड़े रोचक और उपयोगी हैं, “ विज्ञान ”

.....यह निबन्ध बहुत ही स्पष्ट, सरल और कामप्रद है। हमने स्वयम् इन निबन्धोंको पढ़कर बहुतसी उपयोगी बातें जानी हैं। स्थान स्थान पर चित्र देकर विषय और भी स्पष्ट कर दिया है।.....विज्ञानसे अनभिन्न व्यक्ति की इस पुस्तककी बातोंको अच्छी तरह समझ सजता है। ..धर्मोन्मुद्ये !”

.....वैसे तो सभी विषयके लेख बढिया है, किन्तु ताबके रसकी खाब, जीवका जन्म और आकृतिके साथ प्रकृतिका सम्बन्ध ज्योतिर्विज्ञानमें फोटोग्राफी आदि लेख बढे भाकेके हुए है ।.. ..“ हिन्दी चित्रमय जगत् ”

There being very few works in Hindi for popularising scientific literature, this book though compiled from Bengali and Gujarati sources will be quite welcome to the general readers. All the 19 topics are very well chosen and well written—“*The Modern Review*”

५ पार्लमेन्ट ।

ले.—बाबू सुपार्शदासजी गुप्त बी. ए. पृष्ठ संख्या २७५ छपाई सन् १९३६—
आला दक्की, मूल्य सादोका ॥१०) सजिल्द १०) जिस पार्लमेन्टके शासनमें हम रहते हैं, जिसके इञ्चोरपर हमारे बनने और बिगड़नेका सारा दोरामदार है, वह ब्रिटिश पार्लमेन्ट है क्या चीज ? क्या आप इसको नहीं जानना चाहते ? हमारे दयालसे प्रत्येक स्वामिमानी व्यक्ति इससे परिचित होनेकी इच्छा करेगा । इस पुस्तकमें ब्रिटिश पार्लमेन्टका आदिसे अत तकका इतिहास, कमविकास, शासन पद्धति, उसके गुण दोष, और अन्य देशोंकी ऐसी ही समानोंसे तुलना आदि कई उपयोगी बातोंका बडीही रोचकतासे खूब विस्तारके साथ निरूपण किया गया है । हिन्दी सरसरमें इस निराली पुस्तकने एक बल मचादी है । बोधी प्रतियों रह गई हैं, मंगानेकी बल्दी कीजिये । भारतीय स्वराज्यके प्रेमी सब-नोंको इसमें वे बातें मिलेंगी जिनका मूल्य ही नहीं हो सकता ।

कुछ सम्मतियों:—

.हिन्दीमें यह पुस्तक बिल्कुल ही नई है, और बडे सहत्वकी है ।

—सरस्वती,

.....पार्लमेन्टकायह कमविकासका इतिहास बडा ही मनोरंजक और शिक्षाप्रद है...इसको जानना भारतवासियोंका कर्तव्य है ।
“ हिन्दी समाचार ”

This book gives a constitutional history of Parliament and it will be certainly very useful to students of History readers and of newspapers as also to others —“ *The modern Review* ”

६ सर्बियाका इतिहास ।

लेखक—विभिन्न भाषाओंके ज्ञाता महाराज राणा सर श्रीभवानीसिंहजी सादब बहादुरके सी० एस्० आई० स्नातकावधि के प्रवाहितैपी नरेण । छपाई सफाई सुन्दर मू० १-) इस ७९ सफेकी सचित्र पुस्तकमे महाराजने सर्बियाका ज्ञातम्य इतिहास इस खलीसे लिखा है कि योरोपीय महायुद्धका रहस्यमय कारण और योरपकी ऐतिहासिक झगड आरोंके सामने आ आते हैं । जिस योरोपीय महायुद्धने सारे सत्तारकी अमान्तिमें परिणत कर दिया और जिसका फल क्रमसे कम भारत तो बर्षोंतक भोगता रहेगा, क्या उसके आरम्भका रोचक इतान्त आप नहीं पढ़ेंगे ? अवश्य पढ़ेंगे । इस पुस्तककी कई पत्रोंने मुककंठसे प्रशंसा की है ।

..... इसके इतिहाससे बहुतसी बातें सीमी जा सकती हैं । उनमेंसे प्रधान बात यह है कि वीरजाति मौका मिलते ही अपनी खोई हुई मानमर्पादाकी फिर अवश्य ही प्राप्त कर सकती है !..... "सरस्वती"

७ श्री चरित्र-संगठन ।

के०—बाबू दयाचन्दजी गोयलीय, बी ए । सुन्दर छपाई, रोचक भाषा । १११ पृष्ठ, मूल्य सादीका ॥ सजिल्दका ॥७) जिन आदर्श नारिणोंने सभे नर-रत्नोंको प्रसवकर भारतको सब देशोंका सिरताज बनाया था, उनकी आज तथा देशकर भारत दो दो आसू बहा रहा है । श्रीशिक्षाकी आवश्यकता यद्यपि अधिकांश विचारशीलोंने समझ ली है, पर शिक्षा होनी कैसे चाहिये, उनको सीता, सावित्री जैसी आदर्श और चरित्रमयान सतियों बनाई कैसे जानी चाहिये, और खास तौरपर गृहलक्ष्मीका पद उनको कैसे सार्थक करना चाहिये इन बातोंके जाननेकी बड़ी भारी जरूरत है । इस पुस्तकमें इन बातोंके मूल-चरित्र-निर्माणकी रीतियाँ बहुत ही अच्छे ढंगसे बताई हैं । कन्याओंसे लेकर-सदाश्रीतकके हाथोंमें यह पुस्तक जानी चाहिये । हिन्दीके नामी १ पत्रोंने इसकी मुककंठसे प्रशंसा की है ।

..... इस पुस्तकमे वर्णित उपादानोंसे जिस मानवशास्त्रिनी जीका चरित्र-संगठित होगा वह सबसुख आदर्श ली होगी.. .. "हिन्दी केसरी"

सभाकी अन्य पुस्तकें ।

(डे०—“ काव्यालंकार ” पं० गिरिधरसह्याजी ‘ नवरत्न ’)

(जिनकी प्रशंसा प्रायः समस्त पत्रोंने मुक्तकंठसे की है)

१ शुश्रूषा ।

ड०—डा० गोपाल रामचन्द्र ताम्बे, M. A., B Sc, L M & S. मृतपूर्व स्टेट सर्जन इन्दोर । इसकी भूमिका प्रसिद्ध डा० सर राबर्ट महोदयने लिखी है । इसीसे अदावा लगाया जा सकता है कि रोगी-परिचर्याकी यह कितनी उत्तम पुस्तक होगी । मूल्य १)

२ अर्थशास्त्र ।

संसारमें मनुष्य कौड़ीके बिना “ तीनकौड़ी ” का है । यदि कौड़ीके अर्थसे परिचय करना है तो अर्थशास्त्र पढ़िये । मूल पुस्तक अजमेरके राजकुमार कालेजमें पढाई जाती है । इसीसे इसकी उत्तमताका अनुमान हो सकता है । मूल्य सादी-का १।) सजिल्दका १।।)

३ कठिनाईमें विद्याभ्यास ।

अंग्रेजीमें इस पुस्तककी लाखों प्रतियाँ बिक चुकी हैं । बड़ी बड़ी कठिनाइयोंके रहते भी, जिनके हृदयमें विद्याके प्रति भक्ति होती है, वे किस तरह विद्वान बन जाते हैं, यह बात इस पुस्तकके ऐतिहासिक उदाहरणोंसे मजबूती मिलती जाती है । पुस्तकका दूसरा संस्करण प्रेसमें छप रहा है ।

४ पंच-स्तुति ।

हिन्दुओंके लिये पञ्चदेवोंकी बोल बालकी हिन्दीमें अपूर्व स्तुति । ऐसी स्तुति आजतक हिन्दीमें नहीं छपी है । मूल्य सादी ।) राज संस्करण ॥) ।

इनके सिवा ‘ नीति-प्रवेक्ष ’ पुस्तक सभाके पास लिखी हुई तैयार है । यह भी मराठीमें सुप्रसिद्ध पुस्तक है । पुस्तक चीत्र ही प्रेसमें जानेवाली है । नीति-विषयकी यह भी हिन्दीमें एकही पुस्तक होगी । अभीसे ग्राहकभेषीने नाम